लिपि

(दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक :

डॉ० ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज'

एम० ए०; पी-एच० डी०
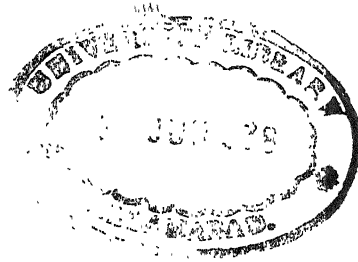
सूर्य - प्रकाशन,

नई सड़क, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक : सूर्य-प्रकाशन,
नई सड़क, दिल्ली-६
संस्करण : प्रथम, १९७८
मूल्य : ६०.००
मुद्रक : सतीश कंपोजिंग एजेंसी द्वारा
विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा-दिल्ली-३२

समर्पण

भट्टिप्रोलु-स्तूप के उस अज्ञात लिपिविज्ञानी को, जिसके आविष्कार को हमने अपनाया होता, तो आज अनेक लैपिक समस्याएँ हमारे मार्ग में बाधा उत्पन्न न करतीं।

—लेखक

भाषा को अंकित करने का प्रयास लिपि-विषयक चिंतन के बिना सम्भव नहीं। अतः मानव के लैपिक चिंतन का इतिहास उस समय से प्रारम्भ होता है, जब से उसने अपनी आश्रयदात्री कंदरा की भित्ति पर पत्थर से रेखा खींचकर प्रथम अंकित प्रस्तुत किया। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक लिपियाँ बनीं और मानव-जाति के कार्य-कलापों का लेखा-जोखा पत्थर, धातु आदि के पृष्ठों पर अंकित होता रहा। पिछले तीन सौ वर्षों में उन प्राचीन लेखों को पढ़ने और उनके सहारे विस्मृत इतिहास की कड़ियाँ जोड़ने के प्रयत्न हुए। प्राचीन लिपियों का शास्त्र **'पुरालिपि शास्त्र'** (पेलियोग्राफ़ी) नाम से स्थापित हुआ।

भारत में इस दिशा में प्रथम प्रयास यूरोपीय विद्वानों ने किए, किंतु शीघ्र ही भारतीय विद्वानों ने भी उनके साथ कार्य करना प्रारम्भ किया। हंटर, कनिंघम, बर्नेल, प्रिंसेप, वेबर, फ्लीट, बूलर इत्यादि अनेक यूरोपीय विद्वानों एवं राखालदास बनर्जी, गौ० ही० ओझा, राजबली पांडे, सुनीतिकुनार चट्टोपाध्याय, फतेहसिंह, शंकरानंद, शिवशंकर प्रसाद वर्मा इत्यादि भारतीय विद्वानों ने भारतीय पुरालिपिशास्त्र की विविध शाखाओं पर महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

भारतीय पुरालिपिशास्त्रियों ने भारत की अन्य लिपियों के साथ नागरी लिपि पर भी अपने विचार प्रस्तुत किए। जी० बूलर, गौ० ही० ओझा तथा सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय ने अपने-अपने विशिष्ट दृष्टिकोण प्रस्तुत कर नागरी लिपि के कुल एवं उसके इतिहास के विशेष मोड़ गिनाने के प्रयास किए। इस संदर्भ में पुराने बिखरे विचारों को तर्कपूर्ण एवं व्यवस्थित संकलन के रूप में डॉ० अहमद हसन दानी ने प्रस्तुत किया तथा नागरी विषयक विचारों को डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा ने।

सिंधु लिपि के उद्‌घाटन से भारतीय लिपियों के इतिहास पर पुर्नविचार आवश्यक हो गया। अनेक विद्वानों की सिंधु लिपि को पढ़ लेने की घोषणाओं ने अनेक भ्रांतियाँ उत्पन्न कर दीं।

लिपियों के इतिहास का अध्ययन जिस क्रम से हुआ, उसे ध्यान में रखते हुए पूर्ववर्ती विद्वानों के प्रयास की सराहना करते हुए भी प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक को ऐसा महसूस होता रहा है कि लिपि-विषयक सैद्धांतिक चिंतन किन्हीं ठोस नियमों पर आधारित नहीं रहा है। कुछ स्थितियों में तो नागरी के प्रति मोह ने उसके वैज्ञानिक विश्लेषण में बाधा भी उत्पन्न की है। अतः **प्रस्तुत प्रबंध में सिद्धांतों की ठोस भूमि का निर्माण करके उसके आधार पर परीक्षण किया गया है।**

प्रस्तुत प्रबन्ध **'नागरी लिपि का उद्‌भव और विकास'**, तीन खंडों और चौदह अध्यायों में विभाजित है।

प्रथम खंड में तीन अध्याय हैं: (१) लिपि विज्ञान में प्रस्तुत विषय, (२) विश्व में लेख लिपि का उद्‌भव और प्रसार तथा (३) भारतीय लिपियों का मूल स्रोत। ये तीनों अध्याय मिलकर विषय-प्रवेश का कार्य करते हैं। इनमें **लिपिविज्ञान एवं पुरालिपि-शास्त्र-संबंधी** उन सामान्य सिद्धांतों का परिचय दिया गया है, जिनके अभाव

में मूल विषय का चिंतन अपूर्ण एवं निष्कर्षहीन रह जाता। प्रस्तुत विषय के संदर्भ में प्रथम खंड के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस खंड का शोधपरक महत्त्व सिंधु लिपि को भारतीय लिपियों का मूल सिद्ध करने में भी है।

द्वितीय खंड में ४ से १० तक सात अध्याय हैं। इनमें नागरी लिपि का उद्भव-काल सिद्ध किया गया है। अध्याय—४ 'भारतीय लिपियों का इतिहास' में लिपि-विकास-विषयक सिद्धांतों की स्थापना की गई है। यह अध्याय इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि **इसमें पहली बार भारतीय लिपियों के समूचे इतिहास को प्रवृत्तियों के आधार पर काल-खंडों में विभाजित किया गया है।** 'ब्राह्मी लिपि' शीर्षक पाँचवें अध्याय में इसी का क्रियात्मक परीक्षण प्रस्तुत किया गया है। अध्याय—६ 'ब्राह्मी की शाखाएँ' सैद्धांतिक विश्लेषण पर आधारित है तो क्रमशः 'संतुलित ब्राह्मी' और 'अलंकृत लिपि' नामक सातवाँ और आठवाँ अध्याय उन्हीं सिद्धांतों के क्रियात्मक परीक्षण हैं। इसी प्रकार अध्याय—९ 'उद्भवकाल की अनुसंधान-विधि' में उद्भव-काल स्थिर करने के सिद्धांत दिए गए हैं और 'संक्रांतिकालीन लिपियाँ और नागरी का उद्भव-काल' शीर्षक दसवाँ अध्याय उसी का क्रियात्मक रूप प्रस्तुत करता है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, द्वितीय खंड में नागरी का उद्भव-काल सिद्ध करने के लिए लैपिविज्ञानिक सिद्धांतों की स्थापना तथा उनके आधार पर परीक्षण करने की विधि अपनाई गई है। यह विधि अब तक के पुरालिपि-शास्त्रियों के विचारों से जहाँ भिन्न है, वहाँ **पहली बार ऐसे ठोस नियमों को प्रस्तुत करने का प्रयास भी है, जिनके आधार पर यह सम्भव हो सका है कि वैयक्तिक धारणा से मुक्त होकर सैद्धांतिक आधार पर निष्कर्ष निकाले जा सकें।** ये नियम मात्र नागरी ही नहीं, अपितु संसार की किसी भी लिपि के काल-निर्धारण में सहायक हो सकते हैं।

तृतीय खंड में ११ से १४ तक चार अध्याय हैं। ११वें अध्याय 'नागरी लिपि का उद्भव : उपलब्धियाँ' में तृतीय खंड के अध्ययन का सैद्धांतिक आधार प्रस्तुत किया गया है। 'स्थैर्यकाल में नागरी का विकास' नामक बारहवाँ अध्याय लेख-लिपि के रूप में नागरी के विकास का क्रियात्मक विवरण प्रस्तुत करता है, तो अध्याय — १३ 'नागरी का यंत्र लिपि के रूप में विकास' अध्याय—१२ का पूरक भी है और उसके उत्तर की कड़ी भी। नागरी में हुए अब तक के सुधारों में कमी रह जाने का मूल कारण 'यंत्र लिपि' के रूप में लिपि की पूर्ण आवश्यकताओं को स्पष्ट न करना ही था। इस अध्याय में यंत्र-लिपि की सैद्धांतिक आवश्यकताओं को निश्चित करके उनके आधार पर नागरी का परीक्षण किया गया है। अध्याय—१४ 'वर्तमान नागरी का लैपिविज्ञानिक मूल्यांकन' सुधार के नए कार्यक्रमों के लिए वैज्ञानिक आधार प्रदान करना है। इस अध्याय में **अच्छी लिपि के पन्द्रह निकष** स्थिर किए गए हैं जो लिपि परीक्षण के ठोस आधार कहे जा सकते हैं। इस प्रकार तृतीय खंड न केवल नागरी के वर्तमान काल तक के विकास का इतिहास वरन् नागरी के भावी रूप के संकेत भी प्रस्तुत करता है।

उक्त विवरण के आधार पर नागरी लिपि के अध्ययन के इतिहास में प्रस्तुत प्रबन्ध को एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है। **—लेखक**

आभार

प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय-चयन से लेकर प्रस्तुतीकरण तक मुझे अनेक विद्वानों से प्रत्यक्षतः एवं परोक्षतः सहायता प्राप्त होती रही है। उनके प्रति आभार प्रकट करना मेरा नैतिक कर्त्तव्य है।

सर्वप्रथम मैं डॉ० विजयेंद्र स्नातक का आभारी हूँ, जिनकी कृपा से मुझे प्रस्तुत विषय पर कार्य करने की स्वीकृति मिली। डॉ० उदयभानुसिंह भी इस विषय में बहुत सहायक हुए। उनका कृतज्ञ हूँ।

इस प्रबन्ध का निर्देशन आदरणीय डॉ० पूर्णसिंह डबास ने किया। उन्होंने सौहार्द्र एवं कुशलता से मुझे जो प्रेरणा एवं सहायता प्रदान की, उसके बिना यह प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत नहीं हो सकता था। उनका सहज स्नेह मेरे लिए श्रद्धास्पद रहेगा।

डॉ० भोलानाथ तिवारी, रीडर हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, अपने कष्ट का ध्यान न करके मेरे कार्य को स्तरीय एवं पूर्ण बनाने के लिए अपने मूल्यवान् सुझाव देते रहे। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

गंगानाथ झा संस्कृत संस्थान (प्रयाग); हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग); पुरातत्त्व विभाग (दिल्ली); केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय (दिल्ली) इन पुस्तकालयों के अधिकारियों ने प्राचीन पांडुलिपियाँ देखने, उनके चित्र लेने इत्यादि की सुविधाएँ प्रदान कर मेरी सहायता की, मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

श्री अबोधबंधु बहुगुणा ने निचीन प्राचीन पांडुलिपि के अध्ययन, चित्रण आदि की अनुमति देकर तथा श्री सुशीलकुमार भाटिया ने जर्जरित एवं दुष्पठ्य पुरालेखों के चित्र खींचकर मेरे कार्य में जो सहायता की है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। डॉ० सुन्दरलाल कथूरिया ने जिस धैर्य से इस प्रबन्ध के कच्चे-पक्के रूप को सुना, वह मेरा ढाढस बँधाने में सहायक हुआ। मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

शोध-कार्य की पूरी अवधि में सामान्यतः मेरे पूरे परिवार ने और विशेषतः मेरी धर्म-पत्नी श्रीमती राधा रानी ने अनेक असुविधाओं को सहन करके इस शोध-कार्य में जो सहायता दी, उसके बिना इस कार्य का सम्पन्न होना कठिन था।

अन्य अनेक सज्जनों के नाम यहाँ विस्तारभय से नहीं दिए जा रहे, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने जो सहायता की, उसे भूला हूँ। मेरे मन में उनके प्रति भी उतनी ही कृतज्ञता है, जितनी उनके प्रति जिनके नाम यहाँ दिए गए हैं।

डॉ० ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज'
बी-२-बी-३४, जनकपुरी, नई दिल्ली-५८

संक्षेप-सूची

आ० पा० = अष्टाध्यायी (पाणिनि)
आ० डि० बे० लैं० = दी आरिजिन ऐंड डिवेलपमेंट आफ़ बेंगाली लैंग्विज
आ० रा० = दी आर्ट आफ़ राइटिंग (यूनेस्को प्रकाशन)
इं० ऐं० = इंडियन ऐंटिक्वेरी
इं० ऐं० (जे०) = इंडियन ऐंटिक्विटीज़, ऐस्सेज आन (जेम्स प्रिंसेप)
इं० डि० = इंट्रोडक्शन टु दी डिसफरमेंट आफ दी ऐन्श्येंट पिक्टोग्राफ़िक स्क्रिप्ट्स आफ इंडिया
इं० पे० (दा०) = इंडियन पेलियोग्राफी (दानी)
इं० पे० (बू०) = इंडियन पेलियोग्राफी (बूलर)
इं० पे० (रा०) = इंडियन पेलियोग्राफी (राजबली पांडेय)
इं० स्कि० (वे०) = इंडीका स्किज्ज़ाँ (वेबर)
ए० इं० = एपिग्राफिया इंडिका
ए० रि० = एशियाटिक रिसर्चिज़
ए० सा० इं० पे० = एनल्स आफ साउथ इंडियन पेलियोग्राफी
ऐ० (डि०) = दी ऐल्फाबिट (डिरिंजर)
ऐ० भं० रि० इं० = ऐनल्स आफ़ भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट
ऐ० रा० = ऐनल्स आफ़ राजस्थान (मद्रास संस्करण)
का० ऐ० इं० = काइन्स आफ़ ऐन्श्येंट एंडिया
गु० इं० (फ्ली०) = गुप्ता इंस्क्रिप्शंस (फ्लीट)
गु० लि० = गुरुमुखी लिपि दा जनम ते विकाश
ज० ए० सो० = जर्नल आफ़ एशियाटिक सोसाइटी
ज० ए० सो० बं० = जर्नल आफ़ एशियाटिक सोसाइटी आफ़ बंगाल
ज० ब० रा० ए० = जर्नल आफ़ दी बाम्बे ब्रांच आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी
ज० रा० ए० (सो०) = जनरल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी
जि० = जिल्द
ट्रा० रा० ए० सो० = ट्रान्ज़ेक्शन्स आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी
डि० इं० हा० = डिक्शनरी आफ़ इंडियन हाइरोग्लिफ्स
दे० लि० = देवनागरी लिपि (केंद्रीय हिन्दी निदेशालय)
दे० लि० (जो०) = देवनागरी लिपि (सम्पा० जोगलेकर आदि)
दे० लि० (व०) = देवनागरी लिपि (वर्मा शिवशंकर प्रसाद)

न्यू० क्रा०	=	न्यूमिस्मैटिक क्रानिकल
न्यू० ला० इं० सि०	=	न्यू लाइट आन इंडस सिविलिज़ेशन
पं०	=	पंक्ति
प० दे०	=	परिवर्धित देवनागरी
पां०	=	पांडुलिपि
पा० व्या० (ध०)	=	पालि-व्याकरण (धर्मरक्षित, भिक्षु)
पि० शा०	=	पिट्मैन की शार्टहैंड (हिंदी)
पृ०	=	पृष्ठ
फ०	=	फलक
भा० पु० शा०	=	भारतीय पुरालिपि शास्त्र (बूलर)
भा० प्रा० लि०	=	भारतीय प्राचीन लिपिमाला (ओझा)
भा० भा० भा० स०	=	भारत की भाषाएँ और भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ
भा० भू० (दे०)	=	भाषाविज्ञान की भूमिका (देवेंद्रनाथ शर्मा)
भा० (भो०)	=	भाषाविज्ञान (भोलानाथ तिवारी)
भा० (लि०)	=	भाषा (लिपि-विशेषांक)
भा० स० लि०	=	भारतीय समान लिपि अरा ('अराज')
रा० क०	=	राष्ट्र भारती-हिन्दी का मिशन (काकासाहब कालेलकर)
ला० लैं० (क्ली०)	=	लास्ट लैंग्विजिज़ (पी० ई० क्लीटर)
लिं० स० इं०	=	लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया
लि० प०	=	लिपि-पत्र
वा० स्टो०	=	वाइसिज़ इन स्टोन
सं० श० कौ०	=	संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभम्
सा० भा० (बा०)	=	सामान्य भाषाविज्ञान (बाबूराम सक्सेना)
सि० र० (फ०)	=	सिंधुलिपि-रहस्योद्घाटनम् (फतेहसिंहः)
सी० इं०	=	सीलेक्टिड इन्स्क्रिप्शन्स (डी० सी० सरकार)
स्टैं० कं०	=	स्टैंडर्ड कंजी
स्टैं० दे० स्क्रि०	=	स्टैंडर्ड देवनागरी स्क्रिप्ट
स्तं०	=	स्तंभ
हि० इं० (आ०)	=	हिस्ट्री आफ़ इंडिया (आक्सफोर्ड)
हि० श०	=	हिन्दी शब्दानुशासन (किशोरीदास वाजपेयी)
हि० सं० लि०	=	हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर (मैक्समूलर)
हि० सा० स०	=	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

चित्र-सूची

विषय-सूची

अध्याय —३ : भारतीय लिपियों का मूल स्रोत (३६-६८)

अध्याय—४ : भारतीय लिपियों का इतिहास (६९-७६)

अध्याय—५ : ब्राह्मी लिपि (७७-१०८)

अध्याय -७ : संतुलित ब्राह्मी (११९-१३३)

अध्याय -८ अलंकृत लिपि (१३४-१.५)

अध्याय—९ : उद्भवकाल की अनुसंधान-विधि (१५६-१६९)

अध्याय —१० : संक्रांतिकालीन लिपियाँ और नागरी का उद्भवकाल (१७०-२००)

अध्याय —११ : नागरी लिपि का उद्भव : उपलब्धियाँ (२०१-२१०)

अध्याय—१२ : स्थैर्य काल में नागरी का विकास (२११-२४०)

अध्याय—१३ : नागरी का यंत्र लिपि के रूप में विकास (२४१-२६४)

नागरी लिपि का उद्भव

और

विकास

१ | लिपि-विज्ञान में प्रस्तुत विषय

१:१: अंकित का उद्‌भव : लिपि का आधार भाषा है। भाषा का मूल स्वरूप उसका उच्चरित रूप ही होता है।[1] भाषा जिस रूप में हमें सुनाई देती है, वह उसका **'भाषित'** कहलाता है।[2] इसी के क्रिया-रूप को **'ध्वनन'** कहते हैं।[3] भाषित देश-काल से अत्यंत सीमित होता है। यद्यपि रेडियो एवं टेप-रिकार्डर जैसे आधुनिक साधनों ने इस सीमा के घेरे का कुछ विस्तार कर दिया है, तथापि वह आज भी असीम नहीं है। प्राचीन-काल में ही मानव को भाषित का देश-काल से अत्यंत सीमित रूप खटका और उसने ऐसे **'संकेत'** निश्चित करने प्रारम्भ किए, जिन्हें समतल पर खोदा या लिखा जा सके और भिन्न देश-काल में भाषित के रूप में पढ़ा जा सके। इस प्रकार भाषा का ऐसा नया और कृत्रिम रूप प्रस्तुत हुआ, जिसे कानों से सुनने के स्थान पर आँखों से देखा जा सकता था। यह भाषा का **'अंकित'** था। भाषा का यह अंकित न केवल कर्णेतर इंद्रियों द्वारा ग्राह्य होने के कारण विलक्षण था, वरन् अधिक काल तक जीवित रह सकने की क्षमता के कारण एक सीमा तक **'अक्षर'** भी था तथा एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकने के कारण **सुविधाजनक** भी था। भाषित को अंकित में बदल सकने की क्षमता प्राप्त कर लेना मनुष्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी इसी के बल पर मनुष्य का ज्ञान सुरक्षित और संचित हो सका तथा वंशानुवंश मानव समाज को प्राप्त होता गया।

१:२ : लिपि की परिभाषा : भाषित को अंकित में बदलने के लिए जिन संकेतों का प्रयोग समय-समय पर किया गया, उनका **'आधार'** कहीं वाक्य रहा, कहीं वस्तु तथा कुछ उन्नत अवस्था में इन संकेतों का आधार **ध्वनि-मूलक** हो गया।[4] **'शब्द'** की अपेक्षा **'आघात'** सूक्ष्म इकाई है। आघात की अपेक्षा **'ध्वनिग्राम'** सूक्ष्मतर इकाई है। ज्यों-ज्यों मानव का लेखन का ज्ञान और कौशल उन्नत हुआ, उसने सूक्ष्मतर आधार पर संकेतों का निर्माण किया। परिणामत: ध्वनिमूलक लेखन भी क्रमश: शब्द से ध्वनिग्राम के सूक्ष्मतर आधार की ओर बढ़ा। आज हमें संसार की चार सौ से अधिक प्राचीन और अर्वाचीन लिपियाँ ज्ञात हैं। उनमें से अनेक ऐसी उन्नत अवस्था

की हैं कि उनमें थोड़े-से संकेत आधार का कार्य करते हैं और उन्हें निश्चित नियमों के अनुसार प्रयोग करके पूरी भाषा 'लिखी' अथवा 'अंकित की' जा सकती है।

संकेतों की प्रकृति के अनुसार अंकित करने की अनेक विधियाँ हो सकती हैं। **'लेखन'** भी अंकित करने की एक विधि है। **'संकेत'** और **'प्रयोग-विधि'** मिलकर **'लिपि'** बनते हैं।

निष्कर्षतः लिपि की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—**भाषा को अंकित करने की व्यवस्थित विधि लिपि** कहलाती है।

१:३ : लिपि के अनिवार्य तत्त्व : लिपि के लिए दो तत्त्व अनिवार्य हैं—आधार-संकेत और प्रयोग-विधि। दोनों पर क्रमशः विचार किया जा रहा है :

१:३:१ : आधार-संकेत : लिपि किसी भाषा के लिए ही बनाई जाती है। लिपि विशेष जिस भाषा के लिए बनाई जाए या प्रयुक्त हो, वह उसकी **आधार-भाषा** होती है। लिपि में उसकी आधार-भाषा की आवश्यकतानुसार संकेत होते हैं। इन संकेतों द्वारा उस भाषा के सभी ध्वनिग्रामों, शब्दांशों, शब्दों या वाक्यों को अंकित करना होता है। ध्वनि से वाक्य तक भाषा के **'अवयव'** पृथक् किए जा सकते हैं। लिपि के संकेत किसी एक अवयव के आधार पर बनाए जा सकते हैं। किसी अवयव के कई बार प्रयुक्त होने पर उसके लिए निश्चित एक ही **लिपि-संकेत** बार-बार लिखा जा सकता है, अतः वह **'आधार-संकेत'** का कार्य करता है। यदि किसी भाषा को ध्वनियों में विभाजित किया गया है, तो ध्वनि उसका **'आधार-अवयव'** है। ऐसी अवस्था में आधार-भाषा की प्रत्येक ध्वनि के लिए एक निश्चित संकेत होना चाहिए।[५] ऐसी लिपि की आदर्श-अवस्था में एक ध्वनि के लिए एक ही आधार-संकेत होना चाहिए; एक ही ध्वनि की **अभिव्यक्ति** के लिए एकाधिक संकेतों का प्रयोग नहीं होना चाहिए। दूसरी ओर एक आधार-संकेत एक ही निश्चित ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होना चाहिए, एकाधिक ध्वनियों के लिए नहीं। यदि आधार-अवयव शब्द है, तो उस भाषा के प्रत्येक शब्द के लिए आधार-संकेत होना चाहिए।

निष्कर्षतः, यदि **आदर्श-लिपि** की कल्पना की जाए, तो उसमें आधार-भाषा में प्रयुक्त ध्वनि-ग्रामों, शब्दांशों, शब्दों अथवा वाक्यों की **पूर्ण-सूची** के लिए नियत वे सभी आधार-संकेत अवश्य होने चाहियें, जिनसे पूरी भाषा के भाषित को अंकित में परिवर्तित किया जा सके।[६]

यदि किसी लिपि में आधार-संकेत एक ही रूप में न रह कर एकाधिक रूपों में प्रयुक्त होते हैं, तो उस लिपि की **'संकेत-सूची'** में संकेतों के सभी रूप सम्मिलित होने चाहिएं, तभी वह सूची **'पूर्ण'** कहलाएगी। स्पष्ट है कि किसी संकेत के **'मूल रूप'** से भिन्न उसका कोई **'विकृत रूप'** भी लिपि में प्रयुक्त होता हो, तो वह भी सूची में सम्मिलित किया जाना चाहिये। उदाहरणार्थ, नागरी लिपि में 'क', 'ष', 'ए', 'ओ' इत्यादि ध्वनिग्रामों के लिए निश्चित[७] आधार-संकेतों के मूल रूप हैं। इन्हीं के विकृत

रूपों में से कुछ निम्नलिखित हैं—क, ৳, ঽ, क्ष, क्र, ॅ, ा; विकृत रूपों की सूची और भी लम्बी हो सकती है। संकेत-सूची में ऐसे सभी विकृत रूप न दिए जाने पर वह **'अपूर्ण'** रह जाएगी, भले ही एक भी ऐसा विकृत रूप छूट जाए, जिसे भाषा का अंकित तैयार करते हुए प्रयोग करने की आवश्यकता हो सकती हो।

१:३:१:१ : **आधार-संकेतों की विशेषताएँ** : आधार-संकेतों के पूर्ण विश्लेषण के लिए उनकी निम्नलिखित मुख्य विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं—.

(क) **उत्पादन-सामग्री** : संसार की अधिकांश लिपियों में संकेत रेखाओं से बनते हैं, जिनका अंकन लिख कर होता है, अतः वे **'लेख-लिपियाँ'** हैं। यही कारण है कि लिपि-विषयक चर्चा में प्रायः लेख-लिपि पर ही चर्चा होती है। लिपि-संकेतों का केवल रेखाओं से बना होना आवश्यक नहीं है। वे संकेत चित्रों, रेखाओं अथवा बिन्दुओं से बने होने पर लेखन द्वारा **'दृश्य अंकित'** प्रस्तुत कर सकते हैं। संकेत छिद्रों से बने हों तो ब्रिल-पंच या टेलि-प्रिंटर के फीते की तरह **'स्पर्श-ग्राह्य अंकित'** प्रस्तुत कर सकते हैं। सूत्र पर लगी गाँठें कागज पर चिपके रेत के कण, या किसी अन्य सामग्री से बने संकेत भी उपयोगी सिद्ध होने पर लिपि-विशेष के आधार-संकेत कहे जा सकते हैं। उन संकेतों को बनाने के लिए उनमें लगी सामग्री तथा सहायक हुए उपकरण, उनकी आकृति आदि के इतिहास का कारण हो सकते हैं।

(ख) **आकृति** : संकेतों की आकृतियाँ भी विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। संसार की अधिकांश प्राचीन लिपियों के आधार-संकेतों की आकृतियाँ प्रायः चित्रों के आधार पर ही गढ़ी गई थीं। तब **ग्रंथि** या **अर्थ-हीन रेखाओं**-जैसे सूक्ष्मतर संकेतों का प्रयोग कम ही किया गया। इनकी तुलना में अधिकांश अर्वाचीन लिपियों के संकेतों की आकृतियाँ प्रायः अर्थ-हीन रेखाओं से बनी हैं। कुछ आधुनिक लिपियों में **बिंदुओं** का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। संकेताकृतियों की भिन्नता के आधार पर लिपियों के (चित्र-लिपि, रेखा-लिपि, बिन्दु-लिपि, छिद्र-लिपि, कण-लिपि, ग्रंथि-लिपि, इत्यादि) अनेक वर्ग बनाए जा सकते हैं।

(ग) **अभिव्यक्ति** : आधार-संकेत भाषा के जिस अवयव के आधार पर गढ़े गए हैं, उसी अवयव को अभिव्यक्त करते हैं।

अभिव्यक्ति के आधार पर संकेत दो प्रकार के होते हैं —

(१) अर्थ-बोधक

(२) उच्चारण-बोधक

मान लीजिए किसी लिपि में सूर्य का चित्र लिपि-संकेत है और वह सूर्य के अर्थ का बोधक है; तब उसे 'सूर्य', 'रवि', 'दिनकर' इत्यादि किसी उच्चारण से पढ़ा जा सकता है। स्पष्ट है कि उसकी अभिव्यक्ति उच्चारण से सम्बद्ध नहीं है, वरन् अर्थ-विशेष से सम्बद्ध है। ऐसी अवस्था में संकेत **'अर्थ-बोधक'** होता है।

इसके विपरीत जब संकेत उच्चारण से सम्बद्ध होता है, तब उसे एक ही निश्चित

उच्चारण से पढ़ा जा सकता है; वह क्या अर्थ देता है, इससे संकेत का कोई सम्बन्ध नहीं होता। नागरी के संकेत **'उच्चारण-बोधक'** हैं।

अर्थ-बोधक संकेत 'वाक्य-बोधक', 'भाव-बोधक', 'पदार्थ-बोधक' इत्यादि अनेक कोटियों के हो सकते हैं तथा उच्चारण-बोधक संकेत आधार अवयव के अनुसार 'शब्द-बोधक', 'आघात-बोधक' अथवा 'ध्वनिग्राम-बोधक' कोटि के हो सकते हैं।

१:३:२ : प्रयोग-विधि : लिपि का दूसरा अनिवार्य तत्त्व संकेतों की प्रयोग-विधि है। केवल आधार-संकेतों की सूची लिपि नहीं होती। उन संकेतों को प्रयोग करने के नियम भी निश्चित होने चाहिएँ। ये नियम इतने **'पूर्ण'** होने चाहिएँ कि कोई प्रयोग-कर्त्ता एक बार पूरे संकेत और उनकी प्रयोग-विधि जान ले तो उसे आधार-भाषा के किसी भी अंश को अंकित करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिये। एक बार निश्चित किया गया नियम सर्वत्र कार्य करता हो, उसके विपरीत कोई संकेत कभी प्रयुक्त न हो, तब वह प्रयोग-विधि **'स्थिर'** कहलाएगी। आधार-संकेतों की पूर्ण-सूची और प्रयोग-विधि की पूर्णता और स्थिरता लिपि की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। ये गुण होने पर लिपि **'योग्य'** होती है। इसके विपरीत लिपि-विशेष की संकेत-सूची अथवा प्रयोग-विधि में जितना दोष रह जाता है, वह लिपि उतनी ही 'अयोग्य' सिद्ध होती है।

१:४ : परीक्षण : संसार की लिपियों में कितनी ऐसी हैं कि उन्हें वैज्ञानिक आधार पर 'लिपि' संज्ञा दी जा सकती है और कितनी 'लिपि' संज्ञा के योग्य नहीं हैं? कौन-सी तात्विक आदर्श के निकट है और कौन-सी उससे दूर है? इन प्रश्नों के वैज्ञानिक उत्तर खोजने के लिए 'आधार-संकेत' और 'प्रयोग-विधि' के निकष प्राथमिक परीक्षण का कार्य करते हैं। यदि इन दोनों तत्त्वों के ज्ञान के पश्चात् भी सन्दर्भित भाषा का कोई अंश किन्हीं इतर संकेतों अथवा नियमों के आधार पर अंकित किया जाता है, तो ऐसी लिपि 'आदर्श लिपि' नहीं कही जा सकती।

उदाहरणार्थ, अंधों को पढ़ाने के लिए प्रयुक्त होने वाली ब्रिल-लिपि का परीक्षण किया जाए। इसमें प्रत्येक ध्वनि के लिए पृथक् आधार-संकेत है। वह कागज पर दबाव-उठाव से अथवा छेद करके अंकित किया जाता है। इन आधार-संकेतों को अलग-अलग पहचाना जा सकता है तथा इनकी पूर्ण सूची बनाई जा सकती है। इन्हीं निश्चित संकेतों के व्यवस्थित प्रयोग से आधार-भाषा को पूर्णता से अंकित किया जा सकता है। इस परीक्षण से सिद्ध होता है कि यह पद्धति लिपि कहलाने योग्य है।

इसकी तुलना में पिट्मैन की द्रुतलिपि (शार्टहैंड) वस्तुतः लिपि नहीं है। क्योंकि उसमें जो आधार-संकेत सिखाए जाते हैं, उन्हें बाद में पूरा नहीं लिखा जाता, अतः उसकी प्रयोग-विधि स्थिर नहीं है। उदाहरणार्थ, इस पद्धति में 'कब तक' लिखने के लिए 'कबक' लिखकर उसे 'कब तक' पढ़ा जाता है[८] तथा ऐसे अव्यवस्थित प्रयोगों को स्वाभाविक भी माना जाता है।

टेप-रिकार्डर के फीते या ग्रामोफोन के तवे पर अंकित किया हुआ भाषित

'अंकित' तो है, किन्तु ऐसा 'रासायनिक अंकन' लिपि के क्षेत्र से बाहर है, क्योंकि उसके आधार-संकेतों को पृथक्-पृथक् पहचान कर उनकी सूची नहीं बनाई जा सकती, न ही सामान्यतः मानव-हाथों द्वारा उनकी अनुकृति बनाया जाना संभव है। आधार-संकेतों की स्पष्ट और पूर्ण सूची के बिना कोई अंकन-विधि 'लिपि' नहीं हो सकती।

१:५ : **लिपि और भाषा का सम्बन्ध :** 'लिपि' और 'भाषा' दो अलग-अलग इकाइयाँ हैं; तो भी इनमें एक-पक्षीय अविच्छेद्य सम्बन्ध है, क्योंकि लिपि का प्रयोग भाषा के बिना संभव नहीं। भाषा को अंकित करना ही लिपि का प्रधान प्रयोजन है। दूसरी ओर लिपि भाषा का अनिवार्य अंग नहीं है। लिपि का प्रयोग भाषा के स्वरूप को स्थिर रखने में सहायक तो हो सकता है, किन्तु उसके बिना भी भाषा पूर्ण हो सकती है। एक ही भाषा अनेक लिपियों में लिखी जा सकती है। लिपि-परिवर्तन पर भी भाषा जीवित रह सकती है। उदाहरणार्थ, संस्कृत ने अनेक लिपियों में अंकित होकर भी दीर्घ जीवन जिया है। यदि कहीं लिप्यन्तरण के कारण भाषित में विकृति आती है, तो इसलिए नहीं कि लिपि-भाषा-सम्बन्ध अविच्छेद्य है, वरन् इसलिए कि अंकित प्रस्तुत करने के लिए अपनाई गई लिपि दोषपूर्ण है। एक ओर एक ही भाषा अनेक लिपियों को ओढ़ सकती है, तो दूसरी ओर एक ही समर्थ लिपि अनेक भाषाओं का अंकित प्रस्तुत करने के लिए भी प्रयुक्त हो सकती हैं। उदाहरणार्थ अनेक यूरोपीय भाषाएँ 'रोमन' लिपि में तथा अनेक भारतीय भाषाएँ नागरी या अरा में लिखी जा रही हैं। ऐसी दशा में अनेक भाषाओं के लिए समान रूप से प्रयुक्त होने वाली लिपि उन भाषाओं की **'समान-लिपि'**[९] कहलाती है—इस अर्थ में **'सामान्य-लिपि'**[१०] शब्द का प्रयोग असंगत है।

१:६ : **लिपि का महत्त्व :** जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, लिपि भाषा का अनिवार्य अंग नहीं है तथापि उपादेयता के कारण उसका महत्त्व इतना अधिक है कि उसकी उत्पत्ति का सम्बन्ध किसी न किसी दैवी शक्ति के साथ जोड़ने की कथाएँ विश्व के अनेक भागों में प्रागैतिहासिक काल से ही प्रचलित हैं। भारत में उत्पत्ति के देवता ब्रह्मा को लिपि का प्रथम कर्त्ता माना जाता है। बेबीलोन तथा मिश्र में भाग्य-देवता नेबो और थाथ लिपि के जनक माने जाते हैं। यहूदी और मुसलमान ईश्वर को लिपि प्रदान करने वाला मानते हैं। ईसाई लिपि की उत्पत्ति के साथ अनेक सन्तों के नाम जोड़ते हैं। ये सब कथाएँ लिपि के महत्त्व की ही द्योतक हैं।[११] लिपि ने ही मनुष्य की भाषा को चक्षु-ग्राह्य, चिरस्थायी एवं स्थानांतरणीय रूप देकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक तथा एक काल से दूसरे काल तक पहुँच पाने की विलक्षण शक्ति प्रदान की। आज के यंत्र-युग में लिपि के बिना भाषा का प्रयोग इतना अधूरा प्रतीत होता है कि सामान्य-जन लिपि को भाषा का पर्याय मानने की भूल कर बैठता है। लिपि भाषा के प्रचार-प्रसार, स्थायित्व, एक-रूपत्व एवं शिक्षण में सहायक है। सर्व-सुलभ, सरल एवं उपयोगी साधन के रूप में लिपि इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है कि रिकार्ड-लाइब्रेरियों के इस युग में भी विश्व भर के देशों की सरकारें साक्षरता के अभियान

में जुटी हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि जब तक रासायनिक अंकन सर्व-सुलभ नहीं हो जाता, तब तक प्रामाणिक अभिलेख के लिए भाषा को लिपी का ही आश्रय लेना होगा। जो लोग नेता, शिक्षक, प्रशासक, पत्रकार, लेखक इत्यादि के रूप में आज के मानव-समाज की स्थिति, सुरक्षा तथा सम्वृद्धि का उत्तरदायित्व सँभाले हुए हैं, उनके लिए भाषा बोलने-सुनने से अधिक पढ़ने-लिखने का विषय है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि आधुनिक समाज के लिए भाषा 'भाषित'-रूप में ही नहीं 'अंकित'-रूप में भी अनिवार्य हो गई है और अंकित के लिए 'लिपि' का माध्यम ही लोकप्रिय है।

१: ७ : लिपि-विश्लेषण-शास्त्र : लिपि के महत्त्व के अनुरूप ही उसके विश्लेषण को भी महत्त्व प्राप्त होना चाहिए। जिस प्रकार भाषा-विशेष के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए **'व्याकरण-शास्त्र'** की रचना होती आई है, उसी प्रकार लिपि-विशेष के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए **'लिपि-विश्लेषण-शास्त्र'** की रचना अपेक्षित है। पहले यह स्पष्ट किया जा चुका है कि लिपि मात्र **'वर्णमाला'** का नाम नहीं, वरन् यह विधि-विशेष है, जिसमें आधार-संकेतों के अतिरिक्त प्रयोग के नियम भी अनिवार्यत: सम्मिलित हैं। लिपि-विशेष के विश्लेषण में इन दोनों पक्षों की पूर्ण व्याख्या, उनके औचित्य-अनौचित्य का विवेचन और संभावित परिष्कार का प्रस्तुतीकरण सम्मिलित किया जाना चाहिए। सामान्यत: भाषित के स्तर पर जो कार्य व्याकरण का है, अंकित के स्तर पर वही कार्य लिपि-विश्लेषण का है; किन्तु व्याकरण का विषय 'व्याख्या' तक सीमित है, जब कि लिपि-विश्लेषण व्याख्या से कुछ अधिक है।

'भाषित' और 'अंकित' के निर्माण की प्रक्रिया तत्त्वत: भिन्न होने के कारण, उन पर विचार करते समय दोनों शास्त्रों में भी भिन्नता आ जाना स्वाभाविक है। जहाँ समाज में भाषा के भाषित-रूप का जान-बूझ कर निर्माण कम ही होता है,[12] वहाँ भाषा को अंकित करने की विधि गढ़ने में मनुष्य का सोच-समझकर किया गया प्रयास ही प्रमुख है। भाषित की व्याख्या में उसकी पूर्व-प्राप्त स्थिति के अनुरूप नियम बनाए जा सकते हैं, उसे बदलने का कार्य व्याकरण नहीं कर सकता।[13] दूसरी ओर अंकित की व्याख्या के अतिरिक्त उसके औचित्य की परख भी की जा सकती है। लिपि के सायास गढ़े होने के कारण उसमें दोष और परिवर्तन का अवकाश रहता है; अत: लिपि-विशेषज्ञ को यथास्थिति से आगे बढ़कर भी सोचना होता है। लिपि-विश्लेषण का यह परिष्कार-पक्ष व्याकरण की अपेक्षा नया और महत्त्वपूर्ण पक्ष है। यही कारण है कि लिपि-विषयक शास्त्र व्याकरण की भांति 'व्याख्या' मात्र न रहकर 'विश्लेषण' की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

१:८ : व्याकरण और लिपि-विश्लेषण की प्रक्रियाएँ : व्याकरण और लिपि-विश्लेषण में ध्वनि-व्याख्या समान पक्ष का कार्य करती है, किन्तु दोनों शास्त्रों में ध्वनि-व्याख्या का दृष्टिकोण कुछ भिन्न रहता है। व्याकरण का आधार भाषित होने के कारण उसका व्याख्या-क्रम और नियम-निर्धारण-क्रम वाक्य से शब्द और शब्द से ध्वनि **की ओर अथवा सम्पूर्ण से खंड की ओर** बढ़ता है। इसके विपरीत लिपि-विश्लेषण में व्याख्या

और नियम-निर्धारण का क्रम **खंड से संपूर्ण की ओर** बढ़ता है। ध्वनि-ग्राम जहाँ व्याकरण के लिए अंतिम इकाई है, वहाँ लेखन के लिए प्रथम इकाई है। भाषा को खंड-खंड करने की प्रक्रिया द्वारा व्याकरण ध्वनिग्रामों तक पहुँचता है। इसके विपरीत संसार में बहुप्रचलित उच्चारण बोधक लेख-लिपियों में ध्वनि-ग्रामों को प्रथम इकाइयाँ मानकर उनके लिए संकेत निश्चित करना प्रथम कार्य होता है। संकेत निश्चित करने के पश्चात् उनकी प्रयोग-विधि निश्चित की जाती है और आवश्यक होने पर इन संकेतों के संयोजन द्वारा अक्षर बनाए जाते हैं। यदि कहीं भाषा का **विखंडन आघात (सिलेब्ल)** तक पहुँच-कर रुक जाता है, तो आघात लिपि के लिए प्रथम इकाई का कार्य करता है। तब सर्वप्रथम प्रत्येक आघात के लिए संकेत निश्चित किया जाता है और तत्पश्चात् उन संकेतों की प्रयोग-विधि निश्चित की जाती है। आधार भाषा के शब्दों का आकार, उनका रूप-परिवर्तन आदि भाषित के गुण लिपि की आवश्यकताओं के आधार होते हैं, अतः लिपियों के आधार-संकेतों की संख्या, उनके प्रयोग के नियम इत्यादि तथ्य भी आधार भाषाओं से प्रभावित होते हैं यही कारण है कि संसार में समय-समय पर प्रच-लित लिपियों में अनेक विभिन्नताएँ रही हैं।

कालांतर में भाषित में परिवर्तन आ जाता है, अतः लिपि की आवश्यकताओं में भी अन्तर आ जाता है। लिपि को नई आवश्यकताओं के अनुरूप बदलना होता है। लिपि-विकास के अनेक कारणों में से यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण सिद्ध होता है।

एक समय में अनेक लिपियों का अस्तित्व और एक ही लिपि के समय-समय पर विकसित अनेक रूप होना भले ही भिन्न-भिन्न कारणों के द्योतक हों, किन्तु लिपि-मात्र का यह मूलभूत आधार हमेशा रहा है कि लिपि में आधार-संकेत की इकाई छोटी होती है। छोटे संकेतों को संयोजित करके अथवा विशेष विधि से अंकित करके अक्षर, शब्द और वाक्य बनाए जाते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि व्याकरण में भाषा का विखंडन जिस इकाई पर समाप्त होता है, लिपि-विश्लेषण में उस इकाई से संकेत-निर्माण का कार्य प्रारंभ होता है।

१:६ : भाषाविज्ञान का क्षेत्र : व्याकरण किसी एक देश-काल के समाज में विद्यमान भाषा के स्वरूपगठन की व्याख्या करता है। वह भाषाविज्ञान का ही एक छोटा-सा अंग है। इसे भाषाविज्ञान की वर्णनात्मक शाखा में गिना जाता है।[१४] उसी काल में अन्यत्र दूसरी भाषा विद्यमान हो सकती है। उसकी व्याख्या के लिए दूसरा व्याकरण होगा। एकाधिक समसामयिक भाषाओं के स्वरूप-गठन का तुलनात्मक अध्ययन जिस **'तुलनात्मक व्याकरण'** को प्रस्तुत करता है, वही सार्वभौम (विश्व भर तक विस्तृत) हो जाने पर **'तुलनात्मक भाषाविज्ञान'**[१५] की संज्ञा प्राप्त कर लेता है।

दूसरी ओर काल-भेद से भाषा के स्वरूप गठन में जो अन्तर आ जाता है, वह भी तुलनात्मक अध्ययन का विषय होता है यही **'इतिहासपरक व्याकरण'** सार्वभौम

(सर्व-काल-व्यापी) होने पर भाषाविज्ञान की **'ऐतिहासिक शाखा'** का निर्माण करता है।[१६]

किसी भाषा में काल से उत्पन्न विकारों का अध्ययन आज से उस छोर तक किया जा सकता है। (अथवा उस छोर से प्रारंभ करके आज तक लाया जा सकता है) जहाँ तक उस भाषा के चिह्न प्रारंभ हो सकें। भाषाओं की प्रकृति एवं स्वरूप के वैभिन्न्य का अध्ययन भूमि के सभी ज्ञात छोरों तक फैलाया जा सकता है। इस प्रकार भाषाविज्ञान भविष्यत्-काल को छोड़कर देश-काल के संपूर्ण संभव परिमाण तक भाषा-विषयक समस्त अध्ययन को समेट लेता हैं। हिंदी, अंग्रेजी, अरबी आदि भाषाएँ मानव-समाज की जिस वाक्पद्धति की द्योतक हैं, वह सार्वभौम भाषा है। जहाँ व्याकरण हिंदी आदि भाषा-विशेष से सम्बद्ध होता है, वहाँ भाषाविज्ञान के विस्तृत अध्ययन में 'भाषा' किसी एक मानव, देश अथवा जाति की अभिव्यक्ति-पद्धति न रहकर समूचे मानव-समाज की वाक्पद्धति हो जाती है। भाषाविज्ञान की यही विशेष दृष्टि उसे व्याकरण से भिन्न शास्त्र बना देती है; तथापि व्याकरण-ग्रंथ भाषाविज्ञान के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। व्याकरण-ग्रन्थों के स्तम्भों पर ही भाषाविज्ञान का भव्य गुम्बज टिका है।

१:१० : लिपिविज्ञान का क्षेत्र : क्रमशः भाषित और अंकित के आधार पर बने 'व्याकरण' और 'लिपि-विश्लेषण', दोनों प्रायः समान-स्तरीय शास्त्र हैं। जैसे व्याकरण का सार्वभौम विस्तार **'भाषाविज्ञान'** का रूप ग्रहण करता है, उसी प्रकार लिपि-विश्लेषण का सार्वभौम विस्तार **'लिपिविज्ञान'** हो जाता है। अतः भाषाविज्ञान और लिपिविज्ञान समानस्तरीय शास्त्र हैं। लिपि-विशेष के एक देश-काल के स्वरूप की व्याख्या, उसके गुण-दोष और उसके परिष्कार की सम्भावनाओं को जब शास्त्र के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, तब उसे लिपि-विश्लेषण कहते हैं। यह लिपिविज्ञान का ही एक अंग है। ये विश्लेषण ही लिपिविज्ञान की **'वर्णनात्मक शाखा'** का निर्माण करते हैं। एकाधिक लिपियों के समान एवं भिन्न तत्त्वों के विश्लेषण से **'तुलनात्मक लिपि-विश्लेषण'** का जन्म होता है। यही विश्लेषण सार्वभौम विस्तार पा लेने पर **'तुलनात्मक लिपिविज्ञान'** हो जाता है। जब लिपि-विशेष अथवा लिपि-वर्ग का कालांतरों में विकसित रूप-गठन अध्ययन एवं विश्लेषण का विषय होता है, तब यह **'इतिहासपरक'** अध्ययन हो जाता है। यही अध्ययन जब इतना विस्तृत हो जाता है कि संसार भर की लिपियाँ इस अध्ययन का आधार हो जाती हैं और इनके माध्यम से मानव के समूचे लिपि-चिंतन के क्रम का विश्लेषण किया जाता है, तब वह **'इतिहास-परक लिपिविज्ञान'** कहलाता है। लिपिविज्ञान का अध्ययन किसी एक जाति, देश आदि के लेखन-प्रयास तक सीमित नहीं रहता, वरन् वह समस्त मानव-जाति के लिपि-विषयक चिंतन का अध्ययन हो जाता है। अपनी इस सार्वभौम दृष्टि के कारण वह लिपि-विश्लेषण से इसी प्रकार भिन्न हैं, जैसे भाषाविज्ञान व्याकरण से भिन्न है। लिपि-विज्ञान उसी प्रकार विभिन्न लिपि-विश्लेषणों के स्तम्भों पर टिका रहने वाला गुम्बज

है, जैसे भाषाविज्ञान विभिन्न व्याकरणों के स्तम्भों पर टिका है। लिपिविश्लेषण का तुलनात्मक और इतिहासपरक विस्तार जिस सार्वभौम लिपिविज्ञान का स्वरूप धारण करता है, उसे परिभाषित करने के लिए कहा जा सकता है कि **लिपि के सभी पक्षों का तर्कपूर्ण ढंग से व्यवस्थित ज्ञान प्रस्तुत करने वाला शास्त्र लिपिविज्ञान कहलाता है।**

लिपिविज्ञान के निम्नलिखित पक्ष विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

(१) **लिपिविज्ञान में भाषा विज्ञान का आधार** : लिपिविज्ञान का आधार 'अंकित' है, किंतु अंकित का आधार 'भाषित' है, अतः जहाँ भाषाविज्ञान के लिए लिपिविज्ञान गौण विषय है, वहाँ लिपि-विज्ञान में भाषाविज्ञान के **'ध्वनि-विज्ञान'** एवं **'ध्वनिग्राम-विज्ञान'** का बहुत बड़ा भाग अनिवार्यतः सम्मिलित रहता है। ध्वनिग्राम-विज्ञान तो लिपिविज्ञान की आधारशिला है। जहाँ भाषा का विखंडन आघात तक ही हुआ है, वहाँ आघात भी लिपिविज्ञान का विषय हो जाते हैं। शब्दों के आकार-प्रकार, प्रकृति-प्रत्यय, रूप-परिवर्तन इत्यादि भाषाविज्ञान के विषय तो हैं ही, वे लिपियों को भी प्रभावित करते हैं, अतः लिपिविज्ञान का भी विषय हो जाते हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि यद्यपि लिपि-विज्ञान कुछ सीमा तक भाषाविज्ञान से पृथक् है, तथापि बहुत कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञानराशि दोनों में समान रूप से समाहित है।

(२) **लिपिविज्ञान का परिष्कार-पक्ष** : अंकित के मानव-निर्मित होने के कारण लिपिविज्ञान का अध्ययन भूत से वर्तमान काल तक आकर ही अवरुद्ध नहीं हो जाता, वरन् लिपि के सम्भावित परिष्कार के सम्बन्ध में भी संकेत देता है। 'लिपि की उत्पत्ति और विकास,' 'लिपियों के परिवार,' 'लिपियों के विकास के इतिहास' इत्यादि लिपिविज्ञान की शाखाएँ 'भाषा की उत्पत्ति और विकास,' 'भाषाओं के परिवार,' 'भाषाओं के विकास का इतिहास' इत्यादि भाषाविज्ञान की शाखाओं के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं। लिपिविज्ञान में परिष्कार-पक्ष उसकी अतिरिक्त आवश्यकता है। भाषा-विज्ञान में परिष्कार-पक्ष सम्भव ही नहीं होता।

१:११ : **लिपिविज्ञान और लेखन-कला में अंतर** : लिपिविज्ञान और लेखन-कला के क्षेत्रों में भी अन्तर है। लेखन-कला एवं अंकन-कला लिपिविज्ञान के व्यावहारिक पक्ष हैं और लिपिविज्ञान अंकनकला का सैद्धांतिक पक्ष है। लेखन केवल रेखाओं या बिंदुओं द्वारा बने सकेतों से होता है, जब कि अंकन रेखाओं, छिद्रों, ग्रंथियों, कणों इत्यादि-जैसे किसी भी उपयोगी सामग्री से बने संकेतों द्वारा हो सकता है। स्पष्ट है कि अंकन-कला में लेखन-कला भी सम्मिलित है। टाइप करना या छापना लेखन की नहीं, वरन् अंकन की कलाएँ हैं। इन कलाओं में दक्षता प्राप्त करने के लिए आवश्यक उपकरणों की जानकारी और उनके उपयोग में निपुणता अपेक्षित है। लिपि का प्रयोगकर्त्ता 'लिपिक' (स्क्राईब) कहलाता है। उसका कौशल सृजनात्मक महत्त्व रखता है। लिपिविज्ञान इन कलाओं के आधारभूत सैद्धांतिक पक्ष का विश्लेषण करता है।

१: १२ : **प्रस्तुत विषय** : प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय है—**'नागरी लिपि का**

उद्भव और विकास'। यह लिपिविज्ञान की इतिहासपरक शाखा का एक भाग है। इस प्रबन्ध में नागरी लिपि के संकेतों का आकृति-विकास तो दिखाया ही गया है, साथ ही नागरी के सैद्धांतिक विकास का भी विस्तार से विवेचन किया गया है।

लिपि में आधार-संकेतों की सूची में ध्वनि-संकेतों के साथ-साथ अंकों एवं विरामादि-संकेतों का प्रचलन भी रहता है, किंतु नागरी-जैसी ध्वन्यात्मक लिपियों में ये संकेत नितांत गौण से प्रतीत होते हैं। नागरी में तो रोमन अंक और अंग्रेजी से प्राप्त विरामादि-संकेतों के प्रचलन के कारण ये संकेत अन्य ध्वन्यात्मक संकेतों से नितांत भिन्न वर्ग के हो चले हैं। ध्वनीतर संकेतों का इतिहास अपने आप में निःसंदेह महत्त्वपूर्ण एवं रोचक है, किंतु प्रस्तुत प्रबन्ध को नागरी के ध्वन्यात्मक स्वरूप के विकास तक सीमित रखकर उससे नागरी के सैद्धांतिक विकास का क्रमिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। प्रधान लक्ष्य यही रहा है कि विश्लेषण में क्रम न टूटे।

यों लिपिविकास ऐसी निरन्तर वर्तमान प्रक्रिया है कि उसे खंडों में विभाजित करना कठिन ही प्रतीत होता है, तो भी अध्ययन की सुविधा के लिए इस पूरे इतिहास को चौदह अध्यायों में विभाजित किया गया है। अधिक सुविधा खोजना चाहें तो प्रबन्ध के प्रथम तीन अध्यायों को **प्रथम खंड** कह सकते हैं। इसमें भारतीय लिपियों का मूल खोजने का प्रयास हुआ है। अध्याय ४ से १० तक ब्राह्मी की शाखाओं में से नागरी का उद्भव खोजा गया है। इसे **द्वितीय खंड** कहा जा सकता है। शेष अध्याय नागरी के विकास की शेष कथा प्रस्तुत करते हैं। इन्हें **तृतीय खंड** कह सकते हैं।

यद्यपि लिपिविश्लेषण के इतिहास में 'लिपि का परिष्कार' भी सम्मिलित किया जाना चाहिए और इस दृष्टि से नागरी के दोषों के निराकरण के लिए सम्भावित परिष्कारों पर विचार किया जा सकता है; किंतु यह विषय प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमा से बाहर होने के कारण छोड़ दिया गया है। इस प्रबन्ध में केवल उन सुझावों को प्रस्तुत किया गया है, जो अब तक प्रस्तुत किए गए हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत प्रबंध नागरी के भूतकाल एवं वर्तमान काल का विश्लेषण ही प्रस्तुत करता है, नागरी का भविष्य इस प्रबन्ध का विषय नहीं है।[१७]

लिपि में आधार-संकेतों के साथ प्रयोग विधि भी अनिवार्य अंग के रूप में रहती है, अतः प्रत्येक चरण में आधार-संकेतों के विकास के साथ प्रयोग-विधि के विकास का भी विश्लेषण किया गया है।

लिपि-विज्ञान विकासमान विषय है। इस विषय पर हिंदी में तो बहुत ही कम सामग्री उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में अपने विचारों को सूक्ष्मता से प्रस्तुत करने के लिए मुझ अनेक नए पारिभाषिक शब्दों का निर्माण करना पड़ा है। आवश्यकता होने पर उन्हें परिभाषित भी कर दिया है, ताकि अस्पष्टता न रहे।

अन्य भाषाओं में भी लिपि-विज्ञान के महत्त्व के अनुरूप विश्लेषण नहीं हुआ, तो भी कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री अन्य भाषाओं में, विशेषतः अंग्रेजी में उपलब्ध है। जिन

पारिभाषिक शब्दों का अन्य भाषाओं में प्रचलन था, किंतु हिंदी में उनके पर्याय उपलब्ध नहीं थे; उनके हिंदी पर्याय जहाँ प्रथम बार दिए गए हैं, वहाँ कोष्ठक में उनका अन्य भाषा में प्रचलित पर्याय भी दे दिया गया है।

पहली बार जब कोई नया पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त हुआ है, तब उसे विशेषता-सूचक चिह्न (सिंगल इन्वर्टिड कामा) में रखा गया है, किंतु उसकी आवृत्ति होने पर विशेषता-सूचक चिह्न लगाना आवश्यक नहीं समझा गया। पूर्व-परिभाषित पारिभाषिक शब्द को विशेष रूप से द्रष्टव्य होने पर ही 'विशेषता-सूचक' में रखा गया है।

प्रबन्ध के अन्त में परिशिष्ट के रूप में पारिभाषिक शब्दों की सूची दी गई है। वहीं वह पृष्ठांक भी दिया गया है, जहाँ सन्दर्भित शब्द का विशेष प्रयोग हुआ है या उसे पारिभाषित किया गया है। इस सूची से उन शब्दों का पारिभाषिक अर्थ समझने में सहायता मिलेगी।

---

१. भा० भू० (दे०), पृ० १९
२. भा० स० ग्र०, पृ० १
३. भा० भू० (दे०), पृ० २३
४. इसी प्रबंध के अध्याय ३ में इस विषय पर विस्तार से विचार किया गया है।
५. ला० जॅ० (क्री०), पृ० २२ (आइडिअली, ऐन अलफ़ाबेट, शुड हैव वन सैपरेट साइन फार ईच डिस्टिंक्ट साउंड इन्टू विच दि लैंग्वेज इट सर्वस कैन बी ऐनलाइज्ड)।
६. तुलनार्थ : दे० लि० (जो०), पृ० २३३, "किसी भाषा के लिए सबसे वैज्ञानिक लिपि वह है, जिसमे उस भाषा में प्रयुक्त सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग चिह्न हों।"
७ व्यंजनों में अन्तर्भूत 'अ' इस नियम में बाधक नहीं है। आगे यथास्थान इस पर विस्तार से विचार किया गया है।
८ पि० शा०, पृ० ८६
९. भा० (लि०), पृ० १३० : लक्ष्मीनारायण दुबे का लेख : 'लिपि की यात्रा, समान लिपि की खोज'।
१० कहीं-कहीं 'समान लिपि' के अर्थ में 'सामान्य लिपि' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। उदाहरणार्थ, किशोरीदास वाजयेयी के 'हिन्दी शब्दानुशासन' के पृष्ठ ४७ पर छपे इस वाक्य में—"—नागरी लिपि को सभी भारतीय भाषाओं की सामान्य लिपि बना दिया जाए—।" 'सामान्य' विशेषण 'विशेष' अवस्था के विपरीत होने का बोध देता है, जो अंग्रेजी के 'कौमन स्क्रिप्ट' के 'कौमन' शब्द के असंगत अनुवाद से चल पड़ा है। अंग्रेजी में जैसे 'कौमन मैन' और 'कौमन फैक्टर' में 'कौमन' शब्द का अलग-अलग अर्थों में प्रयोग उचित है, वैसे हिन्दी में उन्हें 'सामान्य जन' और 'सामान्य गुणनखंड' कहना उचित नहीं है। 'विशेष जन' तो हो सकते हैं, 'विशेष गुणनखंड' नहीं होते। गुणनखंड या लिपि के साथ 'कौमन' का अर्थ है 'सब में समान रूप से प्रयुक्त' और इसके लिए 'समान' शब्द ही अधिक संगत है।
११ वा० स्टो०, पृ० १४
१२. विश्व की समान भाषा के रूप में 'एस्प्रेंतो' गढ़ी गई और उसके प्रचार का सुव्यवस्थित प्रयत्न किया गया। वर्षों के प्रयत्न के बाद भी उसे विशेष सफलता नहीं मिली।
१३. हि० श०, पृ० ६२

१४ भा० भू० (दे०), पृ० १८१

१५. वही, पृ० १८३

१६. वही, पृ० १८४ (इसे 'इतिहासपरक शाखा' कहना अधिक संगत है।)

१७ लिपि के भविष्य पर विचार प्रस्तुत करने वाली पुस्तक 'भारतीय समान लिपि अरा' (ले० डॉ० ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज') सूर्य प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-६, उदाहरण के लिए देखी जा सकती है।

२ | विश्व में लेख-लिपि का उदभव और प्रसार

२:१ : **लेखन का प्रारम्भ** : पृथ्वी पर मानव का जन्म कब हुआ ? उसने भाषा, सभ्यता और लिपि का विकास कैसे किया ? इन प्रश्नों के उत्तरों पर विद्वानों के विवादास्पद मत यहाँ उद्धृत न करते हुए उनके सार-रूप में यही कहा जा सकता है कि पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व अनुमानत: कम-से-कम पिछले छ: लाख वर्षों से और अधिक-से-अधिक दस लाख वर्षों से है,[1] जिसके प्रारम्भ का अधिकांश काल उसने असभ्य दशा में ही बिताया है। तर्कपूर्ण विश्लेषण द्वारा यही ग्राह्य प्रतीत होता है कि मनुष्य ने पहले भाषा, उसके द्वारा सभ्यता और तत्पश्चात् 'आत्माभि-व्यक्ति, परस्पर सम्पर्क एवं आगामी पीढ़ियों के लिए अपना ज्ञान छोड़ जाने की इच्छा से भाषा के अंकन की विधियों का'[2] आविष्कार किया, जिनमें से लेखन सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। यों अभिव्यक्ति की अदम्य इच्छा की पूर्ति के लिए मानव ने पचास हजार वर्ष पहले ही अपनी शरण-दात्री गुफाओं की भित्तियों को चित्रों एवं कतिपय अन्य संकेतों से अंकित करना प्रारम्भ कर दिया था,[3] तो भी क्रम-बद्ध चित्रों द्वारा व्यवस्थित अंकन को प्रारम्भ हुए लगभग छः हजार वर्ष हुए होंगे।[4] प्रारम्भिक अंकन भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के संकेतों के माध्यम से हुआ। सूत्र पर गाँठें लगाना, पत्थर जोड़ना, लकड़ी पर रंग-बिरंगे तागे लटकाना इत्यादि अनेक प्रकार के संकेतों का प्रयोग समय-समय पर किया गया। मानव-समाज ने अपने इन प्रारम्भिक अनुभवों से सीखा कि काग़ज़, लकड़ी, शिला अथवा धातु के किसी समतल पर रेखाएँ खोदना या स्याही से लिखना अंकन की सरलतम विधि है। रेखाओं के संकेतों को प्रयोग करने वाली लिपि **'लेख-लिपि'** बन गई। ऐसे संकेतों वाला अंकन **'लेखन'** हो गया। ऐसे संकेतों की आकृतियाँ चित्रों से बनी हैं या अर्थ-हीन रेखाओं से ? इनसे पदार्थ का बोध होता है, भाव का बोध होता है या ध्वनिका ? ये प्रश्न लेखन के प्रकार खोजने का आधार हो सकते हैं। कोई अंकन 'लेखन' है या नहीं, इससे इनका

कोई सम्बन्ध नहीं। निष्कर्षतः स्थान-विशेष पर लेखन का प्रारम्भ तब से मानना चाहिए, जब से रेखाओं से बने संकेतों वाली लिपि वहाँ प्राप्त होती है और वह काल आज से छः हज़ार वर्ष से पूर्व ही है। आगे अध्याय ३ में सिंधु-घाटी के लेखन पर विचार करते समय इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

२:२ : **दो दृष्टिकोण** : नागरी लिपि आज लेख-लिपि के जिस स्वरूप तक पहुँची है, उसका इतिहास भी विश्व के लेखन के इतिहास के समानांतर ही चलता है। यद्यपि इस प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध नागरी के उद्भव और विकास से है, तथापि नागरी के विकास की विशिष्टता का उचित मूल्यांकन तभी किया जा सकता है, जब विश्व के अन्य क्षेत्रों के लिपि-विकास के साथ इसकी तुलना की जाए। यूरोपीय विद्वानों ने लेखन-पद्धतियों के इतिहास को जिस दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है, भारत के कुछ लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने न केवल उस दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है, वरन् नितान्त नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया है। अतः निर्णय से पूर्व दोनों पक्षों के विचार जान लेना आवश्यक है। यूरोपीय विद्वानों ने लेख-लिपियों के उद्भव को प्रायः बेबीलोन, मिश्र इत्यादि यूरोप के निकट के स्थानों से जोड़ने का प्रयत्न किया है। इसके विपरीत भारतीय विद्वानों के मत के अनुसार विश्व की अधिकांश लेख-लिपियों के उद्भव का सम्बन्ध सिंधु-घाटी से है जो यूरोप से दूर है और जिसे भारत-भूमि का ही भाग समझना चाहिए। इस प्रकार विश्व में लेख-लिपियों के उद्भव के प्रति दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं -

(१) यूरोपीय दृष्टिकोण,
(२) भारतीय दृष्टिकोण।

यूरोपीय दृष्टिकोण के प्रस्तोता प्रायः यूरोपीय विद्वान् हैं, किन्तु कुछ भारतीय विद्वान् भी उनके साथ सहमत हैं, जब कि कई यूरोपीय विद्वान् भी उस दृष्टिकोण को अस्वीकार करते हैं, उस पर सन्देह करते हैं अथवा उसका विरोध करते हैं। भारतीय दृष्टिकोण को भी सभी भारतीय विद्वान् स्वीकार नहीं करते। दूसरी ओर कई यूरोपीय विद्वान् भी भारतीय दृष्टिकोण से सहमत हैं। अतः दृष्टिकोणों का यह विभाजन उद्भव-स्थान के अनुसार किया गया है।

२:२:१ : **यूरोपीय दृष्टिकोण** : पाश्चात्य विद्वानों ने प्रायः यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संसार का समस्त लिपि-ज्ञान पश्चिम में ही प्रारंभ हुआ है। यों लैंग्डन और स्मिथ[५] जैसे कुछ विद्वानों ने इस धारणा का विरोध भी किया है। फिर भी अधिकांश पश्चिमी विद्वान् अपनी पूर्व निश्चित धारणाओं के कारण अथवा पश्चिमी ज्ञान को अधिक सूक्ष्मता से और पूर्वी ज्ञान को अपेक्षाकृत कम सूक्ष्मता से समझ पाने के कारण पश्चिमी धुरी के उत्पत्ति-सिद्धांतों पर ही अड़े रहे हैं। ई० हैरिंग द्वारा प्रस्तुत लिपि-वृक्ष (चित्र १, पृ० १५) पश्चिम के विचारों का अच्छा उदाहरण है। इस चित्र की सरलता, स्पष्टता और चक्षु-ग्राह्यता के कारण पाश्चात्य विद्वान् इसका बहुत आदर करते हैं। डिरिंजर इत्यादि अन्य विद्वानों ने भी लिपियों के कुल-वृक्ष लगभग

(शेष पृष्ठ १६ पर)
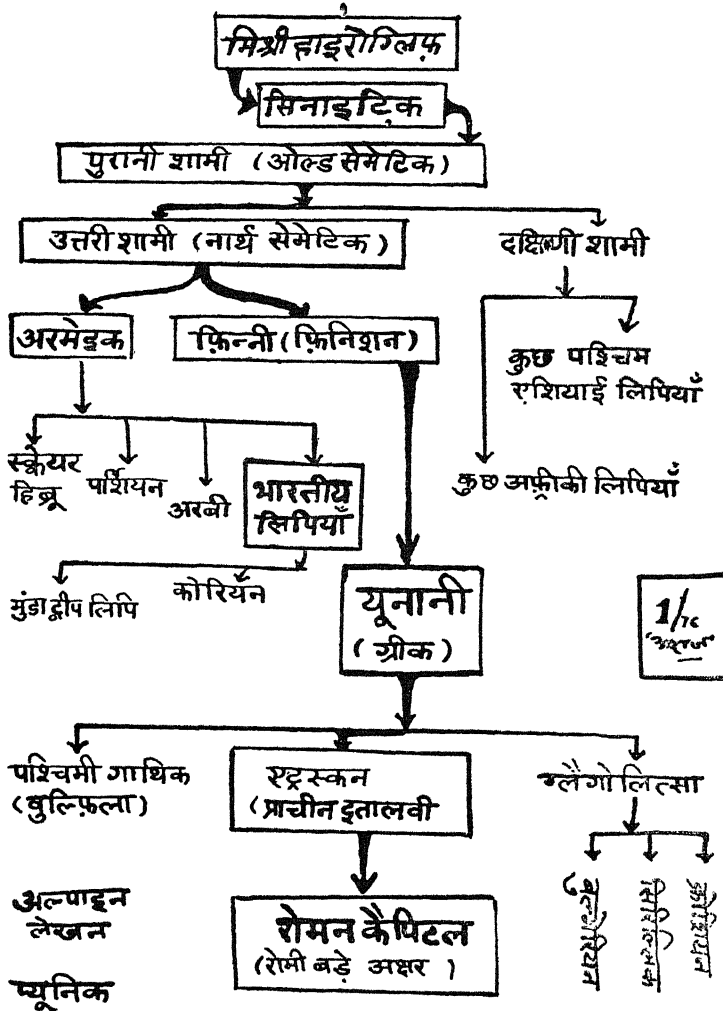
चित्र २ : १

ई० हैरिंग E. HERING द्वारा प्रस्तुत रोमन वर्णमाला की उत्पत्ति दिखाने वाले लिपियों के इस कुल-वृक्ष[10] का पश्चिम के विद्वान् इसलिए बहुत सम्मान करते हैं, क्योंकि लिपियों के परस्पर संबंध को स्पष्ट चित्रित करता है। मोटे तीरों की कल्पना हैरिंग की है। आयतें लगाने की कल्पना मेरी है। रोमन लिपि की पूर्वज लिपियों के अतिरिक्त हैरिंग के अनुसार भारतीय लिपियों से संबंधित (तथा-कथित पूर्वज) लिपियों को स्पष्टता के लिए आयतों से घेर दिया गया है, ताकि संदर्भ तुरन्त देखा जा सके। चित्र में विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि उत्तरी शामी से दो शाखाएँ फूटती हैं, एक से भारतीय लिपियाँ, दूसरी से रोमन की उत्पत्ति होती है।)

(पृष्ठ १४ से आगे)
इसी जैसे प्रस्तुत किए हैं। कम-से-कम पूर्व या पश्चिम के उद्गम स्थान के विषय में उनके चित्र पश्चिम को मूल मानकर चलते हैं। सिंधु-घाटी की सभ्यता के मिलने के बाद इस धारणा को झूठा सिद्ध करने वाले अनेक तथ्य सामने आए हैं। समय-समय पर गौरीशंकर हीराचंद ओझा,[६] के० एन० शास्त्री,[७] प्रो० फतेहसिंह[८] तथा स्वामी शंकरानंद[९] जैसे विद्वानों ने अपनी पुस्तकों में बहुत तर्क-पूर्ण ढंग से पश्चिमी स्थापनाओं का खंडन किया, किंतु १९६५ ई० में यू० एन० ओ० द्वारा प्रदर्शित 'लेखन-कला' (दी आर्ट ऑफ़ राइटिंग) नामक प्रदर्शिनी तक पश्चिम के विचार ज्यों के त्यों अपने पुराने ढर्रे पर ही चल रहे थे। दूसरी ओर सन् १९७२ के १० दिसम्बर को छपे एस० आर० राओ के लेख[11] से स्पष्ट है कि पूर्व और पश्चिम के विचारों में बहुत बड़ी खाई है। जब तक सिंधु-लिपि के विषय में कुछ ज्ञात नहीं था, तब तक भारतीय लिपियों का आदि स्रोत ब्राह्मी लिपि मानी जाती थी। उस ब्राह्मी की उत्पत्ति को पश्चिमी विद्वानों ने किसी-न-किसी ऐसी लिपि से जोड़ना चाहा जो रोमन लिपि की पूर्वज रही हो। यूनानी से शामी तक (चित्र २:१, पृ० १५) की लिपियों में से ब्राह्मी की पूर्वज-लिपि ढूँढ़ने के प्रयत्न हुए।[12] इस प्रबन्ध में ब्राह्मी पर विचार करते समय उन सभी तर्कों पर विस्तार से विचार किया गया है। सिंधु-लिपि के प्राप्त होने पर नई समस्या खड़ी हुई कि सिंधु-लिपि की उत्पत्ति कैसे हुई। सिंधु-लिपि की प्राचीनता को देखते हुए कुछ पश्चिमी विद्वानों ने उसे मिश्र, सुमेरिया इत्यादि की प्राचीन लिपियों से उत्पन्न सिद्ध करने के प्रयत्न किए, तो कुछ ने उसे 'द्रविड-लिपि' कहकर 'आर्यों से भिन्न' किसी जाति की लिपि सिद्ध करने का प्रयत्न किया।[13] इस प्रबन्ध के अध्याय ३ में सिंधु-लिपि पर विचार करते समय इन सभी तर्कों पर विस्तार से विचार किया गया है। पश्चिम के इन विद्वानों के उत्पत्ति-सिद्धान्तों का सार यह है कि भारतीय-लिपियों का मूल-स्रोत पश्चिम में मिश्र के आसपास के किसी प्रदेश की कोई प्राचीन लिपि है।

२:२:२ : **भारतीय दृष्टिकोण** : भारतीय लिपियों की उत्पत्ति के विषय में उपर्युक्त यूरोपीय दृष्टिकोण का विरोध अनेक विद्वान् बहुत काल से करते आ रहे हैं। इनमें भारतीय ही नहीं, कई विदेशी विद्वान् भी सम्मिलित हैं। आर० शाम शास्त्री,[14] बाबू जगन्मोहन वर्मा,[15] गौरीशंकर हीराचंद ओझा[16] प्रभृति भारतीय विद्वान् और एडवर्ड थामस,[17] जनरल कनिंघम[18] प्रभृति यूरोपीय विद्वान् ब्राह्मी को भारतीयों द्वारा निर्मित स्वतंत्र लिपि मानते हैं। सिंधु-लिपि के प्राप्त होने तक भारतीय विद्वान् लिपि-विषयक अनुसंधान में सजग हो चुके थे, अतः सिंधु-लिपि पर पश्चिम के विचारों का प्रारंभ से ही विरोध हुआ। मोहनजोदड़ो को सर्वप्रथम प्राप्त करने वाला भारतीय विद्वान् डॉ० राखालदास बनर्जी, सर जॉन मार्शल का विरोध करने के फलस्वरूप नौकरी से हाथ धो बैठा और अकाल-मृत्यु का ग्रास बना।[19] तब से के० एन० शास्त्री,[20] स्वामी शंकरानंद,[21] डॉ० फतेहसिंह[22] इत्यादि अनेक विद्वानों ने न केवल यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सिंधु-लिपि की उत्पत्ति भारत में ही हुई, वरन् यह भी कि सिंधु-लिपि

से ही भारतीय और विश्व के अन्य क्षेत्रों की महत्त्वपूर्ण प्राचीन लिपियों का विकास हुआ। सिंधु-लिपि एवं ब्राह्मी लिपि पर विचार करते समय अगले अध्यायों में विविध मतों का विस्तृत विवेचन किया गया है। भारतीय दृष्टिकोण का सार-तत्त्व यह रहा है कि भारतीय लिपियों का मूल किसी विदेशी लिपि में नहीं है, वरन् भारतीयों ने स्वयं ही लिपि का आविष्कार किया है।

२:३ : **लिपि के तीन सोपान** : लिपि का प्राचीनतम रूप क्या था ? उसके स्वरूप का विकास किस क्रम से हुआ ? इन समस्याओं का समाधान सरल नहीं है। लिपि की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के विकास-क्रम के विषय में अनेक मत हैं। एम० कोहन ने उचित ही कहा है कि लेखन के इतिहास को किन्हीं क्रमिक घटनाओं की श्रृंखला के रूप में सरलता से ग्रहण नहीं किया जा सकता, क्योंकि भिन्न-भिन्न स्थानों पर इसकी उत्पत्ति और विकास भिन्न-भिन्न प्रकार से हुए हैं।[२३] मोटे रूप से विद्वानों ने लिपि-विकास के तीन सोपान माने हैं—

(१) चित्र-लिपि
(२) भाव-लिपि
(३) ध्वनि-लिपि।[२४]

इनमें से द्वितीय को 'भाव-मूलक'[२५] लिपि और तृतीय को 'ध्वनि-मूलक लिपि'[२६] भी कहा जाता है। इनके सूक्ष्म भेद-उपभेद भी किए गए हैं। ये उपभेद तीन अवस्थाओं में से किसी एक की प्रधानता और दूसरी अवस्था का प्रभाव अथवा दो अवस्थाओं के मध्य की स्थिति दिखाने के लिए किए गए हैं। उक्त तीन प्रधान अवस्थाओं को समझना आवश्यक है, अत: तीनों अवस्थाओं का स्वरूप नीचे स्पष्ट किया गया है।

२:३:१ : **चित्र-लिपि** : इस अवस्था की लिपि में चित्र ही लिपि-संकेत का कार्य करता है। वह उसी वस्तु को अभिव्यक्त करता है, जिसका वह चित्र हो। वह उसके अतिरिक्त किसी वस्तु, भाव या ध्वनि को अभिव्यक्त नहीं करता। उदाहरणार्थ 'सूर्य' को लिखने के लिए एक वृत्त और उसके आसपास किरणें बना देना[२७] या "मनुष्य लिखना हुआ तो रेखाओं की सहायता से उसकी आकृति अंकित" कर देना[२८] चित्र-लिपि के संकेत होंगे। "चित्र-लिपि में अंकित चित्र का उच्चरित ध्वनि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।"[२९] उदाहरणार्थ, सिंधु-लिपि के दो संकेत इस प्रकार हैं।[३०]
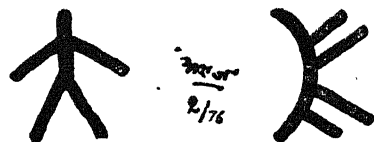
चित्र २:२

यहाँ बाएँ से प्रथम संकेत 'मानव' का 'चित्र' प्रतीत होता है। यदि वह चित्र-लिपि का संकेत है, तो इसे 'मानव', 'मनुज', 'मनुष्य', 'इंसान', 'आदमी', 'मैन' इत्यादि कुछ

भी पढ़ा जा सकता है, उसका अर्थ 'मानव' होना चाहिए। दूसरा संकेत 'सूर्य' का चित्र प्रतीत होता है, अतः चित्र-लिपि का संकेत होने पर उसे 'सूर्य' अर्थ देने वाले 'रवि', 'दिनकर' इत्यादि किसी शब्द द्वारा पढ़ा जा सकता है। स्पष्ट है कि ऐसा **चित्र-संकेत** **'ध्वनि'** को अभिर्व्यक्त नहीं करता, वरन् 'अर्थ' को अभिव्यक्त करता है। परिणामतः संकेत की आकृति के आधार पर ऐसी लिपि **'चित्र-लिपि'** कही जा सकती है, तो अभिव्यक्ति के आधार पर वह **'अर्थ-बोधक'** होती है। रेखाओं में लिखा होने के कारण 'मनुष्य' और 'सूर्य' का अर्थ देने वाला यह अंकन **'अर्थ-बोधक लेखन'** है। इसके विपरीत यदि प्रथम संकेत 'क' ध्वनि को और दूसरा संकेत 'र' ध्वनि को लिखने के लिए हो, तो यह 'चित्र-लिपि' 'अर्थ-बोधक' न होकर **'ध्वनि-बोधक'** अथवा **'उच्चारण-बोधक'** होगी। क्योंकि चित्र-संकेत का सम्बन्ध ध्वनि से जुड़ जाने पर यह लिपि आज की नागरी की तरह ही 'कर' या 'रक' शब्दों को ध्वनियों के आधार पर लिखने की क्षमता रखती है। (देखिए चित्र २:३)
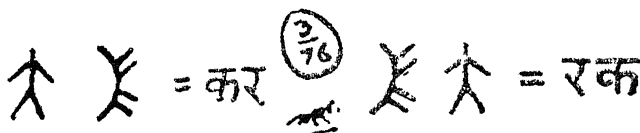
चित्र २ : ३

'चित्र-लिपि' शब्द जिस पारिभाषिक अर्थ में प्रचलित है, वह 'अर्थ-बोधक' लिपि ही होती है। उच्चारण-बोधक चित्रों को चित्र-लिपि नहीं कहा जा सकता।

२:३:२ : **भाव-लिपि :** भाव-लिपि चित्र-लिपि का ही विकसित रूप है। भाव-लिपि (अथवा भाव-मूलक लिपि) चित्र-लिपि और ध्वनि-लिपि के मध्य की अवस्था की लिपि मानी जाती है। इस अवस्था को चित्र-लिपि की अवस्था से पृथक् दिखाने के लिए दो प्रकार की व्याख्या दी जाती है। इनमें से एक व्याख्या 'आकृति' का अन्तर स्पष्ट करती है तो दूसरी 'अभिव्यक्ति' का। ये व्याख्याएँ इस प्रकार हैं—

(१) **आकृति-मूलक व्याख्या :** देवेन्द्रनाथ के अनुसार चित्र-लिपि में चित्र संकेत का कार्य करता है। चित्र बनाना सरल नहीं होता, अतः धीरे-धीरे चित्रों का सरलीकरण होता रहता है, परिणामतः लिपि-संकेत चित्रों के स्थान पर **'चित्राभास'** का रूप लेते हैं। "इसीलिए वैसे चित्रों का बोध 'भाव-लिपि' शब्द द्वारा कराया जाता है। वे संकेत चित्र न होकर चित्र से उत्पन्न होने वाले भाव को स्थूलता से अंकित कर देते" हैं।[३१] इस व्याख्या के अनुसार यहाँ चित्र २:३ में दिखाया गया 'रक' एवं 'कर' शब्दों का मनुष्य और सूर्य के 'चित्राभास' संकेतों द्वारा लेखन आकृति के स्तर पर 'भाव-लिपि' अवस्था का है किंतु वह ध्वनि-बोधक होने के स्तर पर भाव-लिपि से उन्नत है। चित्र २:२ में अंकित 'मनुष्य' और 'सूर्य' स्पष्ट चित्र नहीं हैं, चित्राभास हैं और

स्थूलता से भाव अंकित करते हैं। अतः 'मनुष्य और सूर्य' अर्थ देने पर यह भाव-लिपि का उदाहरण उपस्थित करते हैं।

(२) **अभिव्यक्ति-मूलक व्याख्या** : डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार "चित्र-लिपि में चित्र वस्तुओं को व्यक्त करते" हैं, "पर भाव-लिपि में स्थूल वस्तुओं के अतिरिक्त भावों को भी व्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, चित्र-लिपि में सूर्य के लिए एक गोला बनाते थे पर भावमूलक लिपि में यह गोला सूर्य के अतिरिक्त सूर्य से सम्बद्ध अन्य भावों को भी व्यक्त करने लगा, जैसे सूर्य देवता, गर्मी, दिन तथा प्रकाश आदि।"[३२] इस व्याख्या का सम्बन्ध संकेत की आकृति के विकास से नहीं है, वरन् अभिव्यक्ति के विकास से है। इस प्रबन्ध के चित्र २:२ में अंकित मनुष्य और सूर्य का अर्थ 'धूप में मनुष्य' हो तो उसे भाव-लिपि के स्तर का लेखन कहेंगे।

इन दोनों व्याख्याओं से 'भाव-लिपि' का जो पारिभाषिक स्वरूप स्पष्ट होता है, वह चित्र-लिपि के निकट है और ध्वनि-लिपि से दूर। चित्र-लिपि और भाव-लिपि में निम्नलिखित गुण समान हैं—

(१) इनके संकेतों की आकृतियाँ चित्रों पर आधारित होती हैं।

(२) इनका ध्वनि से सम्बन्ध नहीं होता।

उक्त गुणों के कारण भाव-लिपि भी अभिव्यक्ति के आधार पर 'अर्थ-बोधक' ही होती है, '**उच्चारण-बोधक**' नहीं होती।

२:३:३ : **ध्वनि-लिपि** : एक अथवा अनेक ध्वनियों के लिए विशिष्ट संकेत का प्रयोग करना ध्वनि-लिपि का प्रमुख आधार है। इसे '**ध्वन्यात्मक लेखन**' अथवा '**ध्वनि-मूलक लेखन**' भी कहा जाता है। ध्वनि-लिपि के उदाहरण के रूप में देवनागरी, रोमन, अरबी आदि को ले सकते हैं।[33] ऐसे लेखन को **अभिव्यक्ति** के आधार पर '**उच्चारण-बोधक**' कहना चाहिए। इसका सम्बन्ध संकेत की आकृति से न होकर संकेत की अभिव्यक्ति से ही है। इस प्रबन्ध के चित्र २:३ में दिखाया गया 'कर' और 'रक' का लेखन संकेतों की आकृतियों के चित्रात्मक होने के कारण 'चित्र-लिपि' का उदाहरण है तो दूसरी ओर वही लेखन अभिव्यक्ति के आधार पर '**ध्वनि-लिपि**' अथवा '**उच्चारण-बोधक लेखन**' का उदाहरण भी है।

२:४ : **ध्वनि-लिपि के भेद** : ध्वनि-लिपि को मनुष्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि माना जाता है। लिपियों के विकास की अवस्था का निर्णय करते समय ध्वनि-लिपि को चित्र-लिपि अथवा भाव-लिपि से अधिक विकसित लिपि माना जाता है। आज संसार के बहुत बड़े भाग पर ध्वनि-लिपियाँ ही प्रचलित हैं। उनके स्तरों का निर्णय करने के लिए ध्वनि-लिपि के दो महत्त्वपूर्ण भेद माने गए हैं—

(१) अक्षरात्मक (syllabic)

(२) वर्णात्मक (alphabetic)[३४]

इस विभाजन के परिणामस्वरूप कुछ विवाद भी उठ खड़ा हुआ है। एक ओर इस विभाजन पर देवेन्द्रनाथ शर्मा की टिप्पणी है—"कुछ लोगों ने देवनागरी को अक्षर-

मूलक (सिलेबिक) और रोमन को वर्णमूलक (अल्फ़ाबेटिक) लिपि माना है और अक्षरमूलक लिपि की अपेक्षा वर्णमूलक लिपि को उत्कृष्ट बताया है, किंतु ये दोनों ही स्थापनाएँ अग्राह्य हैं।"[३५] इसके विपरीत डॉ० भोलानाथ तिवारी का विचार है—"ध्वनि मूलक में भी अक्षरात्मक ध्वनि-मूलक लिपि प्रारंभिक है, और वर्णात्मक ध्वनि-मूलक लिपि उससे विकसित तथा बाद की है।"[३६] ध्वनि-लिपि के इन भेदों के महत्त्व के कारण इनके अन्तर को नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

२:५ : **अक्षरात्मक ध्वनि-लिपि** : **'अक्षरात्मक'** शब्द गढ़ते समय प्रचलित भाषा-विज्ञान में 'अक्षर' शब्द को अंग्रेज़ी के **'सिलेब्ल'** (syllable) के पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है, जबकि **'अक्षर'** का सम्बन्ध लिखित संकेत से है और अंग्रेज़ी के 'सिलेब्ल' का मूल उच्चरित ध्वनियों में है। 'भाषित'-सम्बन्धी शब्द के लिए 'अंकित'-सम्बन्धी शब्द के प्रयोग से जो भ्रमपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसके निवारण के लिए 'सिलेब्ल' शब्द के प्रयोग में पश्चिमी दृष्टि और 'अक्षर' शब्द के प्रति परम्परागत पूर्वी दृष्टि को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। अतः यहाँ दोनों दृष्टियों का विश्लेषण किया जा रहा है।

२:५:१ : सिलेबिक राइटिंग अर्थात् आघातीय लेखन : डॉ भोलानाथ तिवारी के अनुसार "**अक्षरात्मक लिपि में चिह्न**[३७] किसी अक्षर (syllable) को व्यक्त करता है, **वर्ण** (alphabet) को नहीं।"[३८] इसी 'अक्षर' को डॉ० बाबूराम सक्सेना 'ध्वनि-समूह' कहते हैं।[३९] डॉ० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने इसे बहुत स्पष्ट शब्दों में यों कहा है—" 'सिलेबिक' शब्द अंग्रेज़ी के सिलेबल से बना है। एक सिलेबल में उतनी ध्वनियों की गणना होती है, जिनका एक-साथ उच्चारण किया जाता है। इस दृष्टि से 'अब तक', 'तब तक', 'चन्दन', 'ताण्डव' का सिलेबिक रूप होगा (अब्, तक्) ; (तब्, तक्) ; (चन्, दन्) ; (ताण्, डव्)।"[४०] इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि एक शब्द को हम जितने खंडों में तोड़कर बोलते हैं, उसके उतने ही 'सिलेब्ल' होंगे। उच्चारण का वह ध्वनि-समूह जिसे अंग्रेज़ी में एक 'सिलेब्ल' माना जाता है, एक ही **'आघात'** में बोला जाता है, अतः **'सिलैबिक राइटिंग'** को हिंदी में **'आघातीय लेखन'** कहना अधिक उपयुक्त है। सिलैबिक राइटिंग का यह अनिवार्य गुण है कि उच्चारण के एक आघात (सिलेब्ल) के लिए एक संकेत का ही प्रयोग किया जाए। अंग्रेज़ी का पारिभाषिक शब्द जिसे 'सिलैबिक राइटिंग' मानता है, उसके अनुसार 'अब तक' को दो संकेतों द्वारा लिखा जाना चाहिए। स्पष्ट है कि नागरी में आघातीय लेखन (सिलैबिक राइटिंग) नहीं होता, अतः नागरी से आघातीय लेखन के उपयुक्त उदाहरण नहीं दिए जा सकते। सौभाग्य से जापानी 'कतकन' लिपि अभी जीवित है, जिसे आघातीय लेखन का सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है।[४१] ('कतकन' लिपि की आघातीय संकेत-सूची पृष्ठ २१ पर चित्र २:४ में देखिए[४२]) इस संकेतमाला के संकेतों की तुलना करने से उनकी आघातीय प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। नागरी की लेखन-पद्धति से तुलना करने पर आघातीत संकेतों की विशिष्टता और अधिक स्पष्ट हो जाती है। कतकन के 'क' और

'न' दो भिन्न-भिन्न संकेत हैं। नागरी में भी यही स्थिति है। कतकन में 'अ', 'इ' इत्यादि स्वरों के लिए भिन्न-भिन्न संकेत हैं। नागरी में भी यही स्थिति है। निष्कर्षतः,

चित्र २:४

[इस चित्र में कतकन (जापानी) लिपि के पूरे ४७ संकेत दिखाए गए हैं। बिंदुओं द्वारा प्रदर्शित रिक्त-स्थानों-वाले आघात जापानी भाषित में नहीं होते, अतः उनके संकेत भी नहीं होते। जापानी भाषा में 'ए' और 'ओ' तथा इनसे बने 'के, 'को' इत्यादि आघातों में ये स्वर ह्रस्व ही होते हैं। प्रत्येक आघात पृथक् ही बोला जाता है।]

कतकन और नागरी में यह साम्य है कि इनमें से प्रत्येक लिपि में प्रत्येक ध्वनि-ग्राम के लिए विशिष्ट संकेत है। नागरी में 'क' से 'के' बनाने के लिए 'ए' का विकृत रूप '`' ('ए' की मात्रा) 'क' पर जोड़ा जाता है। इसी नियम के अनुसार 'न' से 'ने', 'व' से 'वे' इत्यादि बनाए जाते हैं। इस प्रकार विशेष नियम से ध्वनि-समूह को मिलाकर एक 'अक्षर' बनता है, जिसमें एकाधिक ध्वनि-ग्रामों के संकेत तो हो सकते हैं, किंतु उनका एक ही **'आघात'** होना आवश्यक नहीं है। 'सर्व' शब्द के लिखित रूप में दो अक्षर हैं—(१) स, (२) र्व। इसके उच्चरित रूप में दो आघात हैं—(१) सर्, (२) व। नागरी में जिस प्रकार नियम-विशेष से ध्वनिग्रामों के एकाधिक संकेतों को जोड़कर 'अक्षर' बनाया जाता है, उस प्रक्रिया को **'संयोजन'** कहते हैं। उनमें वर्गीय साम्य और संयोजन का नियम स्पष्ट देखा जा सकता है। नागरी के क, कि, कु, के, को इत्यादि अक्षरों में 'क' अपने मूल-रूप में सर्वत्र विद्यमान है। इनमें इ, उ, इत्यादि स्वरों का संयोजन जिस विधि से किया गया है, ठीक उसी विधि से न, नि, नु, ने, नो इत्यादि में भी होता है। कतकन में क, कि, कु, के, को इत्यादि एक ही व्यंजन से बने आघात-संकेतों में किसी प्रकार का वर्गीय साम्य ढूँढना व्यर्थ है। आघातीय लेखन का आधार यह है कि उसमें प्रत्येक उच्चरित एक आघात के लिए एक स्वतंत्र संकेत होता है और उस एक संकेत के अन्दर अभिव्यक्त ध्वनियों के लिए पृथक्-पृथक् संकेत संयोजित नहीं होते।

२:५:२ : **'वर्ण-मूलक' संयोजित आक्षरिक लेखन** : परम्परागत भारतीय दृष्टि के अनुसार **'अक्षर'** जिस इकाई का वाचक है, उसका अर्थ है **'एक या अनेक ध्वनि-ग्रामों को अंकित करने के लिए प्रयुक्त किया गया एक माना जानने वाला संकेत'**। उसका सम्बन्ध केवल लिखने की सुविधा से है। उसे एक ही आघात में बोला जाना आवश्यक नहीं है। अतः 'अक्षर' 'भाषित' की इकाई नहीं, 'अंकित' की इकाई है। उदाहरणार्थ, 'अ' भाषित की इकाई के रूप में एक 'ध्वनिग्राम' है, तो अंकित की इकाई के रूप में एक 'अक्षर' है। वह सर्वत्र एक 'आघात' भी हो, यह आवश्यक नहीं है। उसका एक स्वतन्त्र आघात होना या किसी आघात का अंश-मात्र होना शब्द विशेष के उच्चारण पर निर्भर करता है। 'असल' शब्द का उच्चारण है 'असल्' अतः इस शब्द में 'अ' **'स्वतन्त्र आघात'** है। इसके विपरीत 'अभ्र' शब्द के दो आघात हैं—(१) अभ् और (२) र। अतः 'अभ्र' में 'अ' 'आघात का अंश' है, स्वतन्त्र आघात नहीं है। आघातीय लेखन में भी 'अक्षर' होते हैं किंतु वे **'आघात-मूलक'** होते हैं। इसके विपरीत नागरी जैसी भारतीय लिपियों में 'अक्षर' ध्वनि-ग्राम-मूलक संकेतों को संयोजित करके बनाए जाते हैं, अतः वे आघात-मूलक नहीं होते। 'अभ्र' में दो अक्षर लिखे गए हैं—(१) 'अ' और (२) 'भ्र'। न तो 'अ' ही उच्चारण का एक आघात है और न 'भ्र' ही एक आघात है। 'अ'-अक्षर 'अभ्' आघात का अंश है और 'भ्र'-अक्षर में 'अभ्' आघात का अंश 'भ्' और पूरा 'र'-आघात है। नागरी में 'अभ्र' की लेखन-प्रक्रिया में निम्नलिखित सिद्धांतों का प्रयोग किया गया है—

(१) प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए एक मूल-संकेत निश्चित किया गया। 'अभ्र' के प्रसंग में 'अ, भ्, र् और अ' मूल-संकेत हैं।

(२) लिखने के लिए विशेष नियम बनाकर उन्हें जोड़ा गया। इसे पारिभाषिक शब्दावली में कहा जाएगा—मूल-संकेतों को 'संयोजित' करके लिखा गया। 'अभ्र' के प्रसंग में 'भ्' के मूल-रूप 'भ', 'र्' के विकृत-रूप '्र' और 'भ' में अन्तर्भूत 'अ' ('।') को संयोजित अक्षर 'भ्र' के रूप में लिखा गया।

नागरी जैसी **संयोजित आक्षरिक लेखन** की पद्धतियों में 'क', 'के', 'को' अक्षरों को 'क' से बनाया जाता है। इन पद्धतियों में 'क', 'ख' इत्यादि व्यंजनों में **अन्तर्भूत 'अ'** (इन्हैरैन्ट 'अ') को भले ही 'अवैज्ञानिक' कहा जाए क्योंकि वह 'के', 'को' जैसे अक्षरों में लिखा होने पर भी पढ़ा नहीं जाता तथा सभी व्यंजनों में समान नियम से संयोजित नहीं होता[४३] किन्तु 'के' और 'को' बनाने के लिए 'क्+ए' और 'क्+ओ' का **नियम-बद्ध संयोजन** किया जाता है। यदि ऐसा न होता तो ठीक 'के' की भाँति 'से', 'पे' इत्यादि और ठीक 'को' की भाँति 'सो', 'पो' इत्यादि अक्षर न बनते। अतः भारतीय लिपियों के 'अक्षर' जो **'संयोजन'** के आधार पर बने हैं, अंग्रेजी के 'सिलेब्ल' के पर्याय नहीं हैं, न ही 'संयोजन-परक लिपियाँ सिलैबिक राइटिंग (आघातीय लेखन) की भाँति तथाकथित वर्णात्मक (अल्फ़ाबेटिक) लिपियों से पूर्व की अवस्था की हैं। श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा इस अन्तर को शायद महसूस करते हैं। यद्यपि उन्होंने इस तथ्य को पूरी तरह स्पष्ट नहीं किया, तथापि उनका मत इस तथ्य के निकट है। उनका मत है—'कुछ लोगों ने देवनागरी को अक्षरमूलक (सिलेबिक) और रोमन को वर्ण-मूलक (अल्फ़ाबेटिक) लिपि माना है और अक्षरमूलक लिपि की अपेक्षा वर्ण-मूलक लिपि को उत्कृष्ट बताया है। किन्तु ये दोनों ही स्थापनाएँ अग्राह्य हैं। देवनागरी भी वर्णमूलक लिपि है, उसे अक्षरमूलक कहना संगत नहीं है।'[४४]

२:५:३ : **संयोजित और आघातीय लेखन का अंतर** : इन दोनों प्रकार की लिपियों में जिन संकेतों का प्रयोग होता है, उन्हें निम्नलिखित दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है—

(१) **'एक' ध्वनिग्राम के लिए 'एक' संकेत**—प्रायः स्वर ही ऐसे ध्वनिग्राम हैं जिनके लिए स्वतन्त्र संकेत हैं। रोमन के 'ए', 'ई', 'आइ', 'ओ' और 'यू';[४५] नागरी के 'अ', 'आ', 'इ', 'ई', 'ओ' इत्यादि स्वर-संकेत तथा जापानी कतकन (चित्र २:४, पृष्ठ ३१) के 'अ', 'इ', 'उ', 'ए' और 'ओ'—इनमें 'एक ध्वनि-ग्राम के लिए एक संकेत' का नियम ही संकेत-निर्माण का आधार है।

(२) **'एकाधिक' ध्वनिग्रामों के लिए 'एक' संकेत**—जापानी कतकन के चित्र २:४ (पृष्ठ ३१) के प्रथम पाँच स्वर-संकेतों को छोड़कर शेष सभी संकेत और नागरी के स्वर-संकेत, स्वर-रहित व्यंजन ('द्', 'प्' इत्यादि की तरह हलंत अथवा 'ट', 'म' की तरह अंगहीन रूप में), अनुस्वार और विसर्ग को छोड़कर शेष सभी संकेत 'एकाधिक ध्वनिग्रामों के लिए एक संकेत' के नियम के अनुसार ही निर्मित होते हैं। इन्हीं संकेतों

के कारण इनका पृथक् वर्गीकरण किया गया और जहाँ भी 'एकाधिक' ध्वनिग्राम के लिए 'एक' संकेत का प्रयोग मिला वहाँ उसे 'सिलैबिक राइटिंग' के वर्ग का घोषित किया गया। वस्तुत: इन लिपियों में अनेक ध्वनिग्रामों को एक ही संकेत द्वारा लिखने के दो अलग-अलग आधार हैं। वे निम्नलिखित हैं—

(क) उच्चारण के एक आघात का आधार।

(ख) 'एक ध्वनिग्राम के लिए एक संकेत' के आधार पर 'आधार-संकेत' बनाकर उन्हें मिलाकर लिखने के नियमों द्वारा संयोजित अक्षर बनाने का आधार।

आघातीय अक्षर और संयोजित अक्षर में निम्नलिखित अन्तर उन्हें दो पृथक् वर्गों में बाँटते हैं—

(क) आघातीय अक्षर का उच्चारण एक आघात में समाप्त हो जाता है, संयोजित अक्षर का उच्चारण एक आघात तक सीमित नहीं होता। चीनी वर्ग के 'क्वाङ्', 'ह्वो, 'त्सों' इत्यादि आघातीय लेखन में एक-एक संकेत द्वारा लिखे जाते हैं और एक-एक आघात में उच्चरित होते हैं, जबकि नागरी— जैसी लिपियों के 'र्वी', 'क्षा', 'प्र' इत्यादि अक्षर एक-एक संकेत द्वारा लिखे जाते हैं, किंतु एक-एक आघात में नहीं बोले जाते।

(ख) प्रत्येक आघातीय अक्षर का स्वतन्त्र निर्माण होता है। वह समग्र रूप से एक पृथक् इकाई होता है। उसमें जिन ध्वनिग्रामों का उच्चारण सम्मिलित होता है, उसके पृथक्-पृथक् अंश नहीं देखे जा सकते। उदाहरणार्थ जापानी कतकन के 'कु' अक्षर में से 'क्' और 'उ' के संकेतों को पृथक् नहीं किया जा सकता। संयोजित अक्षर में जिन ध्वनिग्रामों का उच्चारण सम्मिलित होता है, उनके पृथक्-पृथक् अंश देखे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ 'र्वी' अक्षर को 'र्' (र्), 'व' (यहाँ अर्थ है 'व्') और 'ी' ('ई') में विभाजित किया जा सकता है। 'क्ष' जैसे अपवाद ऐसे ही नगण्य समझे जाने चाहिएँ जैसे रोमन में 'एक्स' को अक्षर होते हुए भी उपेक्षित कर दिया जाता है। ऐसे अपवाद लिपि के दोष तो होते हैं, लिपि की मूल-प्रकृति के निर्धारक नहीं होते।

(ग) आघातीय अक्षर में संयोजन के नियम का प्रश्न ही नहीं उठता, जबकि संयोजित अक्षर बनाने के लिए नियम आवश्यक हैं। उदाहरणार्थ, नागरी में मात्रा लगाने के नियम, हलंत का नियम, पाई हटाकर स्वर-रहित बनाने का नियम, र् के रेफ ('र्') होने का नियम इत्यादि अनेक नियम संयोजन की प्रक्रिया निर्धारित करते हैं।

२:५:४ : अक्षर की समान परिभाषा : संयोजित लेखन और आघातीय लेखन में भिन्न-भिन्न आधारों पर 'अक्षर' बनते हैं, किंतु उनमें कम से कम यह समानता अवश्य है कि इन पद्धतियों में प्रत्येक अक्षर जिस इकाई के रूप में प्रयुक्त होता है, उसमें एकाधिक ध्वनिग्राम भी हो सकते हैं और एक ध्वनिग्राम भी। आघातीय लेखन में ध्वनिग्रामों की स्थिति निम्नलिखित वर्गों में सम्भव है—

(क) केवल एक स्वर। उदाहरणार्थ, 'अ', 'इ', 'ओ' इत्यादि।[४६]

(ख) व्यंजन और स्वर। उदाहरणार्थ, 'कु', 'से' इत्यादि।[४७]

(ग) व्यंजन, व्यंजन और स्वर। उदाहरणार्थ, 'त्सु'।[४८]
(घ) व्यंजन, स्वर और व्यंजन। उदाहरणार्थ, 'फ़ङ्'।[४९]
(ङ) स्वर और व्यंजन। उदाहरणार्थ, 'इङ्'।[५०]
(च) ...व्यंजन, व्यंजन, स्वर और व्यंजन। उदाहरणार्थ, 'ह्स्वेह्'।[५१]
(छ) स्वर, व्यंजन और व्यंजन। उदाहरणार्थ, 'ए र् ह्'।[५२]

इसके विपरीत संयोजित लेखन के अक्षरों में ध्वनिग्रामों की स्थिति के अनुसार अक्षर दो वर्गों में बाँटे जा सकते हैं—(अ) ध्वनि-मूलक संयोजित अक्षर और (आ) आकृति-मूलक संयोजित अक्षर। इन दोनों का पृथक्-पृथक् विवेचन निम्नलिखित है—

(अ) ध्वनि-मूलक संयोजित अक्षर—नागरी जैसी भारतीय लिपियों में ध्वनि के आधार पर संयोजन किया जाता है। इनमें स्वर के बाद व्यंजन उसी अक्षर में संयोजित नहीं होता। ऐसे अक्षर में ध्वनिग्रामों की स्थिति निम्नलिखित वर्गों में सम्भव है—

(१) अकेला स्वर। उदाहरणार्थ, 'अ', 'ई' इत्यादि।
(२) अकेला व्यंजन। उदाहरणार्थ, 'द्', 'क्' इत्यादि।
(३) व्यंजन और स्वर। उदाहरणार्थ, 'प', 'पे' इत्यादि।
(४) एकाधिक व्यंजन। उदाहरणार्थ, 'क्ष्', 'त्र्' इत्यादि।
(५) एकाधिक व्यंजन और स्वर। उदाहरणार्थ, 'क्ष', 'क्षे', 'त्रि' इत्यादि।

(आ) आकृति-मूलक संयोजित अक्षर—उर्दू जैसी अरबी वर्ग की लिपियों में आकृति के आधार पर संयोजन किया जाता है। उदाहरणार्थ आ (अलिफ़) और ए (ये) दोनों स्वर हैं किंतु 'काला' और 'केला' लिखते समय उर्दू में 'आ' पर अक्षर समाप्त हो जाता है, जबकि 'ए' पर अक्षर समाप्त नहीं होता। परिणामतः 'काला' के लिए दो अक्षर लिखे जाते हैं – (१) 'का' और (२) 'ला'। 'केला' शब्द एक ही अक्षर से लिखा जाता है। इसका कारण यह है कि 'अलिफ़' (अ और आ स्वर बनाने वाला संकेत) **'असंयुज्य आकृति'** का है और 'ये' (ई और ए बनानेवाला संकेत) **'संयुज्य आकृति'** का है। आकृति-मूलक संयोजन वाली लिपियों के संकेतों को संयुज्य और असंयुज्य वर्गों में बाँटकर, उस वर्गीकरण के अनुसार संयोजन होता है। यदि किसी शब्द के सभी ध्वनिग्रामों के संकेत संयुज्य वर्ग के हों, तो पूरा शब्द एक अक्षर हो जाता है। उदाहरणार्थ उर्दू के 'केला', 'मुहम्मद', 'फैले', 'मुख्तलिफ्' इत्यादि एकाक्षरी शब्द हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'अक्षर' संकेत के निर्माण के कई आधार हैं जिनके कारण अक्षरों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है—(१) **आघातीय अक्षर** और। (२) **संयोजित अक्षर**। संयोजित अक्षर के पुनः दो प्रकार हैं—

(१) **ध्वनि-मूलक संयोजित अक्षर** और (२) **आकृति-मूलक संयोजित अक्षर**।

इन भेदों के होते हुए भी अक्षरों में निम्नलिखित समान गुण होते हैं—

(१) अक्षर ध्वनि-लिपि का संकेत होता है। उसकी ध्वनि निश्चित होती है।

(२) अक्षर एक संकेत माना जाता है चाहे वह एक ध्वनिग्राम का बोधक हो, अनेक ध्वनिग्रामों का या एक आघात का।

(३) अक्षर अंकित की इकाई है। उच्चारण के किसी अंश या अंश-संघात के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग असंगत होता है।

(४) अक्षर में एकाधिक ध्वनियों के उच्चारण को अंकित करने की क्षमता होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उस उच्चरित ध्वनि समुच्चय के सभी अवयव अक्षर-संकेत में पृथक्-पृथक् दिखाई दें।

निष्कर्षत: 'अक्षर' की ऐसी परिभाषा जिसमें उक्त सभी वर्गों के अक्षरों को गिना जा सकता है, इस प्रकार है – **अक्षर लेखन की वह इकाई है जो एक या अनेक ध्वनिग्रामों को संयोजित अथवा मूल-संकेत के रूप में इस विधि से लिखने से बनती है कि उसे केवल एक संकेत माना जा सके, भले ही उसके उच्चरित ध्वनि-समुच्चय के सभी अवयव उसमें पृथक्-पृथक् दिखाई दें या नहीं।**

२:६ : 'वर्णात्मक' ध्वनि-लिपि—पारिभाषिक शब्द के रूप में **'वर्णात्मक ध्वनि-लिपि'** शब्द अंग्रेजी के **'अल्फाबेटिक फोनेटिक स्क्रिप्ट'** शब्द का अनुवाद है। इस शब्द का पारिभाषिक रूप में प्रयोग करने वाले भाषा-वैज्ञानिक इसका वही अर्थ मानते हैं जो पश्चिम के भाषा-वैज्ञानिक 'अल्फ़ाबेटिक फ़ोनेटिक स्क्रिप्ट' का मानते हैं। परम्परागत भारतीय वर्ण-शब्द के साथ इसकी अन्विति है या नहीं, इसके परीक्षण का प्रयास नहीं किया गया। अत: इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ समझने के लिए अंग्रेज़ी के मूल शब्द को समझना आवश्यक है। तत्पश्चात् ही 'अल्फाबेट' और 'अल्फ़ाबेटिक' के हिंदी-पर्याय निश्चित किए जा सकते हैं। 'अल्फ़ाबेटिक' और 'सिलैबिक' दोनों ही 'फ़ोनेटिक स्क्रिप्ट' (ध्वनि-लिपि) के भेद हैं। अत: 'ध्वनि' दोनों का समान आधार है। ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि पश्चिम के 'सिलैबिक राइटिंग' शब्द का अर्थ 'आघातीय लेखन' होता है और कतकन को उसका सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है। 'अल्फ़ाबेटिक राइटिंग' के लिए रोमन लिपि को सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है। अत: रोमन के गुणों की छानबीन से 'अल्फ़ाबेटिक राइटिंग' का तात्पर्य खोजा जा सकता है। रोमन और कतकन की तुलना से निम्नलिखित दो तथ्य स्पष्ट होते हैं —

(१) रोमन लिपि में प्रत्येक 'ध्वनि-ग्राम' के लिए पृथक् संकेत है, जबकि कतकन में प्रत्येक 'आघात' के लिए पृथक् संकेत है।

(२) रोमन लिपि में इन संकेतों को प्रयोग करते समय प्रत्येक संकेत पृथक् लिखा जाता है। इस विधि में आधार-संकेतों को मिलाकर नये संकेत नहीं बनाए जाते। कतकन में भी ठीक यही स्थिति है। उसमें भी आधार-संकेतों को मिलाकर नये संकेत नहीं बनाए जाते।

निष्कर्षत: रोमन और कतकन की प्रकृति में यह अन्तर है कि उनके आधार-संकेत बनाने के लिए भिन्न-भिन्न अवयव चुने गए हैं। इन दोनों लिपियों की तुलना

के आधार पर कहा जाएगा कि जिस लिपि में प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पृथक् संकेत हो, उसे 'अल्फ़ाबेटिक' लिपि कहते हैं । इस निष्कर्ष के अनुसार 'अल्फ़ाबेटिक लिपि' को हिन्दी में **'ध्वनिग्रामीय लिपि'** कहना उचित है ।

दूसरी ओर नागरी लिपि और रोमन लिपि की तुलना करने से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(१) रोमन लिपि में प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पृथक् संकेत होता है । नागरी में भी यही स्थिति है । उसमें भी प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पृथक् संकेत होता है ।

(२) रोमन लिपि में इन संकेतों को प्रयोग करते समय प्रत्येक संकेत पृथक् लिखा जाता है । इस विधि में आधार-संकेतों से संयोजन द्वारा नये संकेत नहीं बनाए जाते । इसके विपरीत नागरी में आधार-संकेतों को संयोजित करके नये संकेत बनाये जाते हैं ।

निष्कर्षतः रोमन और नागरी, दोनों ही ध्वनिग्रामीय लिपियाँ हैं, जबकि रोमन **'असंयोजित लेखन'** की लिपि है और नागरी **'संयोजित लेखन'** की ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पश्चिमी भाषा-वैज्ञानिक जिसे 'अल्फ़ाबेटिक' ध्वनि-लिपि कहते हैं, उसे हिन्दी में **'असंयोजित ध्वनिग्रामीय लिपि'** कहना उपयुक्त है ।

२:६:१ : भारतीय दृष्टि में वर्ण : एक 'ध्वनिग्राम' के लिए निश्चित किए गए संकेत को 'वर्ण' कहते हैं । 'ध्वनिग्राम' भाषित की इकाई है और **'वर्ण'** अंकित की । भारतीय भाषा-विज्ञान के लिए **'ध्वनिग्राम'** अपेक्षाकृत नया शब्द है जिसे अंग्रेज़ी **'फोनीम'** के अनुवाद के रूप में ही प्रचलित किया गया । प्राचीन परम्परा में 'वर्ण' को भाषित की इकाई के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता रहा है । तब **'वर्ण'** भाषित की इकाई भी था और अंकित की भी । 'भाषित' की इकाई के रूप में 'ध्वनिग्राम' शब्द के प्रचलित हो जाने पर 'वर्ण' केवल 'अंकित' की इकाई रह गया है । इधर दो नये शब्दों का भी प्रचलन हुआ है । वे शब्द हैं **'स्वनिम'** और **'लेखिम'** । यद्यपि श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा 'ध्वनिग्राम' की अपेक्षा 'स्वनिम' शब्द को अधिक ग्राह्य मानते हैं,[२३] तथापि 'ध्वनिग्राम' शब्द को छोड़ना उचित नहीं है । इसके विपरीत जिन नई आवश्यकताओं ने इन नये शब्दों को गढ़ने की प्रेरणा दी, उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन सभी शब्दों के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट कर लेना अधिक श्रेयस्कर है । अंग्रेज़ी के चेक् (cheque) शब्द में तीन ध्वनिग्राम हैं –(१) च्, (२) ऐ १ (एक मात्रा का 'ऐ' स्वर) और (३) क् । अतः उसे लिखते समय तीन वर्णों का प्रयोग होना चाहिए । भारतीय परम्परा में ऐसा कभी नहीं हुआ कि 'सी' और 'एच्' जैसे दो संकेतों को एक ही ध्वनिग्राम 'च्' की अभिव्यक्ति के लिए लिखा जाए या 'क्यू', 'यू' और 'ई' जैसे तीन संकेतों को लिखकर उन्हें केवल एक ध्वनिग्राम 'क्' के रूप में पढ़ा जाए । अतः भारतीय 'वर्ण' की यह व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी गई कि वर्ण में एकाधिक संकेत भी हो सकते हैं । पूर्व और पश्चिम की लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से ये तथ्य सामने आए, तो नए शब्दों की अथवा पुराने शब्दों की नई व्याख्या की आवश्यकता हुई ।

(२) अक्षर एक संकेत माना जाता है चाहे वह एक ध्वनिग्राम का बोधक हो, अनेक ध्वनिग्रामों का या एक आघात का।

(३) अक्षर अंकित की इकाई है। उच्चारण के किसी अंश या अंश-संघात के लिए 'अक्षर' शब्द का प्रयोग असंगत होता है।

(४) अक्षर में एकाधिक ध्वनियों के उच्चारण को अंकित करने की क्षमता होते हुए भी यह आवश्यक नहीं है कि उस उच्चरित ध्वनि समुच्चय के सभी अवयव अक्षर-संकेत में पृथक्-पृथक् दिखाई दें।

निष्कर्षत: 'अक्षर' की ऐसी परिभाषा जिसमें उक्त सभी वर्गों के अक्षरों को गिना जा सकता है, इस प्रकार है – **अक्षर लेखन की वह इकाई है जो एक या अनेक ध्वनिग्रामों को संयोजित अथवा मूल-संकेत के रूप में इस विधि से लिखने से बनती है कि उसे केवल एक संकेत माना जा सके, भले ही उसके उच्चरित ध्वनि-समुच्चय के सभी अवयव उसमें पृथक्-पृथक् दिखाई दें या नहीं।**

२:६ : 'वर्णात्मक' ध्वनि-लिपि—पारिभाषिक शब्द के रूप में **'वर्णात्मक ध्वनि-लिपि'** शब्द अंग्रेजी के **'अल्फाबेटिक फोनेटिक स्क्रिप्ट'** शब्द का अनुवाद है। इस शब्द का पारिभाषिक रूप में प्रयोग करने वाले भाषा-वैज्ञानिक इसका वही अर्थ मानते हैं जो पश्चिम के भाषा-वैज्ञानिक 'अल्फ़ाबेटिक फ़ोनेटिक स्क्रिप्ट' का मानते हैं। परम्परागत भारतीय वर्ण-शब्द के साथ इसकी अन्विति है या नहीं, इसके परीक्षण का प्रयास नहीं किया गया। अत: इस शब्द का पारिभाषिक अर्थ समझने के लिए अंग्रेज़ी के मूल शब्द को समझना आवश्यक है। तत्पश्चात् ही 'अल्फाबेट' और 'अल्फ़ाबेटिक' के हिंदी-पर्याय निश्चित किए जा सकते हैं। 'अल्फ़ाबेटिक' और 'सिलैबिक' दोनों ही 'फ़ोनेटिक स्क्रिप्ट' (ध्वनि-लिपि) के भेद हैं। अत: 'ध्वनि' दोनों का समान आधार है। ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि पश्चिम के 'सिलैबिक राइटिंग' शब्द का अर्थ 'आघातीय लेखन' होता है और कतकन को उसका सर्वोत्तम उदाहरण माना जा सकता है। 'अल्फ़ाबेटिक राइटिंग' के लिए रोमन लिपि को सर्वोत्तम उदाहरण माना जाता है। अत: रोमन के गुणों की छानबीन से 'अल्फ़ाबेटिक राइटिंग' का तात्पर्य खोजा जा सकता है। रोमन और कतकन की तुलना से निम्नलिखित दो तथ्य स्पष्ट होते हैं —

(१) रोमन लिपि में प्रत्येक 'ध्वनि-ग्राम' के लिए पृथक् संकेत है, जबकि कतकन में प्रत्येक 'आघात' के लिए पृथक् संकेत है।

(२) रोमन लिपि में इन संकेतों को प्रयोग करते समय प्रत्येक संकेत पृथक् लिखा जाता है। इस विधि में आधार-संकेतों को मिलाकर नये संकेत नहीं बनाए जाते। कतकन में भी ठीक यही स्थिति है। उसमें भी आधार-संकेतों को मिलाकर नये संकेत नहीं बनाए जाते।

निष्कर्षत: रोमन और कतकन की प्रकृति में यह अन्तर है कि उनके आधार-संकेत बनाने के लिए भिन्न-भिन्न अवयव चुने गए हैं। इन दोनों लिपियों की तुलना

के आधार पर कहा जाएगा कि जिस लिपि में प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पृथक् संकेत हो, उसे 'अल्फ़ाबेटिक' लिपि कहते हैं । इस निष्कर्ष के अनुसार 'अल्फ़ाबेटिक लिपि' को हिन्दी में **'ध्वनिग्रामीय लिपि'** कहना उचित है ।

दूसरी ओर नागरी लिपि और रोमन लिपि की तुलना करने से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(१) रोमन लिपि में प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पृथक् संकेत होता है । नागरी में भी यही स्थिति है । उसमें भी प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पृथक् संकेत होता है ।

(२) रोमन लिपि में इन संकेतों को प्रयोग करते समय प्रत्येक संकेत पृथक् लिखा जाता है । इस विधि में आधार-संकेतों से संयोजन द्वारा नये संकेत नहीं बनाए जाते । इसके विपरीत नागरी में आधार-संकेतों को संयोजित करके नये संकेत बनाये जाते हैं।

निष्कर्षत: रोमन और नागरी, दोनों ही ध्वनिग्रामीय लिपियाँ हैं, जबकि रोमन **'असंयोजित लेखन'** की लिपि है और नागरी **'संयोजित लेखन'** की ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि पश्चिमी भाषा-वैज्ञानिक जिसे 'अल्फ़ाबेटिक' ध्वनि-लिपि कहते हैं, उसे हिन्दी में **'असंयोजित ध्वनिग्रामीय लिपि'** कहना उपयुक्त है ।

२:६:१ : **भारतीय दृष्टि में वर्ण** : एक 'ध्वनिग्राम' के लिए निश्चित किए गए संकेत को 'वर्ण' कहते हैं । 'ध्वनिग्राम' भाषित की इकाई है और **'वर्ण'** अंकित की । भारतीय भाषा-विज्ञान के लिए **'ध्वनिग्राम'** अपेक्षाकृत नया शब्द है जिसे अंग्रेज़ी **'फोनीम'** के अनुवाद के रूप में ही प्रचलित किया गया । प्राचीन परम्परा में 'वर्ण' को भाषित की इकाई के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता रहा है । तब **'वर्ण'** भाषित की इकाई भी था और अंकित की भी । 'भाषित' की इकाई के रूप में 'ध्वनिग्राम' शब्द के प्रचलित हो जाने पर 'वर्ण' केवल 'अंकित' की इकाई रह गया है । इधर दो नये शब्दों का भी प्रचलन हुआ है । वे शब्द हैं **'स्वनिम'** और **'लेखिम'** । यद्यपि श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा 'ध्वनिग्राम' की अपेक्षा 'स्वनिम' शब्द को अधिक ग्राह्य मानते हैं,[२३] तथापि 'ध्वनिग्राम' शब्द को छोड़ना उचित नहीं है । इसके विपरीत जिन नई आवश्यकताओं ने इन नये शब्दों को गढ़ने की प्रेरणा दी, उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन सभी शब्दों के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट कर लेना अधिक श्रेयस्कर है । अंग्रेज़ी के चेक् (cheque) शब्द में तीन ध्वनिग्राम हैं –(१) च्, (२) ऐ १ (एक मात्रा का 'ऐ' स्वर) और (३) क् । अत: उसे लिखते समय तीन वर्णों का प्रयोग होना चाहिए । भारतीय परम्परा में ऐसा कभी नहीं हुआ कि 'सी' और 'एच्' जैसे दो संकेतों को एक ही ध्वनिग्राम 'च्' की अभिव्यक्ति के लिए लिखा जाए या 'क्यू', 'यू' और 'ई' जैसे तीन संकेतों को लिखकर उन्हें केवल एक ध्वनिग्राम 'क्' के रूप में पढ़ा जाए । अतः भारतीय 'वर्ण' की यह व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं समझी गई कि वर्ण में एकाधिक संकेत भी हो सकते हैं । पूर्व और पश्चिम की लिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से ये तथ्य सामने आए, तो नए शब्दों की अथवा पुराने शब्दों की नई व्याख्या की आवश्यकता हुई ।

भारत में 'फोनीम' के उच्चारण की समता पर 'स्वनिम' शब्द गढ़ा गया और उसी के समानान्तर अंकित के लिए 'लेखिम' शब्द भी गढ़ा गया। प्रत्येक संकेत एक इकाई के रूप में 'लेखिम' होता है। इस आधार पर कहना चाहिए कि अंग्रेजी के Cheque (चै १ क्) शब्द में तीन ध्वनिग्राम हैं, अतः तीन वर्ण लिखने चाहिएँ, किंतु उसमें तीन ध्वनिग्रामों को छः लेखिमों द्वारा लिखा जाता है। यदि अंग्रेजी का लेटर् (लै ९ ट र् letter) शब्द 'वर्ण' का पर्याय हो, तो इस शब्द में अंग्रेजी के लिए प्रयुक्त लिपि में लेटर् इस प्रकार हैं—(१) Ch (च्) (२) e (ए १) और (३) que (क्)। स्पष्ट है कि एक लेटर् में एकाधिक लेखिमों का प्रयोग भी हुआ है। अंग्रेजी के 'फोनीम' और 'लेटर्' हिन्दी के चार पारिभाषिक शब्दों का भार वहन कर रहे हैं। हिन्दी के चार शब्दों के अनुरूप अंग्रेजी के चार शब्द स्थिर करना अंग्रेजी वालों का काम है। हिन्दी के इन चारों शब्दों को उक्त विवेचन के अनुसार परिभाषित कर लेना आवश्यक है। इनकी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **ध्वनिग्राम** – ध्वनिग्राम श्रवण की वह इकाई है जिसे श्रोता भाषा के अवयव के रूप में 'पृथक्', 'एक' और 'विशिष्ट' इकाई मानता है। उसे वह अन्य ध्वनिग्रामों से भिन्न समझता है। उसके बदलने से आधार-भाषा के शब्द के अर्थ में भिन्नता उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, 'अ', 'प्' के श्रुत रूप ध्वनिग्राम हैं।

(२) **स्वनिम**—ध्वनिग्राम के वे अंश जो मिलकर एक ध्वनिग्राम का निर्माण करते हैं और उसे अन्य ध्वनिग्रामों से भिन्न इकाई बनाते हैं, स्वनिम कहलाते हैं। इसकी उपयोगिता केवल शास्त्रीय विवेचन तक सीमित है। उदाहरणार्थ 'घ्' ध्वनिग्राम में 'ग्' और 'महाप्राणत्व' एक ही समय में उच्चरित होता है, अतः जहाँ 'घ्' एक ध्वनिग्राम है, वहाँ 'ग्' और 'महाप्राणत्व' उसके स्वनिम हैं। 'आँ' ध्वनिग्राम में 'आ' और 'अनुनासिकत्व' स्वनिम सम्मिलित हैं।

(३) **वर्ण**—ध्वनिग्राम के लिखित रूप को 'वर्ण' कहते हैं। आदर्श स्थिति में एक ध्वनिग्राम के लिए एक वर्ण होना चाहिए। कुछ लिपियों में एकाधिक वर्ण एक ही संकेत में लिखे जाते हैं। इस प्रकार संयोजित वर्णों से बना संकेत 'अक्षर' हो जाता है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के Box (बॉक्स) शब्द का 'एक्स' अक्षर 'क्' और 'स्' ध्वनिग्रामों के सम्मिलित उच्चारण को लिखने के लिए प्रयुक्त होने वाला असंयोतिज अक्षर है, 'वर्ण' नहीं है, जबकि 'मे' अक्षर 'म्' और 'ए' वर्णों का संयोजित अक्षर है। कई लिपियों में एक ही वर्ण अनेक संकेतों से लिखा जाता है, जैसे उपरि-विवेचित 'चैक्' का 'च्' ('सी' और 'एच्') और 'क्' ('क्यू', 'यू' और 'ई')।

(४) **लेखिम**—जब एक 'वर्ण' कई संकेतों द्वारा बनता है, तब वर्ण के प्रत्येक अंश-संकेत को लेखिम कहते हैं।

२:६:२ : **संकेत-सूची** : लिपि के दो आवश्यक अंग होते हैं—(१) संकेत और (२) प्रयोग-विधि। लेख-लिपि के संकेत आकृति के अनुसार बिन्दुओं, रेखाओं या चित्रों से बनते हैं और स्वनिम, ध्वनिग्राम, ध्वनिग्राम-समूह या आघात को अभिव्यक्त करते

हैं। किसी लिपि में प्रयुक्त होने वाले सभी संकेतों का सामुहिक नाम 'संकेत-सूची' होता है। संकेत-सूची में ध्वनियों को अभिव्यक्त करने वाले मूल और विकृत संकेतों के अतिरिक्त संख्या, विराम इत्यादि को अभिव्यक्त करने वाले संकेत भी सम्मिलित होते हैं। संकेत-सूची संकेतों की आकृति अथवा अभिव्यक्ति के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। संकेत-माला के लिए हिन्दी और अंग्रेजी 'वर्णमाला', 'आल्फ़ाबेट' और 'सिलैबरी' शब्दों का प्रचलन है। इनके प्रचलित अर्थ निम्नलिखित हैं –

वर्णमाला—'अ' से 'ह' तक नागरी की वर्णमामाला है और 'ए' से 'जेड्' तक अंग्रेजी भाषा के लिए रोमन-लिपि की वर्णमाला है। स्पष्ट है कि यहाँ 'वर्णमाला' शब्द का अर्थ है—'मूल-संकेतों का समूह'। इनमें मूल संकेतों के विकृत रूप (उदाहरणार्थ 'क्ष', '` ', ' & ', ' fl '), विकल्प-रूप (उदाहरणार्थ G g G9), अंक-संकेत (उदाहरणार्थ '१', '५', '5', '6',) विरामादि संकेत (उदाहरणार्थ ' । ', ' ? ', ' , ', ' ; ', ' - ') इत्यादि सम्मिलित नहीं किए जाते।

अल्फाबेट—'ए' से 'जेड्' तक अंग्रेजी के लिए रोमन लिपि का 'अल्फाबेट' है। इसकी सीमा भी 'वर्णमाला' की तरह मूल संकेतों की सूची तक ही है। 'अल्फ़ाबेट' और 'वर्णमाला' को एक-दूसरे का पर्याय कहा जाता है।

सिलैब्ररी—कतकन लिपि के 'अ' से 'वो' तक संकेतों का सामूहिक नाम 'सिलैबरी' है। क्योंकि कतकन के संकेत ध्वनिग्राम के आधार पर न होकर 'आघात' (सिलैब्ल) के आधार पर होते हैं, अत: इन संकेतों का सामूहिक नाम 'वर्णमाला' या 'अल्फाबेट' न होकर 'सिलैबरी' होता है।

इन प्रचलित पारिभाषिक शब्दों में **'अल्फाबेट'** और **'वर्णमाला'** को समानार्थक रखना इसलिए आपत्तिजनक है, क्योंकि ये दो असमान संकेतों को समान सिद्ध करते हैं। 'अल्फाबेट' कहे जाने वाले 'ए' से 'जेड्' तक रोमन संकेत प्रायः ध्वनिग्रामीय नहीं होते, अतः वर्ण नहीं कहे जा सकते। वे **लेखिम-समूह** होते हैं। नागरी की वर्णमाला के सभी व्यंजन 'क्', 'ख्' इत्यादि 'वर्ण' के रूप में न रखकर 'क', 'ख' इत्यादि 'अक्षर' के रूप में रखे जाते हैं, अतः उन्हें **'वर्णमाला'** कहना अशुद्ध है। केवल **'सिलैबरी'** शब्द उचित है। उसे हिन्दी में **'आघातीय संकेत-माला'** कहना उपयुक्त है। वर्णमाला, अल्फाबेट या सिलैबरी की तुलना में 'संकेत-सूची' शब्द अधिक व्यापक और अधिक संगत है।

२:७ : **लिपियों का वर्गीकरण** : लिपि विकास का क्रम स्पष्ट करने के लिए और लिपियों के मूल्यांकन के लिए लिपियों का वर्गीकरण कर लेना आवश्यक है। लिपियों का वर्गीकरण उनके संकेतों के आधार पर किया जा सकता है। संकेतों के गुणावगुण का परीक्षण निम्नलिखित दो आधारों पर किया जा सकता है—

(१) आकृति और

(२) अभिव्यक्ति।

अतः लिपियों का वर्गीकरण **आकृति-मूलक** भी हो सकता है और **अभिव्यक्ति-**

मूलक भी। एक समय में केवल एक आधार पर किया गया वर्गीकरण ही विकास की अवस्था को स्पष्ट कर सकता है। ऊपर लिपि के तीन सोपानों को दिखाते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि 'चित्र-लिपि' शब्द आकृति के आधार पर और 'ध्वनि-लिपि' शब्द अभिव्यक्ति के आधार पर गढ़ा गया है। दो भिन्न आधारों को एक ही समय प्रयुक्त करने के कारण उक्त सोपान अस्पष्ट हो गये हैं। अतः नीचे आकृतिमूलक वर्गीकरण तथा अभिव्यक्तिमूलक वर्गीकरण को पृथक्-पृथक् दिया जा रहा है।

२:७:१ : **आकृति-मूलक वर्गीकरण :** जिन लिपियों को कागज पर लिखना संभव नहीं है[५४], उन्हें लेख-लिपियों के प्रसंग से बाहर रखते हुए शेष लिपियों को संकेतों की आकृति के आधार पर निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) **चित्र-लिपि**—इसके संकेत चित्रों से बने होते हैं। वे चित्र कलात्मक भी हो सकते हैं और कुछ रेखाओं द्वारा चित्र का आभास देने वाले भी हो सकते हैं। जब किसी संकेत को देखते ही मूल पदार्थ की आकृति का आभास नहीं होता, तब वह चित्र नहीं रहता। उदाहरणार्थ भारतीय तांत्रिकों के लेख शुद्ध चित्र-लिपि के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। एक तांत्रिक 'क्लीं' को इस मंत्र से स्पष्ट करता है—

इन्द्रासन-गत-ब्रह्माऽत्रिमूर्त्ति इन्दुः च मन्मथ।[५५]

इसमें ब्रह्मा 'क्', इन्द्र 'ल्', त्रिमूर्त्ति 'ई' और इन्दु 'म्' या 'अनुस्वार' को लिखने के लिए है। लिपिक (Scribe) अपनी कल्पनानुसार आसन पर ब्रह्मा, पास में खड़े तीन व्यक्ति (प्रायः तीन स्त्रियाँ) और ऊपर चन्द्र बनाकर 'क्लीं' लिख सकता है। मिश्र सुमेरिया इत्यादि की चित्र-संकेतों-वाली लिपियाँ भी चित्र-लिपि के अच्छे उदाहरण हैं। **इस 'चित्र-लिपि' शब्द का प्रयोग केवल आकृति-मूलक 'वर्गीकरण' के लिए ही किया जाना चाहिए। इसका अभिव्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है।** लिपि के तीन सोपानों में विवेचित चित्र-लिपि के साथ जो अभिव्यक्ति का अर्थ जोड़ दिया गया है कि चित्र उसी पदार्थ का बोध देता है, जिसका वह चित्र हो, यह अर्थ भ्रामक है। चित्र-लिपि का संकेत क्या अभिव्यक्त करता है, इससे इस वर्गीकरण का कोई सम्बन्ध नहीं है। आकृति-मूलक वर्गीकरण होने के कारण यहाँ 'चित्र-लिपि' शब्द केवल इतना अर्थ देता है कि ऐसी लिपि का संकेत 'चित्र' की आकृति का है।

(२) **रेखा-लिपि**—इसके संकेतों को जिन रेखाओं से लिखा जाता है, उनका चित्रात्मक मूल्य किसी पदार्थ से सम्बद्ध नहीं होता, वरन् निरर्थक रेखाएँ निश्चित स्थान पर निश्चित लम्बाई में लिखी होने के कारण निश्चित अभिव्यक्ति देती हैं। इन संकेतों में प्रयुक्त रेखाएँ बिंदु से लेकर वृत्त तक किसी लम्बाई की हो सकती हैं। एक संकेत में एक या अनेक रेखाओं का प्रयोग हो सकता है। आज की नागरी, रोमन, अरबी आदि लिपियाँ तो रेखा-लिपियाँ हैं ही, कतकन या चीनी जैसी आघातीय लिपियाँ भी आकृति के अनुसार रेखा-लिपि के वर्ग में ही आती हैं।

२:७:२ : **अभिव्यक्ति-मूलक वर्गीकरण :** लिपि के मूल-संकेत जिस अभिव्यक्ति

के लिए प्रयोग किये जाते हैं, उसके आधार पर लिपियों को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है—

(१) **अर्थ-बोधक लिपि**— जिस लिपि के संकेतों का सम्बन्ध ध्वनि से न होकर पदार्थ-भाव इत्यादि सूचक अर्थ से होता है, उसे अर्थ-बोधक लिपि कहते हैं। ऊपर अनुच्छेद '२:३:१' में इसका विवेचन किया जा चुका है।

(२) **उच्चारण-बोधक लिपि**— जिस लिपि के संकेतों का सम्बन्ध ध्वनि से होता है,उसे उच्चारण-बोधक लिपि कहते हैं। प्रचलित 'ध्वनि-लिपि' शब्द भी इसी लिपि का द्योतक है, किन्तु 'ध्वनि-लिपि' शब्द से यह अभिव्यक्त नहीं होता कि यह पारिभाषिक शब्द अभिव्यक्ति के आधार पर गढ़ा गया है, अतः उसकी अपेक्षा 'उच्चारण-बोधक लिपि' शब्द अधिक उपयुक्त है। ऐसी लिपि में एक मूल संकेत किसी स्वनिम, ध्वनिग्राम, ध्वनि-ग्राम-समूह या आघात को अभिव्यक्ति करता है। अतः उच्चारण-बोधक लिपियों को स्वनिम-बोधक, ध्वनिग्राम-बोधक, ध्वनि-ग्राम-समूह-बोधक एवं आघात बोधक वर्गों में बाँटा जा सकता है।

२:७:३ : **मिश्रित अवस्थाएँ** : आकृति तथा अभिव्यक्ति के आधार पर बनाए गए उपरिलिखित वर्ग आदर्श-स्थितियों को प्रकट करते हैं। संसार की प्राचीन और अर्वाचीन लिपियों के परीक्षण करने पर उनमें किसी एक वर्ग की स्थिति के चिह्न अधिक प्राप्त होते हैं, तो दूसरी अवस्था के चिह्न भी थोड़े-बहुत मिल जाते हैं। अतः अधिकांश लिपियाँ मिश्रित अवस्था की होती हैं। मिश्रित अवस्थाएँ अनेक प्रकार की हो सकती हैं। उदाहरणार्थ रोमन और नागरी, दोनों आकृति-मूलक वर्गीकरण में 'रेखा-लिपियाँ' हैं किन्तु अभिव्यक्ति-मूलक वर्गीकरण में मिश्रित अवस्था की लिपियाँ। दोनों की अभिव्यक्ति-मूलक मिश्रित अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं। रोमन लिपि के संकेत कहीं 'वर्ण' हैं तो कहीं 'लेखिम', क्योंकि कहीं उनकी अभिव्यक्ति 'ध्वनिग्राम' होती है तो कहीं 'स्वनिम' होती है। Cheque में 'सी', 'एच्', 'क्यू', 'यू' और 'ई' (अन्तिम) 'स्वनिम' को अभिव्यक्त करते हैं तो मध्य का 'ई' 'ध्वनिग्राम' को अभिव्यक्त करता है। इसके विपरीत नागरी में कहीं वर्ण हैं जो ध्वनिग्राम को अभिव्यक्त करते हैं, तो कहीं संयोजित अक्षर हैं जो ध्वनि-ग्राम-समूह को अभिव्यक्त करते हैं। 'अश्व' के लिखित रूप के संकेत में 'अ' ध्वनिग्राम और वर्ण है, 'श' विकृत-संकेत, ध्वनिग्राम और वर्ण है तथा 'व' मूल-संकेत, ध्वनिग्राम-समूह और अक्षर है। इस प्रकार पूर्व-विवेचित आकृति मूलक तथा अभिव्यक्ति-मूलक वर्गीकरण लिपियों की अवस्थाओं को मापने के लिए वैज्ञानिक मापदण्ड का काम देते हैं।

२:८ : **मध्यमार्गी दृष्टि** : ऊपर अनुच्छेद '२:२:१' तथा '२:२:२' में 'यूरोपीय दृष्टिकोण' और 'भारतीय दृष्टिकोण' नाम से संसार की लिपियों के विकास के प्रति दो अतिवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं। इन दोनों 'अतियों' के मध्य ताल-मेल बैठाने के भी प्रयत्न हुए हैं। उदाहरण के लिए देवेन्द्रनाथ शर्मा के शब्दों में—"मेरी अपनी धारणा यह है कि आज की प्रचलित लिपियों को देखते हुए उनका स्वतन्त्र उद्गम

मानना अधिक उचित होगा। यदि सभ्यता का विकास स्वतन्त्र रूप से हो सकता है तो लिपि का विकास क्यों नहीं हो सकता ? आज संसार में प्रचलित लिपियों को देखते हुए उनके चार स्वतन्त्र उद्गम मानना अच्छा होगा—भारतीय, यूरोपीय, सामी और चीनी। इन चारों में इतना स्पष्ट पार्थक्य है कि इन्हें एक स्रोत से सम्बद्ध मानना असंगत है।"[५६] इन चारों वर्गों में निःसन्देह कुछ ऐसी मूलभूत विशेषताएँ हैं जो इन्हें एक-दूसरे से नितांत भिन्न सिद्ध करती हैं—

(क) **भारतीय लिपि-वर्ग**—ये ध्वनि-ग्रामीय लिपियाँ होकर भी जिस अक्षरात्मक ढंग से लिखा जाती हैं, वैसा अन्य किसी वर्ग में नहीं होता। स्वर का मात्रा-रूप में व्यंजन के साथ संयोजन और ध्वनि-ग्राम का भाषा-वैज्ञानिक प्रौढ़ निर्णय इस वर्ग के आधार हैं जो सिंधु-लिपि के समय से प्राप्त होते हैं। इसके उद्भव और विकास की पूरी कहानी भारतीय क्षेत्र में ही सीमित है, इसमें संदेह नहीं। इस वर्ग की लिपियाँ संसार की श्रेष्ठतम लिपियाँ कही जा सकती हैं।

(ख) **सामी लिपि-वर्ग** –अरब-ईराक के आस-पास की लिपियों का यह वर्ग उन्नति की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है, जिसमें संकेतों के ध्वनि-ग्रामिक आधार के साथ संयोजन की परिपक्व प्रक्रिया जुड़ी हुई है। दाहिने से बाएँ को लेखन, आकृति-मूलक संयोजन और स्वरों को पृथक् संकेतों से लिखने के विशिष्ट गुणों के कारण इस वर्ग की लिपियों का स्वरूप अन्य वर्गों से नितांत भिन्न है।

(ग) **यूरोपीय लिपि-वर्ग**—उन्नति की दृष्टि से तीसरे स्थान पर आसीन ये तथाकथित वर्ण-लिपियाँ असंयोजित लेखन के कारण तो अन्य वर्गों से भिन्न हैं ही, इनके ध्वनिग्रामिक आधार इस बीसवीं शताब्दी के उन्नत काल में भी अविकसित हैं। साथ ही इनमें स्वरों का ध्वनिग्राम-बोधक प्रयोग इतना यादृच्छिक है कि उसे भ्रमपूर्ण कहा जा सकता है। भारतीय और सामी वर्ग की अपेक्षा तो यह वर्ग बहुत अविकसित है। इसका वास्तविक इतिहास सातवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से ग्रीक लेखन से प्रारम्भ होता है। फ़िन्नी इत्यादि पूर्ववर्ती लिपियों से इसका सम्बन्ध जोड़ने का प्रयास खींच-तान ही प्रतीत होता है।

(घ) **चीनी लिपि-वर्ग** - लगभग २५०० वर्ष ईसा-पूर्व से प्रारम्भ होनेवाला[५७] यह वर्ग अपने आघातीय आधार-संकेतों के कारण प्रथम तीनों वर्गों से नितांत भिन्न है और उन्नति की दृष्टि से सबसे पिछड़ा हुआ है। इस वर्ग की सर्वाधिक उन्नत लिपि 'कतकन' है जो जापानी भाषा के आघातीय उच्चारण एवं वहाँ के भाषित में आघातों की संख्या की अति-न्यूनता के कारण वहाँ का काम चला लेती है, अन्यथा विश्व के अन्य देशों की भाषाओं के ध्वनि-ग्रामों और उनके संयोगों की रचना के लिए वह बहुत अधूरी और असमर्थ लिपि है।

२:६ : लिपि-विकास के निकष : विश्व के लिपि-विकास को प्रस्तुत करते समय वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना ही सत्य के अन्वेषण का एक-मात्र आधार हो

सकता है। निम्नलिखित निकष लिपियों के परस्पर सम्बन्धों को परखने के वैज्ञानिक आधार होते हैं --

(१) **लिपि की प्रकृति**—लिपि के संकेतों की आकृति और अभिव्यक्ति तथा इन संकेतों की प्रयोग-विधि लिपि की प्रकृति होती है। लिपियों की प्रकृति उनके संबंधों को परखने का प्रथम और अनिवार्य निकष होता है। यदि एक लिपि की प्रकृति दूसरी लिपि की प्रकृति के निकट है, तो उनमें सम्बन्ध सम्भव है। यदि उनकी प्रकृति में समानता नहीं है, तो उनमें से एक को दूसरी से उत्पन्न सिद्ध करना बालू में से तेल निकालने-जैसा प्रयत्न ही होगा।

(२) **लिपि का काल**—सम-सामयिक लिपियों का एक-दूसरे पर प्रभाव पड़ सकता है। पूर्ववर्ती लिपि से परवर्ती लिपि का उत्पन्न होना या प्रभावित होना सिद्ध हो सकता है, परन्तु कोई पूर्ववर्त्ती लिपि किसी परवर्त्ती लिपि से उत्पन्न नहीं हो सकती।

(३) **सामाजिक स्थिति**—किसी समाज की उन्नत या पिछड़ी अवस्था के अनुरूप ही उसकी लिपि होती है। ऐसा तो सम्भव है कि एक बार समाज के उन्नत होने पर उसकी लिपि उन्नत अवस्था तक विकसित हो जाए और कालांतर में समाज के पिछड़ जाने पर भी उसकी लिपि उन्नत अवस्था में बनी रहे, किंतु जो समाज सदा पिछड़ा रहा हो, उसकी लिपि का उन्नत होना असम्भव है। इसी प्रकार किसी उन्नत समाज की लिपि पिछड़े समाज की लिपि को प्रभावित कर सकती है। एक समाज की लिपि का प्रभाव दूसरे समाज की लिपि पर तभी पड़ सकता है, जब उन दोनों समाजों में कोई आपसी सम्बन्ध हो। जो समाज एक-दूसरे से अनभिज्ञ होंगे, उनकी लिपियों का विकास भी स्वतन्त्र रूप से होगा।

२:१० : **तुलनात्मक दृष्टिकोण का आधार** : उक्त विवेचन विश्व की लिपियों पर मात्र विहंगम-दृष्टिपात के लिए था, ताकि भारत के लिपि-विकास को तुलनात्मक दृष्टि से समझा जा सके। क्योंकि हमारे दृष्टिकोण में और पूर्व-प्रचलित दृष्टिकोण में कुछ अन्तर था, अतः मत-भेद के आधारों को स्पष्ट करना आवश्यक हो गया। इस विवेचन से उपलब्ध सिद्धांतों के आधार पर लिपियों का तुलनात्मक अध्ययन और मूल्यांकन सरल हो गया है।

---

१. इ० ऐ० रि०, पृ० ३
२. आ० रा०, पृ० १
३. वही, पृ० १
४. भा० भू० (दे०), पृ० ३२७ तथा इ० ऐ० रि०, पृ० ३
५. न्यू ला० इं० सि० १, पृ० ६४
६. पुस्तक : भारतीय प्राचीन लिपिमाला
७. पुस्तक : न्यू लाइट आन् द इंडस् सिविलिजेशन्
८. पुस्तक : सिन्धु-लिपि रहस्योद्घाटनम्
९. पुस्तक : दी ऋग्वेदिक् कल्चर आफ द प्रि-हिस्टारिक इंडस्, इत्यादि

१०. वा० स्टो०, पृ० ३७
११. 'हिन्दुस्तान टाईम्स' (दैनिक) का 'संडे वर्ल्ड' (१०।१२।१९७२), पृ० ४
१२. भा० प्रा० लि०, पृ० १७—३१
१३. सि० र० (फ०), पृ० ७, ८
१४. इं० ऐं० (३५), पृ० २५३-६७, २७०-९०, ३११-२४
१५. सरस्वती पत्रिका के १९१३ से १९१५ तक के अंकों के कई लेख
१६. भा० प्रा० लि०, पृ० १७—३१
१७ न्यू० क्रा०—१८८३, अंक ३ का लेख
१८. का० ऐ० इं० (भाग १), पृ० ५२
१९. सि० र० (फ०), पृ० २
२०. न्यू ला० इं० सि० (१), (२)
२१. 'दी ऋग्वेदिक कल्चर आफ द प्रि-हिस्टारिक् इंडस्', डि० इं० हा०, इत्यादि पुस्तकें
२२. सि० र० (फ०), भारतीयता (कन्नड़) इत्यादि पुस्तकें
२३. आ० रा०, पृ० ५
२४. भा० भू० (दे०), पृ० ३३८
२५. भा० (भो०), पृ० ४७०
२६. वही, पृ० ४७१
२७. वा० स्टो०, पृ० २१, २२ तथा भा० (भो०), पृ० ४६६
२८. भा० भू० (दे०), पृ० ३३८
२९. वा० स्टो०, पृ० २२
३०. डि० इं० हा०, पृ० १०९, इं० डि०, पृ० ४६, सि० र० (फ०), (चित्र २) इत्यादि
३१. भा० भू० (दे०), पृ० ३४०
३२. भा० (भो०), पृ० ४७०
३३. भा० भू० (दे०), पृ० ३४०
३४. भा० (भो०), पृ० ४७१, अंग्रेजी-पर्याय भी वहीं पर दिए गए हैं।
३५. भा० भू० (दे०), पृ० ३४०
३६. भा० (भो०), पृ० ४७२
३७. अर्थात् इस प्रबन्ध के अनुसार 'प्रत्येक लिपि-संकेत'
३८ भा० (भो०), पृ० ४७१ (अंग्रेजी पर्याय भी वहीं दिए गए हैं, जिसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि 'अक्षर' का वही अर्थ ग्राह्य है जो 'सिलेब्ल' का है और 'वर्ण' का वही जो 'अल्फ़ाबेट्' का है।
३९. सा० भा० (बा०), पृ० २४७
४०. भा० भू० (दे०), पृ० ३४०
४१. वा० स्टो०, पृ० ३१
४२. यह चित्र वा० स्टो०, पृ० ३२ के चित्र के आधार पर बनाया गया है।
४३. 'भ' में 'ा' (पूरी पाई) के रूप में 'अ' है। उसे पृथक् किया जा सकता है। 'क' में 'आधी पाई' अथवा 'पूँछ' के रूप में 'अ' है जिसे हटाने पर 'क्' शेष रहता है। 'र' में 'अ' अदृश्य है, उसे पृथक् नहीं किया जा सकता।
४४. भा० भू० (दे०), पृ० ३४०
४५. जब ये स्वर अकेले-अकेले प्रयुक्त होते हैं, तब इस नियम के अनुसार कार्य करते हैं। इनका उच्चारण-विभिन्नता का अवगुण पृथक् तथ्य है।

४६. इस प्रबन्ध का चित्र २ : ४, पृ० २१
४७. इस प्रबन्ध का चित्र २ : ४, पृ० २१
४८. वही
४९. डि० इं० हा०, पृ० ८३
५०. वही, पृ० ८३
५१. वही, पृ० ८४
५२. वही. पृ० ८४
५३. भा० भू (दे०), पृ० ३५२
५४ उदाहरणार्थ पत्थर जोड़ने, तागों में गाँठें लगाने जैसे संकेतों वाली लिपियाँ
५५. डि० इं० हा०, पृ० १०२ (होना चाहिए—इंद्रासन—त्रिमूर्त्ति रिन्दुश्च मन्मथ: ।)
५६. भा० भू० (दे०)- पृ० ३४१
५७. आ० रा०, पृ० ६

३ भारतीय लिपियों का मूल स्रोत

३:१ : भारतीय लिपियों के मूल की खोज : भारत की प्राचीन लिपियों की खोज का भी एक इतिहास है। भारत के अतीत को खोजते हुए भारतीय पुरा-लिपि-सम्बन्धी शोध-कार्य को दो पड़ावों में देखा जा सकता है—(१) ब्राह्मी तक शोध और (२) सिंधु-लिपि तक शोध। दोनों पड़ावों के शोध का विवरण नीचे क्रमशः दिया जा रहा है।

३:१:१ : ब्राह्मी के मूल पर विवाद : सन् १७८४ में 'ऐशियाटिक सोसाइटी, बंगाल' की स्थापना से भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की खोज का कार्य प्रारम्भ हुआ और इसी सन्दर्भ में विद्वानों की दृष्टि भारत की प्राचीन लिपियों पर पड़ी।[1] तब से अब तक लगभग दो सौ वर्षों के महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य के परिणामस्वरूप ईसा-पूर्व पाँचवीं शताब्दी की ब्राह्मी से लेकर आज तक की भारतीय लिपियों को पढ़ना पूर्णतया सम्भव हो गया। जेम्स प्रिंसेप और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के महत्त्वपूर्ण अनुसंधानों ने यह सिद्ध कर दिया कि आधुनिक भारतीय लिपियाँ ब्राह्मी-स्रोत की हैं। अरबी-मूल की उर्दू, काश्मीरी और सिंधी लिपि इस वर्ग से अलग हैं। स्वयं ब्राह्मी की उन्नत अवस्था और उसके स्थानीय भेदों को देखते हुए यह भी स्पष्ट था कि इसका प्रारम्भ और भी प्राचीन होना चाहिए, किंतु यह प्रश्न बहुत समय तक विवादास्पद रहा कि इसका मूल स्रोत कौन-सा है। एक ओर मैक्समूलर[2], बर्नेल[3], बूलर[4], प्रिंसेप[5], हैलवे[6], कस्ट[7], विलियम जान्स[8], वेबर[9] और स्टिवेन्सन[10] इत्यादि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने शामी (सेमेटिक) या उसी कुल की किसी लिपि से ब्राह्मी की उत्पत्ति सिद्ध करने के प्रयत्न किये, तो दूसरी ओर राथ[11] और लैंगडन[12] जैसे पाश्चात्य विद्वान् ब्राह्मी को नितांत भारतीय आविष्कार मानते थे और अनेक भारतीय विद्वान् न केवल ब्राह्मी के अभारतीय मूल को तर्कहीन समझते थे, वरन् उसमें हठधर्मिता[13] और षड्यन्त्र[14] की गन्ध भी पाते थे।

३:१:२ : सिन्धु-सभ्यता का उद्घाटन : सिन्धु-सभ्यता के उद्घाटन ने इस विवाद को नई दिशा दी। सन् १८२० तक हड़प्पा की खोज हो चुकी थी। सन् १८२६ में मारसन ने और सन् १८३१ में बर्नेस ने हड़प्पा की खुदाई की ओर ध्यान दिया। सन् १८५३ में सर अलेक्ज़ेंडर कनिंघम ने हड़प्पा से वे मोहरें खोद निकालीं, जिन्होंने भारत की प्राचीन-लिपियों के सम्बन्ध में नये प्रश्न खड़े किये। सन् १८७५ में कनिंघम ने जो सर्वे-रिपोर्ट प्रकाशित करवाई, उसमें वहाँ से प्राप्त मोहरों (या तावीज़ों ?) के चित्र भी छपवाए।[१५] तब से सिन्धु-लिपि पर खुला वाद-विवाद प्रारम्भ हो गया। इस बीच सन् १९२२ में डॉ० राखालदास बनर्जी को मोहनजोदड़ो का भी

क्रम संख्या	ब्राह्मी संकेत	सिंधु संकेत	ध्वन्यात्मक मूल्य
१.	𑀅		अ
२.	𑀇		इ
३.	𑀈		ई
४.	𑀓		क
५.	𑀕		ग
६.	𑀘		च
७.	𑀚		ज
८.	𑀢		त
९.	𑀣		थ
१०.	𑀩		ब
११.	𑀫		म
१२.	𑀬		य

चित्र ३:१

पता चल गया था ।[१६] और इन उपलब्धियों ने संसार के समक्ष, भारत की बहुत प्राचीन लिपि प्रस्तुत कर दी थी, जिसे सिन्धु-घाटी में प्राप्त होने के कारण 'सिंधु-लिपि' कहा जाने लगा । इसे पढ़ने के प्रयत्न में अनेक विद्वानों ने जो-जो विचार प्रकट किए, उनसे पाश्चात्य विद्वानों के विचार बदलने की सम्भवना बढ़ने लगी ।

लेंगडन[१७] ने १२ सिन्धु-संकेतों को ब्राह्मी-संकेतों के समान दिखाया । इन्हें यहाँ चित्र ३:१ (पृ० ३७) में दिखाया गया है । लैंगडन ने आकृति-साम्य दिखाते हुए मात्र इस सम्भावना की ओर संकेत किया था कि ब्राह्मी का विकास सिन्धु-लिपि से हो सकता है और इस अवस्था में ब्राह्मी-संकेतों वाला ध्वन्यात्मक मूल्य ही सिन्धु-संकेतों का होना चाहिए । लैंगडन ने ब्राह्मी-संकेतों में भी 'त' और 'ई' (संकेत ८ और ३) के अशुद्ध रूप दिए हैं । यहाँ चित्र में उन्हें ज्यों-का-त्यों दिखाया गया है ।

डॉ० भोलानाथ तिवारी[१८] ने १९५५ ई० में सिन्धु-लिपि के दस संकेतों को ब्राह्मी-संकेतों के समान दिखाया और उनका ध्वन्यात्मक मूल्य ब्राह्मी के संकेतों के आधार पर अनुमानित किया । यहाँ चित्र ३:२ में वे दस संकेत दिखाए गए हैं । आकृति-साम्य पर

क्रम संख्या	सिंधु घाटी की लिपि	ब्राह्मी लिपि	नागरी लिपि
१			ट
२			क
३			ह
४			ब
५			ठ
६			थ
७			ग
८			श
९			र
१०			इ

चित्र ३:२

आधारित इन अनुमानों से जो सम्भावना दिखाई गई उसकी ओर स्पष्ट संकेत करते

हुए डॉ० तिवारी ने जो टिप्पणियाँ दी हैं[१९], वे भी द्रष्टव्य हैं। पाद-टिप्पणी में दिया गया है, "सम्भव है जिन दो चिह्नों[२०] को स्वरूप-साम्य[२१] की दृष्टि से हम एक समझते हों, मूलतः दो अलग-अलग ध्वनियों के प्रतीक हों।" अतः इस संकेत-सूची के आधार पर निश्चित मत नहीं प्रकट किया जा सकता था। फिर भी सिन्धु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि में जिस सम्बन्ध की सम्भावना प्रतीत होती थी, उसके विषय में डॉ० तिवारी ने इन शब्दों में अपना मत व्यक्त किया, "यह भी असम्भव नहीं है कि ब्राह्मी का विकास सिन्धु-घाटी की लिपि से हुआ हो।"

स्पष्ट है कि आकृति में ब्राह्मी-संकेतों के समान दिखाई देने वाले इन कुछ सिन्धु-संकेतों के ध्वन्यात्मक मूल्य ब्राह्मी के ज्ञात संकेतों के आधार पर स्थिर किए गए थे। इनके आधार पर सिन्धु-लिपि को पूर्णतः पढ़ना सम्भव नहीं था। ऐसी अवस्था में यह कहना कुतर्क ही होता कि सिन्धु-संकेतों के अनुमानित मूल्य ही वास्तविक हैं। जब तक सिन्धु-लिपि को पूर्णतया पढ़ना सम्भव न होता, सिन्धु-लिपि के संकेतों, उनकी प्रयोग-विधि और सिन्धु-लिपि की प्रकृति का वैज्ञानिक विश्लेषण असम्भव ही था।

सिन्धु-घाटी के मोहनजोदड़ो की खुदाई के समय के साक्षी क० न० शास्त्री, जो 'आर्क्योलाजिकल' विभाग में 'क्योरेटर' होने के कारण सम्पूर्ण सामग्री का निकट से अध्ययन करने की सुविधा सरलता से प्राप्त कर सके थे, सिन्धु-लिपि का स्वरूप स्पष्टतः समझ लेने का दावा करते रहे, किन्तु उनकी पुस्तकें 'न्यू लाइट आन् दी इंडस् सिविलाइज़ेशन', जिल्द-१ और जिल्द-२, सिन्धु-घाटी की सभ्यता के अनेक अन्य पक्षों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने में तो सफल हुई, किन्तु सिन्धु-लिपि पर व्यवस्थित रूप से चर्चा करने वाला भाग (जो जिल्द-३ के रूप में प्रकाशित होना था) अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।

ऐसे कई विद्वान् हैं, जिन्होंने सिन्धु-लिपि को पढ़ने के लिए अनेक-विध प्रयत्न वर्षों तक किए, किन्तु वे किसी निर्णय तक नहीं पहुँच सके। उनके परिश्रम की श्लाघा तो की जा सकती है, किन्तु सिन्धु-लिपि के स्वरूप को समझने में उनका परिश्रम सहायक नहीं हुआ, अतः उन पर यहाँ विस्तार से चर्चा करना निष्फल परिश्रम ही होगा।

कुछ विद्वानों ने सिन्धु-लिपि के पढ़ने की विधि विस्तृत एवं व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत की है। उनके मतों पर आगे इसी अध्याय में विस्तार से विचार किया गया है।

३:१:३ : सिन्धु-सभ्यता की अवधि : जिस सिन्धु-सभ्यता के उद्घाटन ने भारतीय इतिहास के प्राचीन छोर का नया रूप प्रस्तुत किया, उसका समय निश्चित करने में भी विवाद उठा। यद्यपि सर जॉन मार्शल ने इस सभ्यता का प्रारम्भ लगभग ईसा पूर्व-३७५० से माना था और इस विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता और मोहनजोदड़ो की खुदाई के निरीक्षक-साक्षी के मत में प्रामाणिकता होना स्वाभाविक था, तथापि डॉ० व्हीलर और प्रो० पिगट ने सिन्धु-सभ्यता का प्रारम्भ २५०० ईसा पूर्व से सिद्ध करने का प्रयत्न किया।[२२] अर्न्स्ट डब्लहाफ़र ने भी इसका प्रारम्भ २५०० ई० पू० से ही स्वीकार किया।[२३] जी० बी० सिंह ने मध्य मार्ग अपनाते हुए यह समय '३००० ई०

पू० या इससे कुछ पूर्व' [२४] माना । यद्यपि इनमें से सर जॉन मार्शल का मत, आर्क्यो-लाजिकल' सिद्धान्तों पर आधारित होने के कारण, अधिक मान्य होना चाहिए था; तथापि कई पश्चिमी विद्वान् इस सभ्यता का समय लगभग ३००० ई० पू० की मिश्री हाइरोग्लिफ़-लिपि की अपेक्षा पुरातन 'मानने को तैयार नहीं थे । वे सिन्धु-लिपि को 'लगभग मिश्री साम्राज्य की समकालीन' [२५] घोषित करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे कि सिन्धु-लिपि को पश्चिम से प्रभावित सिद्ध किया जा सके । सिन्धु-घाटी के मोहनजोदड़ो की खुदाई के समग्र के साक्षी क० न० शास्त्री इस सभ्यता और लिपि के विषय में निम्नलिखित निर्णयों पर पहुँचे—

(१) सिन्धु-सभ्यता के समय को ईसा-पूर्व चौथे सहस्र के पूर्वार्ध (४००० ई० पू०—३५०० ई० पू०) और तीसरे सहस्र के अंत (२००० ई० पू०) के मध्य मानना पूर्णतः सुरक्षात्मक है ।[२६]

(२) मैसोपोटेमिया और सिन्धु-घाटी के सम्पर्क का समय २४०० ई० पू० से २००० ई० पू० का था ।[२७]

(३) अपने १५०० वर्ष के लम्बे इतिहास में सात स्तरों में मिलने वाले (हड़प्पा) नगर में भी सिन्धु-लिपि समान संकेतों वाली, पर्याप्त प्रचलित और स्थिर रूप वाली है ।[२८]

क० न० शास्त्री के उपरिलिखित निर्णय निम्नलिखित कारणों से मान्य हैं—

(१) ये निर्णय पुरातत्त्व-विदों द्वारा निर्धारित वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल हैं ।

(२) सर जॉन मार्शल-जैसे ख्याति-प्राप्त पुरातत्त्ववेत्ता के विचार इन निर्णयों के निकट हैं ।

(३) वैदिक साहित्य में आए सन्दर्भों के साथ ये निर्णय मेल खाते हैं । तत्कालीन भाषा वैदिक भाषा के निकट है ।[२९]

(४) बाद में स्वामी शंकरानंद द्वारा सिन्धु-लिपि को पढ़ने तथा तत्कालीन सभ्यता एवं भाषा का विश्लेषण करने पर शास्त्रीजी द्वारा प्रस्तुत किए गए तथ्य सत्य सिद्ध हुए ।

अतः अब यह असंदिग्ध सत्य है कि सिन्धु-सभ्यता सिन्धु घाटी में सरस्वती (अब शायद 'घग्घर')[३०] नदी के तट पर तथा सौराष्ट्र में ३५०० ई० पू० से २००० ई० पू० के काल में विद्यमान थी और वहाँ के लोगों की लिपि (जिसे 'सिन्धु-लिपि' नाम दिया गया है) इस काल में प्रचलित थी । इन्हीं लोगों में से कुछ व्यापारी मैसोपोटेमिया तक पहुँचे । वे अपने साथ सिन्धु-लिपि भी ले गए ।

३:२ : सिन्धु-लिपि का पठन—इन पंक्तियों के लेखक ने सिन्धु-घाटी सम्बन्धी, विशेषतः सिन्धु लिपि-सम्बन्धी घोषणाओं को एकत्र करने का भरसक प्रयत्न किया है । मेरी जानकारी में जिन लोगों ने सिन्धु-लिपि को पूर्णतया पढ़ लेने की घोषणाएँ की हैं, उनमें से तीन ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने पूर्ण विश्वास के साथ अपनी सफलता की

घोषणाएँ कीं और सिंधु-सकेतों को क्रमबद्ध रूप में रखकर उनकी प्रयोग-विधि समझाई। वे तीन विद्वान् निम्नलिखित हैं—

(१) डॉ० फतेहसिंह
(२) स्वामी शंकरानन्द
(३) श्री एस० आर० राओ

तीनों विद्वानों की घोषणाओं पर क्रमशः विचार करते हुए उनके मतों का परीक्षण कर लेना चाहिए, तभी यह निर्णय किया जा सकता है कि उनके मतों में कहाँ तक औचित्य है।

३:२:१ : डॉ० फतेहसिंह का मत : सन् १९६९ में डॉ० फतेहसिंह (भूतपूर्व संचालक, पुरातत्त्व-शोध-संस्थान, जोधपुर) ने सिन्धु-लिपि को पढ़ लेने की घोषणा की। इस सम्बन्ध में उनके लेख 'स्वाहा' (त्रैमासिकी)[३१] के दिसम्बर, १९६८ तथा अक्तूबर, १९६९ के अंकों में प्रकाशित हुए। 'इंडस् सिविलिजेशन् इन् राजस्थान'[३२] में भी इनके व्याख्यान संकलित किये गये। इधर-उधर इनके कुछ अन्य छोटे-मोटे लेख भी छपे। इनके विस्तृत वक्तव्यों का पुस्तक के रूप में १९७० में 'सिन्धु-लिपि-रहस्योद्घाटनम्' (संस्कृत)[३३] नाम से प्रकाशन हुआ। यह पुस्तक विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इन पंक्तियों के लेखक ने एक साक्षात्कार में भी डॉ० फतेहसिंह के विचार एकत्र किए। वह साक्षात्कार बाद में 'जाह्नवी' (मासिक)[३४] के मई, १९७३ अंक में प्रकाशित हुआ। इस प्रकार डॉ० फतेहसिंह द्वारा प्रस्तुत सिन्धु-लिपि पर विचार कई स्थानों पर बिखरे हुए थे। यहाँ तक कि उनकी 'सिन्धु-लिपि-रहस्योद्घाटनम्' जैसी व्यवस्थित पुस्तक में दी गई 'वर्णमाला' में भी अपूर्णता एवं क्रमहीनता थी। विभिन्न स्रोतों से प्राप्त डॉ० साहब के मत को संकलित करके मैंने उसे क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, ताकि उनके मत का स्पष्ट रूप व्यक्त हो सके। उनकी मान्यता निम्नलिखित है—

(१) सिन्धु-लिपि में ध्वनिग्रामों के लिए संकेत हैं। डॉ० फतेहसिंह द्वारा 'वर्ण' नाम से संकलित संकेतों में 'स्वर' तथा 'अ-सहित व्यंजन' हैं। यहाँ उन्हें चित्र ३:३ (पृ० ४२) में वर्तमान नागरी के क्रम में दिखाया गया है।[३५] यथासम्भव सभी वर्ण-संकेत यहाँ संकलित किये गये हैं। वर्णमाला के जिन वर्णों के सिन्धु-संकेत यहाँ नहीं दिये गये, वे डॉ० फतेहसिंह के साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं।

(२) सिन्धु-लिपि में 'संश्लिष्ट वर्ण' द्वारा लेखन होता है।[३६] इस लिपि में 'वर्णों' को एक ही पंक्ति में क्रमशः न लिखकर ऊपर-नीचे जोड़कर थोड़े-से स्थान पर अधिकतम लेखन का प्रयत्न किया जाता है। 'वर्णों' को इस प्रकार मिलाया जाता है कि वे चित्र का आभास देते हैं। ये वस्तुतः चित्र नहीं हैं। इनकी तुलना आज की प्रचलित मुद्राओं के साथ की जा सकती है। डॉ० फतेहसिंह द्वारा दिये गये उदाहरणों में से 'इन्द्र' का उदाहरण यहाँ चित्र ३:४ (पृ० ४२) में उन्हीं की व्याख्या के अनुसार तोड़कर दिखाया गया है।[३७]

अ = I, O, O	ग = ⌐,]	ब = p, p
इ = ', (	घ = W	भ = 8
ई = ̶	च = ̶	म = ☐, IIII, M, ~
उ = U	ज = ̶	य = ̶
ऊ = W	ण = ɔ,]	र =), Y, I, (
ऋ = F, ̶, ̶	त = ⅄, ⅄	ल = ̶
ए = \\/	द = (, Δ, Δ	व = V, V
ओ = ̶	ध = D, T, ∞	श = Y, Y
अनुस्वार = "	न = II, Λ, V, V, ?, III, ̶	स = E, E, ̶
क = +		ह = 8, 8, 8, H
ख = ̶, ̶, X	प = O, O, O	त्र = ̶, ̶, >, ̶

7/76

चित्र ३:३

= ' ∧ (/ = इनदर = इन्द्र (8/76)

चित्र ३:४

(३) सिन्धु-लिपि में प्रतीकात्मक लेखन होता है। डॉ० साहब द्वारा मुझे व्यक्तिगत रूप से समझाया गया प्रतीकात्मक शैली का एक लेख 'भारत' यहाँ चित्र ३:५ में व्याख्या-सहित दिखाया गया है।[३८] इस आयत का मनुष्य जैसा दीखने वाला चित्र उपरि-विवेचित 'संश्लिष्ट वर्ण' के नियम के अनुसार भिन्न-भिन्न रेखा-संकेतों में बाँटकर दिखाया गया है, जिससे ज्ञात होता है कि इस मनुष्य के-से चित्र में ऊपर

= III ̶ I O I Λ I O

भारत त्रि वृत्र अप अन अप

9/76

चित्र ३:५

(उत्तर में) 'त्रिवृत्र' लिखा है, पूर्व में और पश्चिम में 'अप' लिखा है और मध्य में 'अन' लिखा है। अतः इस पूरे चित्र-जैसे शब्द का ध्वन्यात्मक मूल्य निम्नलिखत है—

'त्रिवृत्र—अप - अन—अप'

अब इन शब्दों के अर्थ लिए जाएँ। डॉ० फतेहसिंह के अनुसार इनके अर्थ और

उनसे प्राप्त होने वाले प्रतीकात्मक अभिप्राय निम्नलिखित हैं—

(१) त्रिवृत्त=तिब्बत। जिसके उत्तर में तिब्बत है।
(२) अप=जल=समुद्र। जिसके पश्चिम में समुद्र है।
(३) अन=प्राण=लोग, जाति, राष्ट्र। प्रधान प्रतीक।
(४) अप=जल=समुद्र। जिसके पूर्व में समुद्र है।

अतः यह समूचा चित्र 'भारत' राष्ट्र का प्रतीक है।

(४) इन 'वर्णों' की आकृतियाँ उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले नासिका, जीभ, दाँत इत्यादि अंगों को प्रदर्शित करती हैं। यह नियम संसार की सभी लिपियों की प्रारम्भिक अवस्था के संकेतों पर लागू होता है।[३९]

(५) उर्दू-लिपि का मूल भी इसी सिन्धु-लिपि में है।[४०]

(६) सिन्धु-लिपि दाएँ से बाएँ को भी लिखी जाती है और बाएँ से दाएँ को भी।[४१]

(७) 'सिन्धु-लिपि' नाम से विख्यात एक लिपि नहीं है। कहीं दो, कहीं तीन और कहीं चार लिपियों का प्रचलन था। डॉ० साहब ने लिपि-द्वय[४२], लिपि-त्रय[४३] तथा लिपि-चतुष्टय[४४] नाम से उदाहरण संकलित किये हैं। उनमें से एक-एक उदाहरण यहाँ चित्र ३:६ में दिखाया गया है। वैसे डॉ० साहब ने लिपि-द्वय के सत्रह, लिपि-त्रय

लिपि-द्वय
लिपि-त्रय
लिपि-चतुष्टय
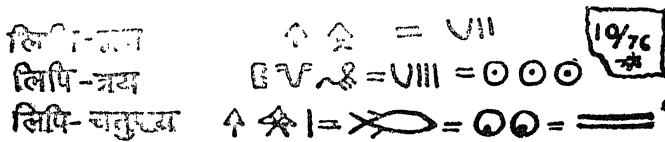
चित्र ३:६

के चार और लिपि-चतुष्टय का केवल एक उदाहरण प्रस्तुत किया है।

३:२:१:१ : डॉ० फतेहसिंह के मत का परीक्षण : इस मत का परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि इस मत में अनेक दोष हैं, अतः इसे सिन्धु-लिपि के पढ़ने का आधार नहीं बनाया जा सकता। मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) यदि डॉ० साहब का चार लिपियों के प्रचलन का मत उचित होता और उनका यह दावा सत्य होता कि उन्होंने इस पद्धति से पच्चीस सौ से अधिक ('पंचविंशतिशतकादपि अधिकान्') सिन्धु-लेखों को पढ़ लिया है[४५], तो वे उन चारों लिपियों की 'वर्णमाला' (संकेत-सूची) प्रस्तुत करते। उन्होंने केवल एक लिपि की 'वर्णमाला' प्रस्तुत की है, वह भी अधूरी और दोषपूर्ण है। चित्र ३:३ में दिखाए गए सिन्धु-संकेतों को ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि 'प' और 'अ' के संकेतों में साम्य है; 'आ' 'ङ', 'ट', 'ष' आदि कुछ ध्वनियों के लिए संकेतों का अभाव है, जबकि अन्यत्र यह उल्लेख है कि सिन्धु-भाषा में इन ध्वनियों का प्रयोग होता था।[४६]

(२) संश्लिष्ट वर्ण का नियम सर्वत्र एक-सा कार्य नहीं करता। उसमें अनेक

स्थानों पर खींच-तान की गई है; उदाहरणार्थ चित्र ३:७ के 'मनु', 'राष्ट्र' और 'वषट्' में।[४७] 'मनु' का सिर ही 'म' हो सकता है, 'उ' उल्टा है, पैर में 'न' है।

= मनु = राष्ट्र = वषट्

चित्र ३:७

'राष्ट्र'-संकेत के निचले भाग में ठीक वैसा ही 'न' दिखाई देता है जैसा 'मनु' में है। उसे 'न' क्यों न पढ़ा जाये ? 'राष्ट्र'-संकेत में केवल खड़ी पाई 'र' हो सकती है; 'ष्ट्र' अंश की व्याख्या कहीं नहीं दी गई। 'वषट्' का केवल 'व' स्पष्ट है। यदि दोनों ऊपरी शीर्ष 'ष' हों, तो भी यह संकेत 'षवष' हो सकता है, 'वषट्' नहीं पढ़ा जायेगा।

(३) प्रतीकात्मक लेखन का नियम तो नितांत अग्राह्य है। जो समाज ध्वन्यात्मक लेखन जानता हो, वह 'भारत' न लिखकर, उसे 'त्रिवृत्र-अप-अन-अप' क्यों लिखेगा ? कम से कम स्थान में अधिकतम लेखन का सिद्धांत मान लिया जाये, तो

= भारत = भ अ (आ) र त

चित्र ३:८

भी 'भारत' शब्द को डॉ० फतेहसिंह द्वारा दी गई 'वर्णमाला' के अनुसार यहाँ चित्र ३:८ में दिखाई गई विधि से लिखा जा सकता था।[४८] ऐसी अन्य विधियाँ भी हो सकती थीं। अन्य ध्वनियों द्वारा प्रतीकात्मक शब्द लिखने की आवश्यकता का स्पष्टीकरण नहीं दिया गया।

(४) वर्णाकृतियों के नासिकादि की अनुकृति होने के सिद्धांत को बहुत हल्के ढंग से कह दिया गया है। ऐसे विस्तृत नियमों को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण जुटाने की आवश्यकता होती है। संसार की अनेक प्राचीन लिपियों के विविध संकेतों पर यह सिद्धांत सिद्ध हो पायेगा, इसमें सन्देह है।

(५) उर्दू-लिपि का मूल असंदिग्ध रूप से अरबी लिपि में विद्यमान है। अरबी शामी (सेमिटिक) से उत्पन्न हुई है। यहाँ तक की खोज असंदिग्ध प्रमाणों के आधार पर उपलब्ध है।[४९] इस पर भी डॉ० फतेहसिंह उर्दू के संकेतों को सीधा सिन्धु-लिपि से जोड़ने का प्रयत्न करते हैं। उनके तर्क लिपि-विकास के निकषों[५०] के विरुद्ध होने के कारण अमान्य हैं।

(६) सिन्धु-लिपि का दोनों दिशाओं में लेखन प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं।

(७) चार लिपियों का सिद्धांत उपरिलिखित प्रथम कारण से अमान्य है।

(शेष पृष्ठ ४६ पर देखिए)

चित्र ३:६

(पृष्ठ ४४ से आगे)

३:२:२ : **श्री एस० आर० राओ का मत** : यदि काल-क्रम से देखा जाये तो डॉ० फतेहसिंह के पश्चात् स्वामी शंकरानंद के मत पर विचार किया जाना चाहिये; किन्तु कृतित्व की दृष्टि से श्री राओ, स्वामी जी से बहुत पीछे रह गये हैं। अतः पहले श्री राओ के मत पर ही विचार किया जा रहा है। उनके लेख 'दी लैंग्वेज् हरप्पन्स् रोट्'[५१] तथा उनके साथ भेंट के आधार पर 'मदरलैंड' के संवाददाता द्वारा लिखित लेख 'दी ब्राईट् पीपुल् आव् हिस्ट्रीज् डार्क् कार्नर्'[५२] से तथा उक्त लेखों के साथ दिये गये चित्रों से श्री राओ का सिन्धु-लिपि-सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्त होता है। 'मदरलैंड' के लेख के साथ प्रकाशित तालिका विस्तृत है। उसे स्वतःपूर्ण कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें सिन्धु-लेखों के उच्चारण भी अक्षरशः दिये गये हैं।

उक्त सामग्री का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने के पश्चात् इन पंक्तियों का लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि श्री राओ का मत डॉ० फतेहसिंह की अपेक्षा अधिक तर्कपूर्ण होते हुए भी कई दृष्टियों से अपूर्ण और दोष-युक्त है।

श्री राओ ने जिन संकेतों एवं लेखों की व्याख्या की है, उन्हें क्रमबद्ध करके यहाँ चित्र ३:६ (पृ० ४५) की ग्यारह आयतों में रखा गया है। उनके चित्रों से यत्र-तत्र बिखरे हुए या संश्लिष्ट अक्षरों से स्पष्टतः विलग किए जा सकने योग्य अलग-अलग ध्वनिग्रामों के जो संकेत मुझे मिले हैं, उन्हें वर्तमान नागरी-वर्णमाला के क्रमानुसार आयत में रखा गया है। 'त्र' को भी उसी आयत में अन्तिम 'वर्ण' के रूप में दिया गया है, किन्तु अन्य 'संयुक्त व्यंजन' वर्णमाला' में सम्मिलित नहीं किये गये। चित्र ३:६ की आयत –१ में प्रत्येक ध्वनिग्राम के संकेत दिखाने के लिये पहले नागरी का संकेत, तत्पश्चात् कोष्ठकों में क्रमशः रोमन और अरा का उसी ध्वन्यात्मक मूल्य का संकेत और 'समान है' के संकेत के पश्चात् श्री राओ के अनुसार उसी ध्वन्यात्मक मूल्य के सिन्धु-संकेत (एक या अधिक) दिखाये गये हैं। शेष दस आयतों में विविध प्रकार के संकेत विशेष सिद्धांतों के वर्गों के अनुसार बाँटकर रखे गये हैं। श्री राओ द्वारा दी गई व्याख्याओं के आधार पर सिन्धु-लिपि की प्रकृति को स्पष्ट करने वाले जो सिद्धांत सिद्ध होते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

(१) सिन्धु-लिपि अभिव्यक्ति-मूलक वर्गीकरण[५३] में उच्चारण-बोधक-लिपि है। इसके संकेतों का आधार[५४] ध्वनिग्राम है। इनमें स्वर या व्यंजन के लिए निश्चित संकेत है। चित्र ३:६ के प्रथम आयत में ऐसे संकेत दिखाए गए हैं। उनमें निम्नलिखित ध्वनियों के संकेत सम्मिलित हैं—

अ	आ	ऋ
क	ग	घ
		ण
त	द	न

प	ब	म
र	ल	
स	ह	ह.
	त्र	

—कुल उन्नीस

(२) किसी एक ध्वनिग्राम के लिए एक और किसी अन्य ध्वनिग्राम के लिए एकाधिक संकेत निश्चित हैं; जैसे चित्र में 'स' के लिए एक, 'ह' के लिए दो, 'द' के लिए तीन, 'अ' के लिए चार और 'प' के लिए छः संकेत दिखाये गये हैं।

(३) 'द्यु' और 'ह्व' ध्वनिग्राम-समूहों के लिए आघातीय संकेत[५५] हैं। इन्हें ऊपर दिए गए सिद्धान्त (१) का अपवाद समझा जा सकता है। चित्र ३:९ की आयत-२ में दोनों अक्षर दिखाए गए हैं।

(४) व्यंजनों में कहीं 'अ' अन्तर्भूत[५६] समझा जाता है और कहीं 'अ' को मात्रा के रूप में जोड़ा जाता है; जैसे प्रथम आयत के व्यंजनों में 'अ' अन्तर्भूत है, किंतु आयत-३ की दूसरी पंक्ति में 'र' (मनुष्य) के संकेत में 'अ' (यू) का संकेत जोड़कर दिखाया गया है।

(५) 'अ' की मात्रा (एक आधी रेखा) तथा 'आ' की मात्रा (दो आधी-आधी रेखाएँ) जहाँ भी स्थान मिले, वहाँ जोड़ी जा सकती हैं। आयत-४ तथा ५ में क्रमशः 'आ' और 'अ' की मात्राएँ विभिन्न विधियों से व्यंजनों में जोड़ी गई हैं।

(६) कई व्यंजन और स्वर-संकेत मिलकर संश्लिष्ट अक्षर की रचना करते हैं। आयत-३, ५, ६, ७ और ११ में ऐसे उदाहरण दिए गए हैं। आयत-९ का (१) 'शास' है और (२) 'शक्' है।

(७) महाप्राण बनाने के लिए 'ह' का संकेत जोड़ा जाता है। इसका एकमात्र उदाहरण चित्र के आयत-१ के 'घ' में संकलित है। वहाँ स्पष्ट 'ग+ह' को 'घ' पढ़ा गया है ऐसे अन्य महाप्राणों के उदाहरण नहीं दिए गए।

(८) एक संकेत अर्थबोधक[५७] लेखन का नमूना भी प्रस्तुत करता है। आयत-१० में 'भ्रमर' का चित्र है। उसे 'अलि' पढ़ा गया है। आयत-९ के (२) में 'शक्' का 'श' भी पक्षी का चित्र प्रतीत होता है किंतु उसे 'श' ध्वनि का संकेत मानकर उच्चारण-बोधक ही माना गया है।

(९) संख्याओं के लेखन के लिए रेखाओं की संख्या को अंक की अभिव्यक्ति का आधार माना गया है। आयत-८ के संकेत इसके प्रमाण हैं। आयत-१ का 'त्र' भी 'त्रि' के कारण संख्या से ध्वनि-बोधक हो गया है। श्री राओ ने 'एक' और 'त्र' (वस्तुतः 'त्रि') को ध्वनिबोधक रूप में भी प्रयुक्त किया है। आयत-२ और ११ के 'द्यु' के पीछे भी 'द्वौ' की भावना प्रतीत होती है—

(१०) बहुधा सिन्धु-लिपि को दाहिने से बाएँ को (उर्दू की तरह) पढ़ा जाता है; जैसे आयत-११ तथा ३ के उदाहरणों में; किन्तु कहीं-कहीं इसमें विघ्न भी पड़ा है।

३:२:२:१ : श्री राओ के मत का परीक्षण : इस मत के परीक्षण के लिए एक-एक सिद्धान्त पर क्रमशः विचार किया जा रहा है।

(१) इस लिपि की व्याख्या करते समय श्री राओ ने ध्वनिग्रामों के जो संकेत निश्चित किए हैं, उनमें कई दोष हैं। प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(क) स्वर-संकेतों की सूची सर्वथा अपूर्ण है। स्वयं श्री राओ ने सिन्धु-सभ्यता की जिस भाषा की कल्पना की है, उसमें संस्कृत का मूल दिखाई देता है 'उ', 'इ', 'औ' जैसे स्वरों का उच्चारण उन्होंने कई लेखों में स्वीकार किया है, फिर भी उनके मूल संकेतों के अभाव का कोई कारण नहीं दिया।

(ख) व्यंजन-सूची में केवल 'घ' ही महाप्राण दिखाया गया है, वह भी 'ग' में 'ह्' जोड़कर। अन्य व्यंजनों की सूची और संस्कृत भाषा का आधार—यदि श्री राओ को ये तथ्य स्वीकार हैं तो ख, थ, ध, फ, भ के संकेत भी होने चाहिएँ। यदि सिन्धु-लिपि में इन संकेतों की आवश्यकता नहीं है तो श्री राओ को यह घोषित करना चाहिए कि सिन्धु-भाषा संस्कृत से सर्वथा भिन्न कुल की भाषा थी अथवा उस भाषा में महाप्राण ध्वनियों का विकास नहीं हुआ था।

(ग) संकेत-सूची में 'क वर्ग' के रहते 'ङ' का अभाव और 'ण' के रहते 'ट वर्ग' का अभाव बहुत खटकता है।

(घ) 'श' का उच्चारण श्री राओ ने कल्पित किया है (आयत-९ का 'शास' और 'शक्' देखिए), किन्तु 'श' के पृथक्-पृथक् संकेत को पहचानना कठिन है।

(ङ) नये प्रकार के ह (ह़) की कल्पना क्यों करनी पड़ी ? इसकी व्याख्या नहीं दी गई।

(२) एक ध्वनि के लिए एकाधिक संकेतों की कल्पना का कारण स्पष्ट नहीं है। वह सर्वत्र एक जैसी क्यों नहीं है ? डॉ० फतेहसिंह ने कम से कम यह स्वीकार तो किया था कि सिन्धु-सभ्यता के काल में अनेक लिपियाँ प्रचलित थीं। श्री राओ ने तो ऐसा भी कोई संकेत नहीं दिया। फिर किस आधार पर एक ही ध्वनिग्राम के कई-कई संकेत मान लिए ?

(३) आघातीय संकेतों की कल्पना ध्वनिग्रामीय संकेतों के साथ मेल नहीं खाती। कम से कम 'द्यु' और 'ह्व' किसी संयोजन प्रक्रिया[५८] को भी नहीं दिखाते। अतः ये संकेत कोरी खींच-तान प्रतीत होते हैं।

(४) अंतर्भूत 'अ' और 'अ' का अव्यवस्थित संयोजन क्यों उचित मान लिया जाए ? कोई लैपि-विज्ञानिक सिद्धांत तो दिया जाना चाहिए था। जो जाति 'अ', 'आ' का मात्रावत् सरलता से प्रयोग कर सकती हो (देखिए चित्र ३:९ के आयत-४ के अक्षर

क्रमशः— 'पा', 'रा', 'रा', 'ह़ा', 'ह़ा' और 'ला'। इसी प्रकार देखिए आयत-५ के अक्षर क्रमशः – 'ब', 'ह्व', 'म' और 'ह'), वह जाति 'अ' का अव्यवस्थित संयोजन क्यों करे ? (देखिए आयत-३ की प्रथम दो पंक्तियों में संयोजन द्वारा बने क्रमशः 'प्+आ=पा' और 'र्+आ=र'। 'प' में से अंतर्भूत - 'अ' हटाया गया है, तब अविकृत 'अ' संयोजित किया गया है। 'र' में से अंतर्भूत – 'अ' नहीं हटाया गया, फिर भी अतिरिक्त 'अ' अविकृत रूप में मिलाया गया है)।

(५) 'द्यु' शब्द का उच्चारण करने वाली जाति के पास 'उ' की मात्रा क्यों नहीं है ? सारे लेखों में केवल 'अ' और 'आ' की मात्राएँ ही क्यों दिखाई गई हैं ? जब वे लोग 'अलि' बोलते थे तो उनके पास 'इ' स्वर और उसकी मात्रा भी होगी। अतः ऐसा लगता है कि श्री राओ ने जिन मात्राओं की कल्पना की है वे अपूर्ण तो हैं ही, शायद दोषपूर्ण भी हैं। सम्भव है स्थान-भेद से उनकी अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न स्वरों की हो जाती हो। ब्राह्मी में भी एक अर्द्ध-रेखा और दो अर्द्ध-रेखाएँ मात्रा का काम करती हैं किन्तु ऊपरी छोर पर दाहिने रहने पर 'अ-आ', या वक्र होने पर 'इ-ई', बाएँ रहने पर 'ए-ऐ' दोनों ओर रहने पर 'ओ-औ' की अभिव्यक्ति देती हैं और निचले छोर पर दाहिने या नीचे को होने पर 'उ-ऊ' की अभिव्यक्ति देती हैं। अतः श्री राओ द्वारा कल्पित मात्राएँ ब्राह्मी के अनुकूल होकर भी बहुत अपूर्ण हैं।

(६) संश्लिष्ट व्यंजन का सिद्धांत तर्क-संगत है किन्तु उसका सर्वत्र समान प्रयोग नहीं है।

(७) महाप्राण बनाने के लिए तीन रेखाओं वाला 'ह' जोड़ने का सिद्धांत भारतीय लिपियों के अनुकूल नहीं बैठता। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री राओ ने खींच-तान करके यह संकेत देना चाहा है कि पश्चिम का 'पी+एच' को 'फ' पढ़ने का मूल शायद सिन्धु-लिपि में विद्यमान था। किंतु व्यर्थ खींचतान को ऐतिहासिक तथ्य टिकने नहीं देते। बाद के ब्राह्मी के संकेत कुछ ऐसा आभास तो देते हैं कि शायद 'शून्य' जैसा या 'सी' (C) जैसा गोला लगाकर महाप्राण बनाने की कोई पद्धति रही हो जिसके अवशेष के रूप में ब्राह्मी के 'प' से 'फ' या 'ड' से 'ढ' बनाने जैसे संकेत बचे हैं। श्री राओ का सिद्धांत भारत के लिपि-विकास के इतिहास में ठीक नहीं बैठता। अतः या तो सैन्धव लोग महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण ही नहीं करते थे, या श्री राओ का 'ग+ह=घ' मानने का सिद्धांत तब प्रचलित नहीं था, वरन् ख, घ इत्यादि के स्वतन्त्र संकेत प्रचलित थे।

(८) 'अलि' के चित्र को ध्वनि में रूढ करके 'अलि' पढ़ना नितान्त असंगत मान्यता प्रतीत होती है। यदि इसे सत्य माना जाए तो 'त्रिशूल', 'मत्स्य' इत्यादि के चित्रों की 'अर्थबोधक' ध्वनि-रूढ़ अभिव्यक्ति भी ग्रहण करनी चाहिए और तदनुसार उन्हें 'त्रिशूल', 'मत्स्य' इत्यादि ही पढ़ना चाहिए। उन्हें 'ह़', 'ल' इत्यादि क्यों माना जाए ?

(९) अंक-संकेतों पर तो कोई आपत्ति नहीं किन्तु उन्हें ध्वन्यात्मक रूप में 'एक', 'द्वि-द्यु-द्यौ', 'त्रि-त्र' इत्यादि मानना नितांत असंगत प्रतीत होता है। जब 'त' और 'र' के लिए पृथक् संकेत हैं, तब 'तीन' के संकेत को 'त्र' मानना क्यों आवश्यक हुआ?

(१०) लेखन की दिशा पर भी आपत्ति नहीं है किन्तु अक्षर या शब्द के मध्य दिशा बदलना असंगत है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री राओ का यह दावा उचित नहीं है कि उन्होंने सिन्धु-लिपि को ठीक से पढ़ लिया है। उनके सिन्धु-लिपि को पढ़ने के सिद्धांतों में अनेक त्रुटियाँ हैं। अतः उनकी विधि को नहीं माना जा सकता।

३:२:३ : **स्वामी शंकरानन्द का मत :** स्वामी शंकरानन्द ने सिंधु-लिपि पर तथा सिन्धु सभ्यता के अन्य अंगों पर अनेक ग्रंथ लिखे हैं। भारतीय इतिहास के इस प्राचीन अध्याय का उद्घाटन करने वाली उनकी कृतियाँ सन् १९४३ से प्रकाशित होनी प्रारम्भ हुईं।[५९] उनमें लिपिविज्ञान-सम्बन्धी सामग्री अनेक स्थलों पर दी गई है। 'दी रिग्वैदिक् कल्वर् आव् दी प्रि-हिस्टारिक् इंडस्'; जिल्द ३; भाग १ (अंग्रेजी) अथवा उसके विशेष नाम से पुकारें तो 'इन्ट्रोडक्शन टु दी डिसिफरमैंट आव् दी एन्श्येंट पिक्टोग्राफ़िक स्क्रिप्ट्स आव् इंडिया' तथा 'दी डिक्शनरी आव् इंडियन् हाइरोग्लिफ़्स्' (अंग्रेजी)—ये दोनों ग्रंथ सिन्धु-लिपि पर बहुत व्यवस्थित तथा विस्तृत सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

इन स्रोतों के आधार पर सिन्धु लिपि के विषय में स्वामी जी का मत निम्नलिखित है—

(१) **ध्वनिलिपि**—अभिव्यक्ति के आधार पर सिन्धु-लिपि के सभी संकेतों का ध्वन्यात्मक मूल्य है। इस प्रबन्ध के चित्र २:३ (पृ० १८) में दिखाए गए 'कर' और रक के लिए सिन्धु-संकेत (जिनमें सूर्य=र और मनुष्य=क है) सिन्धु-लिपि के वास्तविक लेखन के उदाहरण हैं।[६०] वे कल्पित संकेत नहीं हैं। आगे के कई चित्रों में ऐसे अनेक उदाहरण दिखाए गए हैं।

(२) **चित्र-रेखा-संकेत**—आकृति के आधार पर सिन्धु-लिपि के संकेत दो कोटियों के हैं—(१) चित्र-संकेत और (२) रेखा-संकेत। कुछ मोहरों पर केवल चित्र-संकेत हैं, कुछ पर केवल रेखा-संकेत हैं, जबकि अधिकांश मोहरों पर कुछ चित्र-संकेत और कुछ रेखा-संकेत खुदे हैं।[६१] ये चित्र-संकेत प्रायः सरल हैं और कुछ रेखाओं द्वारा बने होने के कारण रेखा-लिपि के संकेतों की तरह प्रयुक्त हो सकते हैं। अतः आकृति-मूलक वर्गीकरण में सिन्धु-लिपि मिश्रित अवस्था की लिपि है। यहाँ चित्र-३:१०
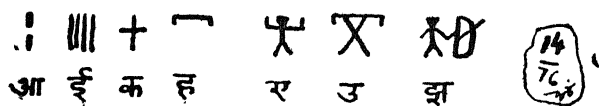
चित्र ३:१०

में दिखाए गए सिन्धु-संकेतों में से प्रथम चार रेखा-संकेत हैं और अन्तिम तीन चित्र-संकेत हैं।[६२]

(३) **एक ध्वनि के लिए कई संकेत**—सिन्धु-लिपि में एक ही ध्वनि के लिए कहीं एक प्रकार का संकेत है तो दूसरे लेख में दूसरी प्रकार का संकेत है। इस प्रकार एक ही ध्वनि के लिए प्रयुक्त कई प्रकार के संकेत उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ 'क' के लिए प्रयुक्त कुछ संकेत यहाँ चित्र ३:११ में दिखाए गए हैं।[६३] इनके अतिरिक्त भी कुछ संकेत हैं जो 'क' को ही अभिव्यक्त करते हैं। उदाहरणार्थ, इस प्रबन्ध के अनुच्छेद
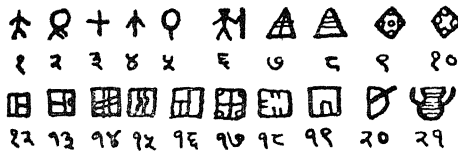
चित्र ३:११

'२:७ (क)' के आकृति-मूलक वर्गीकरण की चित्र-लिपि के उदाहरण में 'क' के लिए 'ब्रह्म' का चित्र-संकेत उपलब्ध है।

(४) **निश्चित अभिव्यक्ति**—सिंधु-लिपि के प्रत्येक संकेत की अभिव्यक्ति निश्चित है। इन संकेतों के ध्वन्यात्मक मूल्य अनेक उपलब्ध संकेत-कोषों के आधार पर प्रामाणिक रूप से स्थिर किये जा सकते हैं।[६४] ऐसे अपवाद नगण्य हैं, जहाँ किसी एक संकेत के लिए एकाधिक ध्वन्यात्मक मूल्यों का प्रयोग हुआ हो। ऐसा एक अपवाद यहाँ चित्र ३:१२ में दिखाया गया है जिसमें 'प' के संकेत को तीन बार लिखकर 'प प प' न पढ़कर 'पा' पढ़ा गया है।[६५]

U = प　　UU = पप　　UUU = पा

चित्र ३:१२

(५) **संकेतों की आकृति के आधार**—सिंधु-लिपि में प्रयुक्त संकेतों की आकृतियों के दो प्रमुख आधार हैं—गणना और भाव। प्रत्येक आधार को नीचे स्पष्ट किया जा रहा है।

(क) **गणना का आधार**—कुछ संकेतों की आकृतियाँ गणना के आधार पर निश्चित की गई हैं। ऐसे कुछ संकेत यहाँ चित्र ३:१३ में दिखए गए हैं।[६६] इनमें से कुछ संकेत तो स्पष्टतः कुछ रेखाओं या बिन्दुओं की गणना के आधार पर बने हैं, अतः उन बिन्दुओं या रेखाओं को विभिन्न ढंगों से लिखने पर भी निश्चित ध्वनि की अभिव्यक्ति बनी रहती है। 'लृ' के तीसरी पंक्ति के तीन संकेतों में तीन शिखरों का

तीन विभिन्न ढंगों से लेखन जटिल होकर भी 'लृ' की 'नौ' रेखाओं की गणना पूरी करता है।

चित्र ३:१३

(ख) **भाव का आधार**— अधिकांश सिंधु-संकेत किसी पदार्थ या स्थिति के चित्र हैं, जिनके ध्वन्यात्मक मूल्य निश्चित हैं। उदाहरणार्थ, 'कुत्ता' 'क' ध्वनि का संकेत है। कुत्ते का चित्र यादृच्छिक रूप से बन सकता है। इस प्रबन्ध के चित्र ३:११ (पृ० ५१) को देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम पाँच संकेत 'मनुष्य' के ही विभिन्न चित्र हैं। सिंधु-लिपि के लेखन में ऐसे या इससे मिलते-जुलते किसी चित्र से 'मनुष्य' का भाव स्पष्ट होना चाहिए, तब वह 'क' ध्वनि का संकेत होगा। इस प्रकार इसी चित्र में दिए गये संकेत ६ से 'दण्डहस्त', संकेत ७ और ८ से 'आलय' (घर), संकेत ९, १० और ११ से 'नगर', संकेत १२...१८ से 'कटि' (प्लिथ), संकेत १९ से 'वेश' (घर), २० से 'धनु' और २१-२२ से 'ब्रह्म' (पात्र) का भाव अंकित किया जाता है और विविध संकेत-कोषों के अनुसार ये भाव 'क' ध्वनि को व्यक्त करते हैं। यही स्थिति अन्य ध्वनियों के संकेतों की है।

(६) **उभय-दिक्-लेखन**— सिंधु-लिपि दाहिने से बाएँ को भी लिखी जाती थी और बाएँ से दाहिने को भी। यहाँ चित्र ३:१४ में ब्रिटिश म्यूज़ियम में रखी दो मोहरों के लेख दिखाए गये हैं। इनमें से एक में 'जेत उम्म' दाहिने से बाएँ को लिखा है और

चित्र ३:१४

दूसरी में बाएँ से दाहिने को 'ऋकज कठ' या 'रिकज कठ' लिखा है। ऐसी मोहरें भी हैं, जिनमें एक मोहर पर जो कुछ केवल बाएँ से दाहिने को खुदा हुआ है, दूसरी मोहर पर वही लेख दाहिने से बाएँ को खुदा है।[६७] अतः सिंधु-लिपि का दोनों दिशाओं में लिखा जाना अवश्य प्रचलित था।

(७) **संयोजन**—सिंधु-लिपि में असंयोजित संकेतों का प्रयोग तो होता ही था संयोजित अक्षर-संकेतों का प्रयोग भी प्रचलित था। यहाँ चित्र ३:१५ में सिंधु-लिपि

= कठ = क, ठ
= कज = क, ज
= धी = ध, ई
= पकठ = प, क, ठ

चित्र ३:१५

के कुछ संयोजित अक्षर दिखाए गए हैं।[६८] प्रत्येक के सामने उस अक्षर में प्रयुक्त आधार-संकेतों को पृथक् करके दिखाया गया है।

३:२:३:१ : स्वा० शंकरानंद के मत का परीक्षण : इस मत का परीक्षण करने पर इन पंक्तियों का लेखक इस परिणाम पर पहुँचा है कि **यह मत सिंधु-लिपि के पठन का उचित आधार प्रस्तुत करता है**। इस मत का औचित्य निम्नलिखित कारणों से सिद्ध होता है।

(१) इस मत में सिंधु-लिपि को सर्वत्र ध्वनि-लिपि के नियमों के अनुसार पढ़ा गया है और सहस्रों सिंधु-लेखों को सफलतापूर्वक पढ़ते समय ध्वनि की अभिव्यक्ति देने वाले संकेत सार्थक सिद्ध हुए हैं।

(२) इस विधि से पढ़ने के आधार वे कोष हैं जिनमें चित्र-संकेतों के अर्थ दिए हैं। वे कोष निम्न कारणों से उचित आधार हैं--

(क) विविध मत-मतांतरों के लोग शताब्दियों से उन कोषों का प्रयोग मंत्रों की ध्वनियों को गुप्त रखने के लिए करते आए हैं। सर जान वुडराफ (लेखकीय नाम—'आर्थर ऐवालों') जैसे विद्वान् ने ऐसे कोषों का प्रकाशन तब करवाया जब उन्हें यह विचार भी नहीं आया था कि यही कोष सिंधु-लिपि के संकेतों का आधार सिद्ध होंगे।[६९]

(ख) धार्मिक निधि होने के कारण ये कोष अति प्राचीनकाल से सुरक्षित और अपरिवर्तित चले आ रहे हैं।

(ग) इन कोषों के अनेक संकेत-अभिप्राय जन-सामान्य में प्रचलित हो गए हैं, जो किसी-किसी गुप्त मंत्र के जन-सामान्य में प्रकट हो जाने से ही सम्भव था। उदा-

हरणार्थ 'क्लीम्'[७०] के 'क'[७१] और 'ई'[७२] का अर्थ 'कामदेव' और 'म'[७३] का अर्थ 'ऐन्द्रजालिक चुटकला' आज भी शब्द कोष में उपलब्ध हैं जो 'क्लीं' मंत्र के 'मन्मथ' अर्थ में जनता तक पहुँच जाने का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। दूसरी ओर 'क' का अर्थ 'ब्रह्मा'[७४] प्रचलित होना और चंद्रबिंदु ('इंदु') का अनुस्वार ग्वङ् तथा अनुनासिकत्व के लिए समय-समय पर व्यवहृत होना 'क्लीं' के चित्र-संकेतों द्वारा लेखन के प्रमाण के रूप में विद्यमान हैं। इन कोषों के ऐसे अनेक संकेतों का जन-सामान्य में प्रचलित होना इनके प्राचीन अस्तित्व का सबल प्रमाण है।

(३) शंकरानंद की विधि से पठित सिंधु-लेखों में जो विषय उपलब्ध हैं, वे सिंधु-सभ्यता के अन्य प्रमाणों से मेल खाते हैं। तत्कालीन भाषा के शब्द, जातियों के नाम, वस्तुएँ इत्यादि इन लेखों के विषय का प्रतिपादन करती हैं।

(४) 'पंचमार्क' सिक्कों पर **चित्र-लिपि** (सिंधु-लिपि का ही एक भाग) तथा **रेखा-लिपि** (ब्राह्मी) में एक-साथ अंकित लेखों में समानता शंकरानंद के मत के पक्ष में अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करती है।[७५]

(५) इस मत के अनुसार सिंधु-लेखों को पढ़ने से मैसोपोटैमिया में उपलब्ध सिंधु-लेखों का विषय भी इतिहास से मेल खाता है।

(६) एक साथ चित्र-संकेतों और रेखा-संकेतों का प्रचलन कोई व्यवधान प्रस्तुत नहीं करता, वरन यह संकेत देता है कि भारत में सिंधु-सभ्यता से पूर्व दो प्रकार की लिपियों का प्रचलन था। सिंधु-सभ्यता के काल में दोनों प्रकार की लिपियों का मिश्रण प्रारम्भ हो गया था। अत: इसे लिपियों का संक्रान्ति-काल कहा जा सकता है। दोनों प्रकार की लिपियों के अस्तित्व के संकेत ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक के सिक्कों में भी उपलब्ध हैं।

(७) एक ही ध्वनि के लिए कई संकेतों का प्रचलन भी यही संकेतित करता है कि अनेक मत-मतान्तरों के संकेत-कोषों का तब प्रचलन था और उनके अनेक संकेत जनता में पहुँचने लगे थे।

(८) प्रत्येक संकेत का निश्चित ध्वनि की अभिव्यक्ति देना तत्कालीन लिपि-प्रयोग की प्रौढ़ता का प्रमाण है। ऐसी प्रौढ़ता के पीछे लिपि-विकास का इतिहास अवश्य रहा है। इस प्रमाण से स्वा० शंकरानंद के लिपि-मिश्रण के सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

(९) संकेताकृतियों के आधार भी शंकरानंद के मत की पुष्टि करते हैं। गणना के आधार पर बने संकेत रेखा-लिपि की धारा के प्रतिनिधि हैं, तो भाव के आधार पर बने संकेत धार्मिक कोषों की चित्र-लिपियों के प्रतिनिधि हैं।

(१०) उभयदिक्-लेखन का सिद्धान्त सिंधु-लिपि की प्रकृति के अनुकूल ही है। इस लिपि का प्रत्येक संकेत पदार्थ, स्थिति या भाव का चित्र अथवा गिनी हुई इकाइयाँ

होने के कारण दाहिने से बाएँ को या बाएँ से दाहिने को लिखने पर समान अभिव्यक्ति देने में समर्थ है।

(११) सिंधु-लिपि में संयोजन पूरी तरह व्यवस्थित नहीं है। यह दो प्रकार की लिपियों के मिश्रण की प्रारम्भिक अवस्था का ही द्योतक है।

३:३ : **सिंधु-लिपि का पूर्व-विकास** : ३५०० ईसा-पूर्व या इससे कुछ पहले[७६] तक सिंधु-लिपि जिस स्वरूप-गठन को प्राप्त कर चुकी थी, वह पर्याप्त विकसित रूप है। तब तक प्रत्येक ध्वनिग्राम के यिए पृथक् संकेत की स्पष्ट व्यवस्था हो चुकी थी। प्रयोग-विधि में संयोजन का क्रम प्रारम्भ हो चुका था। लिपि का इतना विकास अचानक नहीं हो सकता। यदि इस पूर्व-विकास में लगा समय एक हजार वर्ष भी मान लिया जाए (जो वस्तुतः वहुत कम है), तो सिंधु-लिपि का प्रारम्भ ४५०० ईसा-पूर्व के आप-पास होना चाहिये, किन्तु इतने प्राचीन अवशेष प्राप्त होना बहुत कठिन है। भारत-जैसे आर्द्र और उष्ण जलवायु-वाले देश में तो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के ३५०० ईसापूर्व के अवशेष मिलना भी आश्चर्य और सौभाग्य की बात ही थी। हड़प्पा की सातवीं परत के नीचे भी अवशेष होने का अनुमान है किंतु वे जल-मग्न हैं। अतः सिंधु-लिपि से पूर्व भारतीय लिपियों के विकास का अनुमान तर्क के बल पर ही संभव है। इस अनुमान के आधार पर प्रस्तुत किए गए 'लिपि के प्रारंभ'-विषयक विभिन्न मतों का परीक्षण नीचे क्रमशः दिया जा रहा है।

३:३:१ : **लेख-लिपियों की परिधि से बाहर के सिद्धांत** : तागे, पत्थर इत्यादि पदार्थों से बने संकेतों वाली लिपियों का सम्बन्ध सिंधु-लिपि से नहीं है, अतः लेख-लिपियों की परिधि से बाहर के सिद्धांतों पर यहाँ विचार करना व्यर्थ है।

३:३:२ : **घटना-चित्रण का सिद्धांत** : पूरे एक चित्र द्वारा किसी घटना का चित्र दिखाने के सिद्धांत से भी सिंधु-लिपि का कोई सम्बन्ध नहीं है। सिंधु-लिपि ध्वनि-लिपि है। भारत में अर्थबोधक संकेतों का अस्तित्व किसी काल में नहीं रहा।

३:३:३ : **आघातीय विखंडन का सिद्धांत** : इस सिद्धांत के अनुसार पहले पदार्थ-बोधक चित्र-संकेत थे। यह तथाकथित चित्र-लिपि (इस प्रबन्ध के अनुसार '**अर्थ-बोधक** लिपि') थी। बाद में वह चित्र शब्द-विशेष की ध्वनियों के लिए रूढ़ हो गया। तब वह चित्र-संकेत **एक-पदार्थ-बोधक** ('होमोनिम')[७७] न रहकर **एक-ध्वनि-बोधक** ('होमो-फ़ोन')[७८] हो गया। उदाहरणार्थ सूर्य का चित्र सूर्य, रवि, दिनकर इत्यादि का बोधक न रहकर 'सन्' ध्वनि का बोधक हो गया, क्योंकि अंग्रेज़ी का 'सन्' शब्द सूर्य के लिए प्रचलित था। अंग्रेज़ी में 'सन्' शब्द का अर्थ 'सूर्य' भी है, 'पुत्र' भी है। अब 'सन्' का चित्र निश्चित ध्वनियों का बोधक होने के कारण 'सूर्य' भी अर्थ दे सकता था, पुत्र भी।[७९] इसी प्रकार 'आई' का अर्थ 'आँख' भी है, 'मैं' भी। 'आँख' का चित्र-संकेत 'आई' ध्वनियों के लिए रूढ़ हो जाए तो उसी संकेत से 'आँख' भी लिखा जा सकता है, 'मैं' भी। 'पैंट्री' (अर्थात् रसद-खाना, भंडार) लिखना हो तो 'पेन्' (कलम) और

'ट्री' (वृक्ष) के चित्र-संकेत लिखे जाएंगे। जापान की लिपि कतकन के आघात-संकेत इसी प्रकार के हैं, क्योंकि अकेले होने पर भी वे किसी न किसी अर्थ के बोधक हैं, जैसे उक्त उदाहरणों में सन्', 'आई', 'पेन्' और 'ट्री' हैं। भारतीय लिपियों में ऐसे रूढ़ आघातीय संकेतों का प्रचलन नहीं हुआ। केवल भ्रमवश ही आघातीय विखंडन के सिद्धांत को भारतीय लिपियों के साथ जोड़ने का प्रयास किया जाता रहा है। भारत में प्राचीनकाल में प्रचलित चित्र-लिपियों में ध्वनियों के बोधक जो चित्र संकेत थे, वे मात्र **प्रतीक** थे। उदाहरणाथ, एक सम्प्रदाय के लोग 'श' के लिए 'बक', 'र' के लिए 'अग्नि' और 'ई' के लिए 'त्रिमूर्ति' के चित्र-संकेत प्रयोग करते थे।[८०] ये 'श', 'र' और 'ई' ध्वनियाँ मात्र प्रतीक हैं, इनके अर्थ 'बक'-आदि नहीं है। 'श' 'बक' की किसी ध्वनि के आधार पर भी स्थिर नहीं हुआ। यही स्थिति अन्य प्रतीकों में है। अतः आघातीय विखंडन का सिद्धांत भी भारतीय लिपियों की उत्पत्ति को स्पष्ट नहीं करता।

३:३:४ : **प्रथम ध्वनि का सिद्धांत** : शामी वर्ग की लिपियों की उत्पत्ति के आधार पर पश्चिमी विद्वानों का मत रहा है कि प्रारंभ में चित्र-संकेत किसी पदार्थ को अभिव्यक्त करते थे। उनका ध्वनि के साथ सम्बन्ध नहीं था।[८१] बाद में वह चित्र जहाँ आकृति में सरल और रूढ़ हो गया, वहाँ उसका ध्वन्यात्मक मूल्य भी रूढ़ हो गया। उनके मतानुसार यहीं से दो प्रकार का विकास प्रारम्भ होता है। जहाँ एक ओर आघातीय विखंडन द्वारा अक्षर-संकेत बने (ऊपर इस सिद्धांत को भारतीय लिपियों के लिए अस्वीकार किया जा चुका है), वहाँ दूसरी ओर प्राचीन सीरिया और फ़िलिस्तीन के निवासी शामी लोगों ने अपने यहाँ के चित्र-संकेतों को प्रथम ध्वनि के आधार पर ध्वनिग्राम-बोधक बना लिया।[८२] उदाहरणार्थ, प्राचीन शामी लोगों की भाषा में 'बेट' शब्द 'घर' अर्थ देता था, अतः तब घर, गृह, सदन इत्यादि अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए किसी प्रकार घर का चित्र बना देना पर्याप्त था। 'बेट' (घर) का वह चित्र सरल होते-होते एक आयत रह गया (चित्र ३:१६, संकेत १) और 'बेट' शब्द के लिए रूढ़ हो गया। इस रूढ़ संकेत का अर्थ भी निश्चित था और ध्वनियाँ भी निश्चित थीं।

१ २ ३ ४ ५

चित्र ३:१६

बाद में यही संकेत 'बेट' के प्रथम ध्वनिग्राम 'ब्' का संकेत हो गया। चित्र ३:१६ में 'बेट' से बने 'ब्' का आकृति-विकास संकेत **१** से ४ तक दिखाया गया है।[८३] इस चित्र का संकेत ५ यूनानी 'बीटा' भी इसी आयत से विकसित 'ब' ध्वनिग्राम का संकेत है। इस 'बीटा' नाम से शामी 'बेट' की कहानी स्पष्ट लक्षित होती है।[८४] अरबी, हिब्रू, यूनानी (ग्रीक) इत्यादि शामी वर्ग की लिपियों की संकेत-माला के अधिकांश संकेतों

के 'अलफ़ा-बीटा' या 'अलिफ़-बे' इत्यादि नामों की कहानी एक-सी है। सिंधु-लिपि के संकेतों के पदार्थ-सूचक नामों का इतिहास इससे नितांत भिन्न है। अतः शामी वर्ग का 'प्रथम ध्वनि का सिद्धांत' भारतीय वर्ग की लिपियों के संकेतों की उत्पत्ति पर लागू नहीं होता। शामी वर्ग का यह 'अलफ़ा-बेटिक' विकास २००० ईसा पूर्व से पहले का नहीं है, जबकि सिंधु-लिपि में प्रत्येक ध्वनि-ग्राम के लिए पृथक् संकेत होने के ३५०० ईसा पूर्व के निश्चित प्रमाण विद्यमान हैं। यही कारण है कि डेविड डिरिंजर 'अलफ़ा-बेटिक स्क्रिप्ट' की उत्पत्ति के विविध मतों को अस्वीकार करने के पश्चात् जहाँ यह अनुमान प्रस्तुत करते हैं कि फ़िलिस्तीन और सीरिया की प्राचीन लिपियों से 'अलफ़ा-बेटिक' (ध्वनिग्रामीय) लिपि उत्पन्न हुई होगी, वहाँ यह स्वीकार करने को भी बाधित हैं कि 'अलफ़ा बेटिक' लिपि के जन्म के निश्चित स्थान का पता नहीं चला है।[८५]

३:३:५ : **प्रतीक-संकेतों का सिद्धांत** : भारतीय वर्ग की लिपियों के ध्वनिग्राम-संकेतों और अक्षर-संकेतों का 'ध्वनि' के अतिरिक्त 'गामा', 'थीटा' इत्यादि की तरह नाम कभी नहीं रहा। अतः भारतीय वर्ग की लिपियों के उद्‌भव और विकास का इतिहास शामी वर्ग से नितांत भिन्न है। इतिहास में इस तथ्य के प्रमाण अवश्य हैं कि भारतीय व्यापारी-वर्ग गुजरात से पश्चिम के समुद्र-तट के साथ-साथ अरब-भूमि तक पहुँचा।[८६] भारतीय लोग तब बहुत समृद्ध थे। मोहनजोदड़ो के अवशेष इसका अकाट्य प्रमाण हैं।[८७] भारतीयों की तत्कालीन लिपियाँ तत्कालीन शामी लिपियों की अपेक्षा अधिक विकसित थीं। शामी लोगों ने बहुत बाद में (लगभग २००० ईसापूर्व में या इसके बाद) तथाकथित अल्फ़ाबेटिक लेखन की कल्पना की[८८] और वह भी हमारे यहाँ के 'महाजनी' जैसे अर्ध-विकसित ध्वन्यात्मक लेखन से अधिक विकसित नहीं हो सका। अतः भारतीय लिपियों का प्रभाव शामी वर्ग की तत्कालीन लिपियों पर पड़ना स्वाभाविक था।[८९] शामी वर्ग की लिपियों का अलिफ़-बे का क्रम और भारतीय वर्ग की लिपियों का अ-आ का क्रम हज़ारों वर्ष पुराने हैं। ये भिन्न क्रम प्रमाणित करते हैं कि इन दोनों वर्गों का प्रारंभिक विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है।[९०] बाद में भारतीय वर्ग की लिपियों ने शामी वर्ग की लिपियों को प्रभावित किया है। संभव है भारतीय वर्ग के ध्वनिग्रामीय संकेतों से प्रभावित होकर ही शामी वर्ग में 'अलफ़ा' से 'अ', 'बीटा' से 'ब' इत्यादि का विकास हुआ हो। यह प्रमाणित तथ्य है कि भारतीय वर्ग में ध्वनिग्राम-संकेत शामी वर्ग से पूर्व ही विकसित हो चुके थे, अतः शामी वर्ग से भारतीय-वर्ग के प्रभावित होने का प्रश्न ही नहीं था। भारतीय वर्ग की लिपियों के संकेतों के प्रारंभ के दो स्रोत हैं—

३:३:५:१ : **प्रतीक-चित्र-संकेत** : प्रतीक-चित्र द्वारा ध्वनिग्राम या ध्वनिग्राम-समूह का लेखन भारतीय लिपि-संकेतों का प्रधान स्रोत है। विभिन्न ऋषियों ने ऋचाओं एवं अन्य धार्मिक साहित्य को लिखने के लिए गुप्त-संकेतों का निर्माण किया। उन्होंने अ, आ इत्यादि प्रत्येक स्वर; क, ख इत्यादि प्रत्येक व्यंजन; का, के इत्यादि प्रत्येक व्यंजन-स्वर-ध्वनिग्राम-समूह के लिए पृथक्-पृथक् चित्र निश्चित

किए।[६१] किसी ने देवी-देवताओं के चित्रों से, किसी ने वृक्ष-लताओं के चित्रों द्वारा, किसी ने पशु-पक्षियों के चित्र प्रयोग करके विभिन्न ध्वनियों के लिए संकेत निश्चित किए। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में अनेक चित्र-लिपियों[६२] का उद्भव और प्रचलन होना स्वाभाविक था। अकेले तांत्रिकों के कोषों के एक संकलन में पाँच हज़ार ऐसे चित्र-संकेत हैं जो तांत्रिक मंत्रों की विभिन्न ध्वनियों को लिखने के काम आते रहे हैं।[६३] सभी ऐसे कोषों में कितने संकेत रहे होंगे, यह कल्पना करना तक सहज नहीं है। उदाहरणार्थ, एक कोष के अनुसार 'श्रीम्' मंत्र को लिखने की विधि इस प्रकार है—

'डिंडिमेन सरक्तेन कामिनी बिंदुभिः शशी'[६४]

इसमें वर्णित संकेत निम्न-लिखित हैं—

(१) डिंडिम (डमरू)—श

(२) रक्त (रुधिर)—र

(३) कामिनी (स्त्री)—ई

(४) बिंदुभिः शशिः (चंद्र-बिंदु)—म

इन प्रतीक-संकेतों का ठीक इन्हीं ध्वनियों के लिए सिंधु-लिपि में तथा पंचमार्क सिक्कों में भी प्रयोग हुआ है। ये चारों संकेत यहाँ चित्र ३:१७ में दिखाए गए हैं। इस प्रणाली
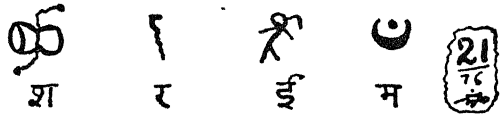
चित्र ३:१७

का चन्द्र-बिंदु आज तक नागरी लिपि में देखा जा सकता है। इसी प्रकार एक अन्य कोष में 'श्रीम्' बीज-मंत्र को लिखने की विधि इस प्रकार दी गई है—

वकम् वह्नि संस्थम्
त्रिमूर्त्या-प्रजुष्टम्
शशाङ्केन युक्तम्।[६५]

इस मन्त्र का संकेत-विधान निम्नलिखित रूप में है—

(१) वकम् (बगुला) – श

(२) वह्नि (अग्नि)—र

(३) त्रिमूर्त्ति (तीन व्यक्ति)—ई

(४) शशांक (चन्द्रमा)—म

इन चित्र-संकेतों में से 'ई'[६६] तथा 'म'[६७] के प्रतीक इन्हीं ध्वनियों के लिए सिंधु-लिपि में प्राप्त हुए हैं, 'श' में 'र' के प्रतीक-चित्र-संकेत भी रहे होंगे, किन्तु अभी तक उपलब्ध नहीं हैं, अतः उन्हें कल्पनानुसार बनाया जा सकता है। अतः इस मंत्र के अनुसार

'श्रीम्' के लिए प्रतीक-चित्र-संकेत यहां चित्र ३:१८ में दिखाए गए हैं।[६८] उक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि संकेत-निर्धारण की ऐसी प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों की

चित्र ३:१८

हैं और इनमें यह आवश्यक नहीं है कि 'श' के लिए निश्चित संकेत का उच्चारित नाम 'श' ध्वनि से ही प्रारम्भ हो या उसमें कहीं भी 'श' ध्वनि अवश्य हो। 'कामिनी' के अंत में 'ई' होना या 'रक्त का 'र' से प्रारम्भ होना आकस्मिक संयोग ही है। अतः यह प्रणाली शामी वर्ग के वर्ग के प्रथम ध्वनि-सिद्धान्त से भिन्न है। इस प्रणाली में कोई एक शब्द और उसका चित्र किसी ध्वनि के प्रतीक हो गए हैं। प्रतीक-नाम (वह शब्द जो किसी ध्वनि का प्रतीक है) की ध्वनि और अभिव्यक्त-ध्वनि में 'बेट' और 'ब' जैसा वास्तविक ध्वन्यात्मक सम्बन्ध नहीं है। इन प्रतीकों को स्पष्ट करने वाले कोषों से यह भी स्पष्ट है कि तत्कालीन भारतीय विद्वान् स्वर, व्यंजन तथा इनके संयुक्त उच्चारणों को स्पष्टतः और पृथक्-पृथक् पहचानते थे। उनके प्रयोगों में केवल अन्तर्भूत अकार (इन्हेरेंट 'अ') का ही दोष है, जिसे बाद में भट्टोजी दीक्षित ने 'उच्चारणार्थ अकार' कहा है। इन कोषों में अ-आ-इत्यादि का क्रम वही है, जो आज तक नागरी में विद्यमान है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन कोषों के निर्माण तक भारतीय ध्वनियों का क्रम-बद्ध वर्गीकरण हो चुका था।

३:३:५:२ : **रेखा-संकेत** : रेखाओं की गणना पर आधारित संकेत यह स्पष्ट करते हैं कि कोई एक पद्धति ऐसी भी थी जो चित्र बनाने की अपेक्षा रेखाओं को ध्वनि-ग्रामों की अभिव्यक्ति के प्रतीक मानती थी। इस पद्धति के कम संकेत उपलब्ध हैं। उपलब्ध सेखा-संकेतों में अधिकांश स्वर-संकेत हैं। वे रेखाओं या बिन्दुओं की गणना से बने हैं। इस पद्धति के कुछ व्यंजन-सकेत भी उपलब्ध हैं, उदाहरणार्थ 'ज' और 'ह' के संकेत।[६९]

निष्कर्ष : उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय लिपियों के उद्भव और विकास का इतिसास शामी वर्ग के इतिहास से भिन्न है। भारत में प्रतीक-संकेतों के सिद्धान्त पर लिपि का विकास हुआ है। भारतीय लिपियों के प्राचीन-

तम उपलब्ध प्रमाणों से यह सिद्ध नहीं होता कि भारत में कोई ऐसी लिपि रही है जो पश्चिम की अर्थ-बोधक चित्र-लिपि[१००] कही जा सके। भारत के प्राचीनतम लिपि-प्रमाण ध्वनि-लिपि के ही हैं। इस देश में प्रचलित कई प्रकार की प्रतीक-चित्र-संकेतों वाली लिपियों के समानान्तर कोई रेखा-संकेतों वाली लिपि भी प्रचलित हुई। सिन्धु-काल से पूर्व ही इन दो प्रकार की संकेत-प्रणालियों का मिश्रण प्रारम्भ हो गया था। सिन्धु-काल में मिश्रित प्रणाली पर्याप्त प्रचलित हो चुकी थी। तब तक अधिकांश चित्र-संकेतों को रेखा-संकेतों का सरल रूप दे दिया गया था और रेखा-लिपि के स्वरों को स्वतन्त्र तथा मात्रा-रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा था।

३:४ : **सिन्धु-लिपि का उत्तर-विकास** : सिन्धु-लिपि के समय (३५०० ई० पू०—२००० ई० पू०) तक अनेक प्रतीक-चित्र-प्रणालियों द्वारा प्राप्त संकेत विद्यमान थे। तब अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार संकेतों का चयन करके उनसे ध्वन्यात्मक लेखन का प्रचलन था। अतः अपनी-अपनी पसंद, सुविधा और [illegible] के अनुसार

ब्राह्मी की उत्पत्ति (डॉ० अराज के अनुसार)

३ अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ

३ ए ऐ ओ औ अनुस्वार क ख ग घ

३ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

३ त थ द ध न प फ ब भ म य

३ र ल व श ष स ह

'अराज' के मतानुसार ब्राह्मी-संकेतों का उत्पत्ति-क्रम

चित्र का १= सिंधु-संकेत, २=ब्राह्मी-संकेत, ३= नागरी-संकेत

चित्र ३:१९

भिन्न-भिन्न लिपियाँ प्रचलित हो जाना स्वाभाविक था। एक स्थान पर एक प्रकार के संकेतों का प्रचलन अधिक हुआ तो दूसरे स्थान पर दूसरे प्रकार के संकेतों का। कम प्रयुक्त होने वाले संकेत लुप्त हो गए। अधिक प्रयुक्त होने वाले संकेत सरल और स्थिर होते गए। परिणामतः पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व तक कई विभिन्न शैलियाँ स्थिर रूप धारण करने में सफल हुईं। इनमें से ब्राह्मी और खरोष्ठी का प्रचलन बहुत अधिक हुआ। जैन-साहित्य के 'पन्नवणासूत्र' और 'समवाया सूत्र' में ब्राह्मी-सहित अठारह लिपियाँ गिनाई गई हैं[१०१] तो बौद्धों की संस्कृत-पुस्तक 'ललित-विस्तर' में चौसठ लिपियों के नाम दिए गए हैं।[१०२] डेविड डिरिंजर को स्वीकार करना पड़ा कि कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि बहुत प्राचीनकाल में भी भारत में अनेक लिपियाँ प्रचलित थीं।[१०३] इन लिपियों में से ब्राह्मी (चित्र ३:१९) और खरोष्ठी (चित्र ३:२०) तो इतनी सम्मानित हो चुकी थीं कि उनका नाम चीन तक पहुँचा। चीनी-विश्व-कोश 'फा-युअन्-चु-लिन्' में ब्राह्मी और खरोष्टी को भी विश्व की प्राचीन लिपियों में गिनाया गया है।[१०४] ब्राह्मी की सम्मानास्पद अवस्था का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि जैन-ग्रंथ 'भगवती-सूत्र', 'नमौ बंभीये लिविये' (अर्थात् — ब्राह्मी लिपि को नमस्कार) से प्रारम्भ होता है।[१०५]

सिन्धु-लिपि उभय-दिक्-लेखन की सुविधा प्रदान करती थी[१०६], अतः उससे दो प्रमुख शैलियाँ विकसित हुईं—

(१) **दाहिने से बाएँ को लिखने की शैली :** इस शैली की खरोष्ठी लिपि (चित्र ३:२०) उत्तर-पश्चिमी भारत में बहुत प्रचलित हुई, किन्तु बाद में ब्राह्मी-लिपि इस क्षेत्र पर भी छा गई।

(२) **बाएँ से दाहिने को लिखने की शैली :** इस शैली की ब्राह्मी लिपि (चित्र ३:१९) लगभग समूचे भारत में प्रचलित हुई। बीसवीं शताब्दी की अधिकांश भारतीय लिपियाँ इसी के विकसित रूप हैं।

खरोष्ठी की उत्पत्ति (डॉ० अराज के मतानुसार)

३ अ ए क ग ज द न प ब

३ म र ल व श स ह

चित्र में १= सिन्धु-संकेत, २= खरोष्ठी-संकेत, ३= नागरी-संकेत

चित्र ३:२०

इन दोनों शैलियों की प्रतिनिधि लिपियाँ ब्राह्मी और खरोष्ठी हैं। सिन्धु-लिपि के संकेतों से ही ब्राह्मी-संकेतों का विकास हुआ है। यह यहाँ चित्र ३.१९ में दिखाया गया है। इसी प्रकार खरोष्टी के संकेतों का विकास सिन्धु-लिपि के संकेतों से ही हुआ, इस तथ्य कीपुष्टि चित्र ३:२० करता है। ब्राह्मी और खरोष्ठी का सिन्धु-लिपि से विकास सिद्ध करने वाले चित्र ३:१९ तथा चित्र ३:२० के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य निम्न-लिखित हैं—

(१) इन चित्रों के सभी संकेत उपलब्ध अवशेषों ओर शिलालेखों के आधार पर दिए गए हैं। इनमें से अनेक संकेतों की पुष्टि अन्य विद्वानों ने भी की है। ब्राह्मी के अनुस्वार, ङ, छ, ड, ण, द, न, भ, र, ष, स तथा ह के लिए तथा खरोष्ठी के ग, द, न, प, ब, र, स और ह के लिए समानता दिखाने वाले सिंधु-लिपि के संकेत मैंने संकलित किए हैं, किन्तु उनकी ध्वनियों का निर्णय मेरे से पूर्व स्वामी शंकरानन्द विविधि ग्रंथों में कर चुके हैं। उनके ध्वनि-विषयक निर्णय प्राचीन कोष-ग्रंथों के आधार पर किए गए हैं। निष्कर्षतः इन दोनों चित्रों में दिए गए सभी संकेत प्रामाणिक हैं।

(२) चित्र ३:१९ में 'ऊ' इत्यादि के स्थान रिक्त छोड़ दिए गए हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि ब्राह्मी में इनके लिए संकेत नहीं थे। इस चित्र में नागरी के जितने संकेत दिए गए हैं, उनमें से ॠ, ऌ और ॡ को छोड़कर शेष सभी ध्वनियों लिए ब्राह्मी-संकेत उपलब्ध हैं। चित्र में उन्हें रिक्त इसलिए छोड़ दिया गया है, क्योंकि मुझे अभी तक सिन्धु-लिपि के वे संकेत प्राप्त नहीं हो सके, जिनसे ब्राह्मी के उन संकेतों का विकास संभव है। मेरा विश्वास है कि कुछ अन्य प्राचीनकोष भी रहे होंगे, जिनमें दिए गए संकेतों से शेष ब्राह्मी-संकेतों का विकास हुआ है। उन कोषों के प्राप्त हो जाने तक इतने संकेतों के विकास को ही प्रामाणिक रूप में दिया जा सकता था, जितने चित्र ३:१९ में दिखाए गए हैं।

(३) चित्र ३:२० में कई स्वरों, सभी महाप्राण व्यंजनों और तीन नासिक्य व्यंजनों के अभाव का कारण स्थानीय भाषा में इन ध्वनियों का अभाव भी हो सकता है और खरोष्ठी की दोषपूर्ण अवस्था भी। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारत का पश्चिमोत्तरी आँचल और उससे पश्चिम का भूखण्ड, जहाँ ब्राह्मी के समानान्तर खरोष्ठी का प्रचलन था, लिपि-विषयक चिन्तन में उतना कुशल नहीं था, जितना उससे पूर्व का भारतीय आँचल। जहाँ तक इस चित्र का सम्बन्ध है, वह खरोष्ठी के सभी संकेतों का विकास पूर्णतः दिखाता है।

(४) इन चित्रों में कुछ दोहरे विकास भी दिखाए गए हैं। चित्र ३:१९ के 'अ', 'इ', 'ओ', 'ल', 'स' और 'ह' के दो-दो सिंधु-संकेतों से एक-एक ब्राह्मी-संकेत का विकास और इसी प्रकार चित्र ३:२० के 'ह' के दो सिंधु-संकेतों से एक खरोष्ठी-संकेत का विकास सरल और समान संकेत बनाने की स्वाभाविक प्रक्रिया का परिणाम होने के कारण मान्य है। चित्र ३:१९ के सिंधु-लिपि के 'ग', 'त', 'य' 'र' और 'ष' के दो-दो

संकेत ब्राह्मी में भी अपने दोनों रूपों का अस्तित्व बनाए रहे। यह विकास भी 'समाज के आलस्य' ('इनर्शिया आफ़ दी सोसाइटी') के समाज-शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुकूल होने के कारण मान्य है।

(५) चित्र ३:१९ के 'ङ', 'ज', 'ड', 'थ', 'द', 'न', 'भ', 'म', 'य', 'ष', 'स' और 'ह' तथा चित्र ३:२० के 'अ', 'ए', 'क', 'ग', 'ज', 'द', 'न', 'प', 'ब', 'म', 'र', 'ल', 'व', 'श', 'स' और 'ह' संकेतों के विकास में निम्नलिखित स्वाभाविक प्रक्रियाओं ने कार्य किया है—

(क) जहाँ तक संभव हो कम रेखाओं का प्रयोग करना पड़े; उदाहरणार्थ, ब्राह्मी 'ङ', 'ज', 'ड', 'द', 'न', 'भ', 'स' इत्यादि में और खरोष्ठी 'ए', 'द', 'ब', 'म', 'व', 'स' इत्यादि में संकेत की आकृति का विकास स्पष्टतः इसी सिद्धांत के आधार पर हुआ है।

(ख) प्रत्येक संकेत को यथासंभव शीघ्र लिखा जा सके; उदाहरणार्थ, ब्राह्मी के 'द', 'ष', 'स', 'ह' इत्यादि की और खरोष्ठी के 'क', 'ग', 'ज', 'र', 'व', 'स', 'ह' इत्यादि की संकेत-आकृतियों में रेखाएँ ऐसे क्रम में आ गई हैं कि उन्हें सिंधु-संकेतों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से लिखा जा सकता है।

और

(ग) एक ध्वनि का संकेत दूसरी ध्वनि से भिन्न दिखाई दे। ब्राह्मी का 'च-छ' का विकास और खरोष्ठी का 'द-प' का विकास इस नियम के अच्छे उदाहरण हैं। 'छ' का ब्राह्मी रूप 'च' के 'द्विनेत्र' रूप को पृथक् करने के कारण बन सका। ब्राह्मी के 'ठ' और 'थ' के विकास में भी यही पृथक्करण आधार रहा है। खरोष्ठी के 'द' और 'प' के मूल सिंधु-संकेत क्रमशः 'शूल' (भाला) और 'पत्र' (पत्ता) के चित्र थे। सिंधु-काल में ही उनकी आकृतियाँ इतनी मिलती-जुलती हो चली थीं कि उससे भ्रम की आशंका संभव थी। इन दोनों की पृथक् पहचान बनाए रखने के लिए खरोष्ठी-लिपिक 'द' को एक ही रेखा से लिखता है और शूल का ऊपरी भाग दाहिनी ओर से खाली छोड़ देता है, जबकि 'प' के 'पत्र' का ऊपरी सिरा बनाते समय दाहिने को दूसरी रेखा लगाकर उसे 'द' से स्पष्ट भिन्नता दे देता है।

ये सभी नियम संसार की अनेक लिपियों के विकास पर लागू होते हैं, अतः इन नियमों का सिंधु-लिपि से ब्राह्मी और खरोष्ठी का विकास दिखाने के लिए प्रयोग करना तर्क-सम्मत है।

(६) ब्राह्मी में 'च-छ' और 'ठ-थ' का विकास विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इसी प्रकार खरोष्ठी में 'ग' और 'व' के संकेतों का विकास विशिष्ट है। चित्र ३:१९ के सिंधु-लिपि के 'च' के दो संकेतों में से ब्राह्मी में एक 'च' के लिए प्रचलित रह गया है, दूसरे संकेत का प्रयोग 'छ' के लिए होने लगा। सिंधु-काल में प्रचलित 'छ' के लिए 'त्रिबिंदु' संकेत 'इ' के तीसरे स्थान की गणना के कारण भ्रामक था तथा 'छ' के लिए प्रचलित 'द्वि-शीर्षक' (दो शिखरों वाला पर्वत), 'छत्रम्' (छाता), 'वृश्चिक'

(बिच्छू)[१०७], 'चतुर्मूर्त्ति' (चार व्यक्ति)[१०८] इत्यादि संकेत लिखने में कठिन रहे होंगे या उनका प्रचलन कम रहा होगा। इस 'च-छ' के परस्पर मिश्रित और पृथक् हो जाने का एक कारण 'वर्ण-निघण्टु'-नामक कोष के एक श्लोक (संख्या २५)[१०९] की व्याख्या भी है। चित्र ३:१९ के सिंधु-संकेतों में 'च' के लिए दिये गए दो प्रतीक-संकेतों का

सिंधु-संकेत	d·ȸ	ȸȸ	dd	ȸb db	bb
मूल्य	च च	च्च	च्छ	च्च/च्छ च्च/च्छ	च्च/च्छ

चित्र ३:२१

कोषीय नाम 'एक-नेत्र' और 'द्वि-नेत्र' है। यही 'एक-नेत्र' प्रतीक-संकेत इस श्लोक के अनुसार 'चान्त-छकार' ('च्छ' के संयुक्त रूप में 'छ') के लिए भी प्रयुक्त होता था।[११०] 'च' के संकेत को 'छ' घोषित कर देने पर कई प्रकार के संयोजन सम्भव होने लगे थे, जिनमें से कुछ यहाँ चित्र ३:२१ में दिखाए गए हैं। इस भ्रामक अवस्था के निवारण के लिए ब्राह्मी में 'च' के 'द्वि-नेत्र' संकेत को 'छ' मान लिया गया। इसी प्रकार सिंधु-लिपि में केवल वृत्त भी ('पूर्ण चंद्र' प्रतीक-नाम से)[१११] और बिंदु-सहित वृत्त भी ('चंद्र-मंडलम्' प्रतीक-नाम से)[११२] 'ठ' के प्रतीक-चित्र-संकेत के रूप में प्रचलित था। ब्राह्मी तक पहुँचते-पहुँचते 'बिंदु-सहित वृत्त' 'थ' का संकेत हो गया और केवल वृत्त 'ठ' के लिए स्थिर हो गया। खरोष्ठी में महाप्राण व्यंजनों का अभाव होने के कारण 'घ' और 'भ' के सिंधु-संकेत क्रमशः 'ग' और 'ब' के खरोष्ठी-संकेत हो गए। ऐसे निकटस्थ संकेतों का मूल्य-परिवर्तन बाद में भी हुआ है। ब्राह्मी के नागरी तक के विकास में भी 'औ' संकेत कालान्तर में 'ओ' का संकेत हो गया है। हजारों हिन्दुओं के हाथों पर गोदा हुआ प्राचीन 'औ' से बना 'ओम्' आज भी भारत में देखा जा सकता है।

३:५ : **परिणाम :** उक्त विवेचन के परिणामस्वरूप निम्नांकित तथ्य प्राप्त हुए—

(१) लिपि-विज्ञान का स्वरूप स्पष्ट हो गया।

(२) लिपि-विषयक इतिहास के प्रस्तुतीकरण में अनेक भ्रापक स्थापनाएँ रूढ़ हो चली थीं। उनका सर्वांग विवेचन कर नए तर्क-सम्मत माप-दण्ड स्थिर किये गए और उनके आधार पर तर्कपूर्ण इतिहास प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया गया।

(३) यह तथ्य प्रमाणित हो गया कि भारतीय लिपियों का उद्भव भारत में ही हुआ।

(४) यह तथ्य भी प्रमाणित हो गया कि भारतीय लिपियों का उद्भव विशेष ढंग से हुआ।

---

१. भा० प्रा० लि०, भूमिका, पृ० ३

२. हि० सं० लि०, पृ० २६२

३. ए० सा० इं० पे०, पृ० ६
४. इं० पे० (द्रू०), पृ० १७
५. इं० ऐं० (३५), पृ० २५३
६ ज० ए० सो०, सन् १८८५, पृ० २६८
७. ज० रा० ए० (१६), पृ० ३२६, ३५६
८ इं० ऐं० (३५), पृ० २५३
९ इं० स्कि० (वे०), पृ० २२५ से २५० तक
१०. ज० ब० रा० ए० (३), पृ० ७५
११. भा० प्रा० लि०, पृ० १५
१२. न्यू० ला० इं० सि० (१), पृ० ६४
१३. भा० प्रा० लि०, पृ० २०
१४. भा० भू० (दे०), पृ ३४१
१५ सि० र० (फ०), पृ० २
१६. वा० स्टो०, पृ० ३०१-३०२
१७. न्यू ला० इं० सि० (१), पृ० ६४
१८ भा० (भो०), पृ० ४६५
१९. भा० (भो०), पृ० ४६७
२०. 'चिह्नों' से तात्पर्य 'संकेतों'
२१. 'स्वरूप-साम्य' से तात्पर्य 'आकृति-साम्य'
२२. न्यू० ला० इं० सि० (१), पृ० ८८-८९
२३. वा० स्टो०, पृ० ३११
२४. गु० लि०, पृ० १८
२५. प्रा० रा०, भूमिका, पृ० ८
२६. न्यू० ला० इं० सि० (१), पृ० ९०
२७. वही, पृ० ८९
२८. वही, पृ० ९२
२९. इं० डि०, पृ० ९६
३०. गु० लि०, पृ० १९
३१. राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित
३२. राजस्थानी शोध-संस्थान, चौपासनी, जोधपुर द्वारा प्रकाशित
३३. संस्कृत-परिषद्, सागर विश्वविद्यालय, सागर द्वारा प्रकाशित
३४. मंदिर, झडेवाला, नई दिल्ली-११००५५ से प्रकाशित
३५. सि० र० (फ०), चित्र-१, २ तथा ३ में संकलित 'वर्णों' का व्यस्थित क्रम में संकलन किया गया है।
३६. सि० र० (फ०), पृ० १२
३७. 'इन्द्र' का मनुष्य-जैसा चित्र सि० र० (फ०) के चित्र २ का दूसरा 'संश्लिष्ट वर्ण' है। व्याख्या सि० र० (फ०) के पृ० १२ पर दी गई है।
३८. जाह्नवी, मई १९७३, पृ० १२१ पर प्रथम बार प्रकाशित
३९. सि० र० (फ०), पृ० ९
४०. वही, पृ० ८ तथा उसी पुस्तक का चित्र ३
४१. वही, पृ० १०-११, 'सिन्धु-लिपेः दिशा' नामक अनुच्छेद

४२. वही, चित्र संख्या ४ तथा ५
४३. वही, चित्र संख्या ६ (प्रथम चार पंक्तियाँ)
४४. वही, चित्र संख्या ६ (अंतिम पंक्ति)
४५. सि० र० (फ०), पृ० ६
४६. वही, चित्र १० के मुद्रा-लेख
४७. 'मनु', 'राष्ट्र' और 'वषट्' के चित्र-संकेत सि० र० (फ०) के चित्र २ से सकलित किए गए हैं।
४८. इस प्रबंध के चित्र ३:८ का 'भारत' का चित्र-संकेत मेरी निजी कल्पना-मात्र है। इने सिन्धु-लिपि का वास्तविक उदाहरण न समझा जाए।
४९. द्रष्टव्य—भा० (भो०), पृ० ४७९-८१
५०. वीणा (मासिकी), इन्दौर, अगस्त १९७३, पृ० ३७-३८
५१. हिन्दुस्तान टाइम्स' (अंग्रेजी-दैनिक, दिल्ली), १०-१२-१९७२ के 'सण्डे वर्ल्ड' नामक परिशिष्ट में प्रकाशित
५२. 'मदरलैंड' (अंग्रेजी-दैनिक, दिल्ली), ५-८-१९७३ के अंक में प्रकाशित
५३. द्रष्टव्य : यही प्रबंध, अनुच्छेद—२:७:२
५४. यही प्रबंध, अनुच्छेद—१:२ तथा २:७:२ : (२) उच्चारण-बोधक लिपि
५५ यही प्रबंध, अनुच्छेद—२:५:२
५६. 'क' में जो 'अ' सम्मिलित है, उसे 'अन्तर्भूत अ' कहते हैं। इसी प्रबंध में अनुच्छेद—२:५:२ में तथा अध्याय-२ की पाद-टिप्पणी-४३ में उदाहरण दिए गए हैं।
५७. 'वीणा' (मासिकी, इन्दौर), अगस्त, १९७३, पृ० ३५
५८. द्रष्टव्य—इसी प्रबंध का अनुच्छेद—२:५:२ तथा २:५:३
५९. अभेदानंद अकैडमी आव् कल्चर, कलकत्ता से स्वा० शंकरानन्द की पुस्तकों का प्रकाशन-क्रम इस प्रकार रहा—(१) दी रिग्वैदिक कल्चर आव् दी प्रि-हिस्टारिक् इंडस् (अंग्रेजी) जि० १, १९४३, पुन: १९४६, (२) जिल्द २, १९४४, (३) दी इडस् पीपल् स्पीक (अंग्रेजी), १९५५, (४) दी लास्ट डेज आव् मोहनजोदारो (अंग्रेजी), १९५९, (५) दी हिंदु स्टेट्स आव् सुमेरिया (अंग्रेजी), १९६२, (६) मोहनजोदारो सभ्यतार बिस्तार (बंगला), १९६२, (७) दी डिक्शनरी आव् इंडियन् हाइरोग्लिफ्स् (अंग्रेजी), १९६३, (८) भारतीय सभ्ययार बिबर्तन (बंगला), १९६४, (९) दी रि० क० आव् दी प्रि-हि० इंडस् (अंग्रेजी), जिल्द ४ (भाग १), १९६५, तथा (१०) वही, जिल्द ३ (भाग-१) (अर्थात्—इंट्रोडक्शन टु दी डिसिफरमेंट आव् दी एन्श्येंट पिक्टोग्राफिक स्क्रिप्ट्स आव् इंडिया) (अंग्रेजी), १९६७
६०. इं० डि०, पृ० ४६, ४८
६१. डि० इं० हा०, पृ० ८८, ८९
६२. इं० डि०, पृ० ४६, ४९ तथा डि० इं० हा०, पृ० १०८, १०९, ११०, ११२ से संकलित
६३ इं डि०, पृ० ४६, ४७ से संकलित
६४. डि० इं० हा०, पृ० २७
६५. इं० डि०, पृ० ४८ तथा ५२ से संकलित
६६. वही, ४६ से ४८ तक के पृष्ठों से संकलित
६७. इं० डि०, पृ० १००
६८ वही, पृ० ५०, ५१ से लंकलित
६९. डि० इं० हा०, पृ० २२
७०. इसी प्रबंध के अनुच्छेद '२:७:१:१' में व्याख्या दी गई है।

७१. सं० श० कौ०, पृ० २८०
७२. वही, पृ० २१६
७३. वही, पृ० ८४७
७४. वही, पृ० २८०
७५. इं० डि०, पृ० १२८, 'गमित्व' और 'विस्नु' के सिक्के ।
७६. यही प्रबंध : अनुच्छेद—३:१:३
७७, होमोनिम = एक-पदार्थ-बोधक, जिससे उसी पदार्थ का बोध हो, जिसका वह चित्र है ।
७८. होमोफोन = एक-ध्वनि-बोधक, जिससे निश्चित ध्वनि के अतिरिक्त ध्वनि का बोध न हो ।
७९. दी आ० आ० रा०, पृ० ६
८०. डि० इं० हा०, पृ० २०
८१. आ० रा०, पृ० ६
८२. वही, प्रदर्शन ११
८३. बा० स्टो०, पृ० ३३
८४. वही, पृ० ३३
८५. ऐ० (डि०), पृ० १९५-२१६
८६. इं० डि०, पृ० १०३-११०
८७. सि० र० (फ०), पृ० ३
८८ ऐ० (डि०), पृ० २१४
८९. यही प्रबंध, अनुच्छेद—२:९: (३)
९०. यही प्रबध, अनुच्छेद—२:९: (१)
९१. डि० इं० हा०, पृ० २२ से ६० तक गिनाए गए अनेक कोष
९२. ये चित्र-लिपियां 'यथाचित्र तथा - अर्थ' वाली अर्थ-बोधक चित्र-लिपियाँ नहीं थीं, वरन् ये ध्वनि-बोधक चित्र-सकेतों से बनी हुई चित्र-लिपियाँ थीं, जिनका वर्णन इस प्रबंध के अनुच्छेद २:७:१: (१) में विस्तार से किया गया है ।
९३. डि० इं० हा०, पृ० २५
९४. वही, पृ० २०
९५. वही, पृ० २०
९६. इं० डि०, पृ० १९४
९७. वही, पृ० १९६
९८. डि० इं० हा०, पृ० २०, स्वामी शंकरानंद द्वारा कल्पित चित्र-संकेम
९९. यही प्रबन्ध, चित्र ३:१३
१००. यही प्रबन्ध, अनुच्छेद २:३:१
१०१. भा० प्रा० लि०, पृ० १७, पाद-टिप्पणी १
१०२. वही, पृ० १७, पाद-टिप्पणी ३
१०३. ऐ० (डि०), पृ० ३३८ । 'ऐट ऐनी रेट देअर इज नो डाउट दैट ईवन इन अर्ली टाइम्स देअर वर मैनी इंडियन स्क्रिप्ट्स ।'
१०४. इं० पे० (रा०), पृ० २४
१०५. वही, पृ० २२, पाद टिप्पणी ४
१०६. यही प्रबंध; पृ० ६८ से ६९ तक
१०७. इं० डि०, पृ० ४७

१०८. डि० इं० हा०, पृ० २०१

१०९. वही पृ० २०१

११०. 'एकनेत्रः चान्तः छार्णाकः'—वर्ण-निघंटु; श्लोक २५

१११. मातृका-निघंटु; श्लोक ३८ (डि० इं० हा०, पृ० १९७)

११२. वर्ण-निघंटु; श्लोक ३० (डि० इं० हा०, पृ० २०२)

४ भारतीय लिपियों का इतिहास

४:१ : **लिपि में सहज परिवर्तन** : भाषा-परिवर्तन की भांति लिपि-परिवर्तन भी क्रमिक रूप से होता रहता है; परिणामतः लिपि-विशेष के उद्भव की निश्चित तिथि तभी दी जा सकती है, जबकि उसका परिवर्तन टर्की में राजाज्ञा द्वारा किए गए लिपि-परिवर्तन के समान निश्चित योजनानुसार किया गया हो। लिपि के सहज एवं क्रमिक विकास के कारणों का संधान करने पर निम्नलिखित कारण मुख्य प्रतीत होते हैं—

(१) **लिपिक की रुचि** : लिपिक अपनी रुचि के अनुनार संकेतों को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करता है; परिणामतः वह संकेताकृतियों में कुछ परिवर्तन कर देता है।

(२) **लिपिक की अयोग्यता** : लिपिक का लेख अच्छा न होने पर संकेताकृतियों के विकृत रूपों का प्रचार होता है। लिपिक के अज्ञान के कारण हुए अशुद्ध प्रयोगों के अनुकरण से संकेतों के अभिव्यक्ति-मूल्य भी बदलते हैं।

(३) **ध्वनि-विकास** : लिपि की आधार-भाषा में हुए ध्वनि-विकास के कारण संकेतों के अभिव्यक्ति मूल्य भी बदलते हैं।

(४) **साधन-परिवर्तन** : लिपि का अंकन करते समय लेखनी, छेनी, तूलिका इत्यादि उपकरण तथा शिला, धातुपत्र, कागज़ इत्यादि अधिकरण के अनुकूल संकेताकृतियों के स्वरूप में अन्तर आ जाता है।

(५) **स्थानापेक्षा** : खुला स्थान होने पर संकेताकृति का विस्तार एवं अलंकरण हो जाता है, जबकि कम स्थान उपलब्ध होने पर लिपिक संकेत का संकोचन और संयोजन करने का मार्ग अपनाता है। इन दोनों स्थितियों में संकेताकृति में परिवर्तन होता है।

(६) **समयापेक्षा** : अधिक समय रहने पर संकेत का अलंकरण संभव होता

है, किन्तु लिपिक के पास समय कम रहने पर वह संकेत को कम रेखाओं से और शीघ्रता से लिखता है। परिणामस्वरूप, संकेताकृति में अन्तर आ जाता है।

(७) **यंत्रापेक्षा** : जबसे मुद्रण इत्यादि के यंत्रों का प्रचलन हुआ है, तब से लिपि को यंत्रयोग्य बनाने के लिए भी लिपि-संकेतों की आकृतियों में परिवर्तन हुए हैं।

ऐसे कारणों से लिपि निरंतर बदलती रहती है। यद्यपि छोटे और थोड़े परिवर्तन एकदम तो ध्यानाकर्षण का कारण नहीं बन पाते, तथापि वे धीरे-धीरे लिपि का स्वरूप बदलते रहते हैं और इन्हीं के कारण समय के लंबे अंतराल के पश्चात् लिपि विशेष का स्वरूप इतना अधिक परिवर्तित हो जाता है कि परिवर्तित लिपि को नए नाम से पृथक् सत्ता के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

उक्त प्रक्रिया को देखते हुए किसी तिथि-विशेष को लिपि-विशेष की जन्म-तिथि घोषित करना तर्कयुक्त नहीं कहा जा सकता। तिथियाँ तो केवल यही प्रमाणित कर सकती हैं कि अमुक लिपि का अमुक रूप अमुक समय में प्रचलित था। उसका प्रचलन उन तिथियों से पूर्व या पश्चात् भी था या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। भारतीय लिपियों के विषय में भी यही स्थिति है।

दूसरी ओर जब लिपियों के इतिहास के सहस्रों वर्षों पर तथा लिपियों के अनेक रूपों पर दृष्टि जाती है तो काल-विभाजन एवं लिपियों का वर्गीकरण किए बिना उनका अध्ययन दुष्कर ही नहीं लगभग असम्भव ही प्रतीत होता है। ऐसी स्थिति में यही श्रेयस्कर है कि लिपियों के इतिहास को काल-खंडों में विभाजित तो कर लिया जाए, किन्तु यह तथ्य मस्तिष्क में रहे कि यह काल-विभाजन केवल अध्ययन-विवेचन की सुविधा के लिए है, अन्यथा लिपि-चिंतन, निर्माण एवं प्रयोग की अविच्छिन्न धारा है, जिसमें नदी में प्रवहमान जल की एकरूपता का गुण ही प्रधान है।

४:२ : भारत में लिपि-विकास : जैसा कि विवेचित किया जा चुका है भारतीय लिपियों के प्राचीनतम उपलब्ध प्रमाण सिंधु-सभ्यता के काल के हैं। यह काल ईसापूर्व ३५०० से ईसापूर्व २००० वर्ष तक का है।[१] इस काल में प्राप्त भारतीय लिपियों का सामूहिक नाम सिंधु-लिपि है।[२] इसमें प्राप्त लिपि-संकेतों की अभिव्यक्ति **ध्वनि-ग्रामीय** है[३] और आकृति सरल चित्रों की है जो रेखा-संकेतों के निकट पहुँच चुकी है।[४] अभी चित्र को ही ध्वनि का प्रतीक मानने की भावना शेष है, अतः उन्हें आकृति-मूलक वर्गीकरण[५] के आधार पर **रेखा-लिपि** की अपेक्षा **चित्र-लिपि** कहना ही उचित है। अभिव्यक्तिमूलक वर्गीकरण[६] के आधार पर सिंधु-लिपि इतनी ही ध्वनिग्रामीय है जितनी बीसवीं शताब्दी की नागरी। बीसवीं शताब्दी की रोमन लिपि की अपेक्षा अभिव्यक्ति में सिंधु-लिपि अधिक उन्नत है। सिंधु-लिपि को इस उन्नत अवस्था तक पहुँचने में अवश्य कुछ समय लगा होगा। भारतीय लिपियों का यह **आदि-विकास-काल** एक सहस्र वर्ष से कम नहीं हो सकता। इस प्रकार भारतीय लिपियों का इतिहास ईसापूर्व ४५०० या उससे भी पहले प्रारंभ होता है।

सिंधु-लिपि के निर्माण तक के काल को आदि-विकास-काल की संज्ञा दी जा सकती है। पिछले अध्याय में सिंधु-लिपि पर विचार करते हुए स्पष्ट किया जा चुका है कि ईसा-पूर्व ३५०० तक भारत में ध्वनिग्रामों के लिए प्रतीक-चित्र स्थिर किए जा चुके थे। ई० पू० ३५०० से चित्र-प्रतीक-संकेतों का रेखा-संकेतों के साथ मिश्रण प्रारंभ हो गया था। यही प्रक्रिया २००० ईसा-पूर्व तक लक्षित होती है। अतः ईसा-पूर्व ३५०० से ईसा-पूर्व २००० तक भारतीय लिपियों का **मिश्रण-काल** कहा जा सकता है।

ईसा-पूर्व २००० से ईसा-पूर्व ५०० वर्ष तक के काल में भारतीय रेखा-लिपियों के जो स्वरूप रहे हैं, उनके अवशेष अनुपलब्ध होने के कारण उनके प्रामाणिक स्वरूप अभी नहीं दिए जा सकते; किंतु ५०० ईसापूर्व से जो ब्राह्मी लिपि प्राप्त होती है, वह भारत के उत्तर-पश्चिमी अंचल को छोड़कर शेष पूरे भारत में प्रचलित रही है। वह पूर्णतया **रेखा-लिपि** है। उसके संकेनों की आकृतियाँ **निरर्थक किन्तु निश्चित रेखाओं** से बनी हैं।[७] उनका चित्र से सम्बन्ध पूरी तरह कट गया है। अतः ईसा-पूर्व ५०० से भारतीय रेखा-लिपियों का काल प्रारम्भ होता है।

२००० ई० पू० के सिंधु लिपि के स्वरूप के पश्चात् उसी से विकसित ५०० ई० पू० के ब्राह्मी के स्वरूप की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि इन दोनों के मध्य का काल संकेताकृतियों के चित्र से रेखा तक के संक्रमण का काल है। यद्यपि इस काल के प्रामाणिक लेख उपलब्ध नहीं हैं, तथापि संकेताकृतियों का अति नैकट्य इस अनुमान को स्वाभाविक सिद्ध करता है कि सैंधव चित्र-प्रतीक-संकेतों के चित्रों का क्रमशः चित्राभास होना, रेखाएँ कम होना और शीघ्र-लेख्यता के लिए रेखाओं का जुड़कर वक्र होना या एकाधिक रेखाओं का एक ही बन जाना[८] उन्हें **चित्र-संकेत** से **रेखा-संकेत** तक ले आया। अतः सिंधु-लिपि और ब्राह्मी-लिपि के मध्य के ई० पू० २००० से ई० पू० ५०० के समय को **संक्रमण-काल** कहा जा सकता है।

ई० पू० ५०० से भारत में रेखा-लिपियों का प्रचलन चला आ रहा है। ई०पू० ५०० के आसपास भारतीय लिपियों के इतिहास का **प्रथम चरण** समाप्त होता है और दूसरा चरण प्रारम्भ होता है। ५०० ई० पू० तक के इन लगभग ४००० वर्षों को भारतीय लिपि-वर्ग के **मूल-विकास का काल** कहा जा सकता है।

ई० पू० ५०० से ब्राह्मी भारत में प्रतिष्ठित दिखाई देती है। वह धीरे-धीरे समस्त भारत में राष्ट्रीय लिपि के समान सर्व-ग्राह्य एवं सर्व-प्रिय हो जाती है। धीरे-धीरे उसके स्थान-भेद से कई प्रकार बनने लगते हैं। क्रमिक विकास से लगभग ईस्वी सन् १००० तक ब्राह्मी की अनेक शाखाएँ आधुनिक भारतीय लिपियों का स्वरूप ग्रहण करती हैं। नागरी, बांगला, गुजराती, तेलुगु इत्यादि ब्राह्मी-वर्ग की आधुनिक भारतीय लिपियों के उद्भव का इतिहास प्रायः इसी काल से सम्बद्ध है। अतः यह भारतीय लिपियों के विकास का द्वितीय चरण है।

लगभग १५०० वर्ष के इस काल का पूर्वार्ध ब्राह्मी-लिपि के स्थिर होने और

भावी भारतीय लिपियों का आधार बनाने का काल है। उसे तत्कालीन मुख्य लिपि के नाम पर **ब्राह्मी-लिपि-काल** कहा जा सकता है। भारतीय लिपियों के समूचे इतिहास को देखते हुए यह काल **आधार-निर्माण-काल** कहा जाना चाहिए, क्योंकि ब्राह्मी के माध्यम से इसी काल में नागरी, बंगला इत्यादि आधुनिक भारतीय लिपियों के लिए अर्थहीन किन्तु निश्चित रेखाओं को ध्वनिग्राम का प्रतीक मानकर संकेत निश्चित करने और उन्हें संयोजन की प्रयोग-विधि द्वारा लिखने के आधारों का निर्माण हुआ है।

इसका उत्तरार्ध ब्राह्मी के विभाजन और आधुनिक भारतीय लिपियों के उद्भव का काल है। संक्षेप में इसे **विभाजन-काल** कहा जा सकता है। ब्राह्मी मूल की आधुनिक भारतीय लिपियों में से किसी एक या एकाधिक का उद्भव इसी काल से सम्बद्ध होने के कारण भारतीय लिपियों के इतिहास में इस काल का विशेष महत्त्व है।

सन् १००० ई०[६] तक सभी आधुनिक भारतीय लिपियों का स्वरूप लगभग स्थिर हो चुका था। तत्पश्चात् भारत विदेशी शासकों एवं विदेशी लिपियों से आक्रांत हुआ। तब भारतीय लोगों ने अपनी परम्परागत लिपियों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न ही अधिक किया। सन् १६०० तक भारतीय लिपियों में नया विकास नहीं के बराबर ही हुआ। अतः सन् १००० से सन् १६०० तक के काल को **स्थैर्य काल** कहा जा सकता है।

सैद्धांतिक दृष्टि से कोई नया विकास न होने के कारण स्थैर्य काल भी आधार-निर्माण-काल एव विभाजन-काल के साथ ही गिना जाना चाहिए। इस प्रकार ईसा पूर्व ५०० से सन् १६०० तक के लगभग २४०० वर्षों को भारतीय लिपियों के इतिहास का द्वितीय चरण कहा जा सकता है, जिसमें भारतीय लिपियों के संकेत निरर्थक किन्तु निश्चित रेखाओं को ध्वनिग्रामों का प्रतीक मानकर उन्हें संयोजन की प्रयोग-विधि द्वारा प्रायः हाथों से समतल पर लिखा जाता था। यह चरण भारत में रेखा-लिपि का काल है।

सन् १६०० के लगभग भारत में छापेखाने तथा राष्ट्रीय जागरण के महत्त्व-पूर्ण कारणों से लिपि-विषयक चिंतन फिर से प्रारम्भ हो गया। अतः इसे **पुनर्जागरण-काल** कहा जा सकता है। इस प्रकार भारतीय लिपियों के इतिहास का **तीसरा चरण** सन् १६०० से प्रारम्भ हुआ जो अब तक चल रहा है।

४:३ : काल-विभाजन : उक्त विवेचन के आधार पर भारतीय लिपि-विकास के इतिहास को निम्नलिखित कालों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्रथम चरण

नाम—चित्र-लिपि
समय—ईसा पूर्व ४५०० से ईसा पूर्व ५०० तक
संकेताकृति—चित्र, उत्तरोत्तर सरलतर संकेत

अभिव्यक्ति—ध्वनिग्राम[10]

प्रयोग-विधि—प्राय: असंयोजित; उत्तरोत्तर संयोजन-प्रक्रिया का विकास

काल-विभाजन

प्रथम चरण को प्रवृत्तियों के आधार पर निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—

१—**प्रतीक-निर्माण-काल** (४५०० ईसापूर्व से ३५०० ईसा पूर्व तक) : यह काल विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा अपनी-अपनी विधि से चित्रों को ध्वनियों के प्रतीक निश्चित करने का काल है।

२—**मिश्रण-काल** (३५०० ईसा पूर्व से २००० ईसा पूर्व तक) : ऐतिहासिक दृष्टि से इसे सिंधु-सभ्यता-काल और लिपि-विशेष के नाम से इसे सिंधु-लिपि-काल कह सकते हैं। मिश्रण-काल प्रवृत्ति के आधार पर दिया गया नाम है और वह 'सिंधु-लिपि-काल' नाम की अपेक्षा इसलिए भी उचित प्रतीत होता है, क्योंकि सिंधु-लिपि किसी एक लिपि का नाम नहीं है। अन्य कालों के नाम भी प्रवृत्ति के आधार पर होने के कारण 'मिश्रण-काल' नाम अधिक संगत है।

३—**संक्रमण-काल** (२००० ईसा पूर्व से ५०० ईसा पूर्व तक) : अनुमानत: इस काल में सिंधु-लिपि के संकेत सरलतर होते गए, प्रयोग में अधिक आने वाले संकेत स्थिर होते गए, प्रयोग में कम आने वाले संकेत लुप्त होते गए और इस प्रकार ५०० ईसा पूर्व तक लगभग ६०-७० प्रकार की लिपियाँ ही भारत में प्रचलित रह गईं। उनमें से भी ब्राह्मी और खरोष्ठी का प्रचलन सर्वाधिक था। प्रवृत्ति की दृष्टि से जहाँ यह मुख्यत: संक्रमण का काल है, वहाँ वह **सरलीकरण** एवं **मानकीकरण** का काल भी है।

(२) द्वितीय चरण

नाम—रेखा-लिपि

समय – ईसा पूर्व ५०० से सन् १६०० तक

संकेताकृति—रेखा (अर्थहीन किन्तु निश्चित; रेखा या रेखाएँ)

अभिव्यक्ति – ध्वनिग्राम

प्रयोग-विधि—संयोजित लेखन (अतिशय संयोजन की ओर अग्रसर)

काल-विभाजन

द्वितीय चरण को प्रवृत्तियों के आधार पर निम्नलिखित तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है—

१—**आधार-निर्माण-काल** (ईसा पूर्व ५०० से सन् ३५० तक) : यह काल ब्राह्मी-लिपि के मानकीकरण एवं सर्वप्रिय होने का काल है। इसीलिए भारतीय पुरा-लिपियों पर विचार करने वाले विद्वानों ने इसे 'ब्राह्मी-काल' कहा है। इस काल में ब्राह्मी के प्रभावशाली होने को नकारा नहीं जा सकता; किन्तु काल विभाजन प्रवृत्तियों

के आधार पर होने के कारण यहाँ 'आधार-निर्माण-काल' जैसा नाम इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति के आधार पर दिया गया है।

२ – **विभाजन-काल** (सन् ३५० से सन् १००० तक) : इस काल में ब्राह्मी का अनेक शाखाओं में विभाजन हुआ है और इसके परिणामस्वरूप आधुनिक भारतीय लिपियों का उद्भव हुआ है। 'उद्भव' भी प्रवृत्ति हो सकती है, किन्तु यह शब्द बहुत सीमित काल का संकेत देता है। उद्भव-काल वह विशेष तिथि अथवा सौ-पचास वर्ष का काल हो सकता है, जब किसी विशेष लिपि का उद्भव हुआ। इस सारे काल में ब्राह्मी का विभाजन आद्योपांत विद्यमान है, अतः 'विभाजन-काल' अपने विस्तार के कारण अधिक पूर्ण एवं अधिक संगत है।

३—**स्थैर्य-काल** (सन् १००० से सन् १९०० तक) : यद्यपि इस काल में भी कुछ-न-कुछ विकास हुआ है, किन्तु वह आकृति-परिवर्तन के धरातल पर कुछ महत्त्वपूर्ण हो सकता है, सैद्धांतिक-परिवर्तन के धरातल पर नगण्य ही है। इस प्रकार इस काल में परिवर्तन की तुलना में **स्थिरता** ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए स्थैर्य को इस काल की प्रमुख प्रवृत्ति माना गया है।

(३) तृतीय चरण

नाम—यंत्र-लिपि

समय—सन् १९०० से अब तक

संकेताकृति—रेखा (टैलिप्रिंटर पर छिद्र, टैलिग्राफ पर ध्वनि इत्यादि भी सहायक के रूप में संकेताकृति का कार्य करते हैं)

अभिव्यक्ति - ध्वनिग्राम

प्रयोग-विधि—संयोजित लेखन (असंयोजित लेखन की ओर अग्रसर है)

काल-विभाजन

इस छोटे से (दो शताब्दी से भी कम) समय को पुनः कालों में विभाजित नहीं किया जा सकता। भारतीय लिपियों के लिए यंत्रों के प्रयोग अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं। नागरी में तो कुछ कार्य हुआ भी है, अन्य भारतीय लिपियाँ 'यंत्र-लिपि' के रूप में अभी अविकसित दशा में ही हैं।

४:४ : द्वितीय खंड : प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम खंड (अध्याय १ से अध्याय ३ तक) में लिपि-विषयक आवश्यक सिद्धांतों का विश्लेषण करते हुए भारतीय लिपि-विकास-सम्बन्धी पूर्वी और पश्चिमी मतों का विवेचन किया जा चुका है; साथ ही सिंधु-लिपि का पूर्ण विश्लेषण भी प्रस्तुत किया गया है। उसी खंड में सिंधु-लिपि के पूर्व-विकास के रूप में प्रतीक निर्माण-काल का और उत्तर-विकास के रूप में संक्रमण-काल का विवेचन हो चुका है। स्पष्ट है कि इस अध्याय में भारतीय लिपियों के इतिहास का जिन तीन चरणों में विभाजन किया गया है, उनमें से प्रथम चरण के तीनों कालों का विवेचन प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम खंड में ही किया जा चुका है।

प्रबन्ध के इस द्वितीय खंड में भारतीय लिपियों के स्वरूप और विकास का विवेचन ईसापूर्व ५०० से अथवा भारतीय लिपियों के इतिहास के द्वितीय चरण से प्रारम्भ किया गया है।

४:४:१ : **नागरी-केन्द्रित दृष्टि** : इस प्रबन्ध का विवेच्य विषय **'नागरी लिपि का उद्भव और विकास'** होते हुए भी प्रथम खंड में लिपि-विज्ञान सम्बन्धी सामान्य तथ्यों को इसलिए विवेचित करना पड़ा, क्योंकि लिपि-विज्ञान स्वयं विकासमान विषय है और उसके स्पष्ट, स्थिर एवं मानकीकृत तथ्यों के आधार के बिना अन्य सामग्री प्रस्तुत नहीं की जा सकती। भारतीय लिपियों के ईसापूर्व ५०० तक के प्रथम चरण का जो इतिहास प्रथम खंड में विवेचित हुआ है वह भी केवल नागरी से सम्बद्ध न होकर **भारतीय पुरा-लिपि-शास्त्र** का अंग है और ब्राह्मी वर्ग की किसी लिपि के इतिहास की आधार-शिला सिद्ध हो सकता है।

५०० ईसापूर्व से प्रारम्भ होने वाले भारतीय लिपियों के इतिहास के द्वितीय चरण में उत्तरोत्तर अनेक शाखाएँ-प्रशाखाएँ फूटती हैं। वे सभी शाखाएँ भारतीय पुरा-लिपि-शास्त्र का अंग तो हो सकती हैं, किन्तु इस प्रबन्ध के सीमित विषय को देखते हुए उनमें से केवल ऐसी शाखाओं का विवेचन ही किया जाना चाहिए जो नागरी के उद्भव और विकास से किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। इस नागरी-केंद्रित दृष्टि से ही अनावश्यक शाखाओं को छोड़ दिया गया है।

ऊपर ४:३ अनुच्छेद में किए गए काल-विभाजन का सम्बन्ध समूचे भारतीय लिपि-वर्ग से होने के कारण लिपि-विशेष (नागरी, उड़िया इत्यादि) के इतिहास की विशेष प्रवृत्ति के कारण उसमें परिष्कार की आवश्यकता हो सकती है। नागरी का इतिहास प्राय: अनुच्छेद ४:३ के साथ मेल खाता है। फिर भी विवेच्य विषय स्पष्टत: दो भागों —(१) उद्भव, (२) विकास—में विभक्त होने के कारण नागरी-केंद्रित दृष्टि से द्वितीय चरण और तृतीय चरण को निम्नलिखित दो खंडों में विभाजित किया जा सकता है —

(१) नागरी का उद्भव
(२) नागरी का विकास

द्वितीय चरण के पूर्वार्ध में ब्राह्मी और खरोष्ठी प्रधान लिपियों के रूप में दिखाई देती हैं। इनमें से खरोष्ठी का बाद की भारतीय लिपियों से सम्बन्ध न होने के कारण उसका विस्तृत विवेचन अनावश्यक समझा गया है।

भारतीय लिपि-वृक्ष में सिंधु-लिपि मूल का कार्य करती है, तो ब्राह्मी तने का। वस्तुत: ब्राह्मी की शाखाएँ ही आज समस्त भारत में अनेक लिपियों के रूप में विद्यमान हैं, इसीलिए इस खंड में ब्राह्मी का विवेचन विस्तार से किया गया है। ब्राह्मी का स्वरूप भारतीय लिपियों के विकास का वह मध्य-बिंदु है, जिसके साथ पूर्व और उत्तर काल की लिपियों की तुलना की जा सकती है। ब्राह्मी से पूर्व की लिपियाँ

जटिलता से सरलता की ओर बढ़ते हुए ब्राह्मी के सरल रूप तक पहुँची हैं और वहाँ से अलंकरण आदि के कारण पुनः जटिलता की ओर अग्रसर हुई हैं। ब्राह्मी से पूर्व की अनेक लिपियाँ ब्राह्मी में एकरूपता ग्रहण करने के पश्चात् उत्तर काल में पुनः अनेक रूपों में विभाजित हो गई हैं। स्पष्टतः ब्राह्मी भारतीय लिपियों की अनेकरूपता के डमरू का वह मध्य है, जहाँ दोनों ओर के विकास मिलते हैं।

तत्पश्चात् ब्राह्मी की शाखाओं में से नागरी के उद्भव का संधान प्रारम्भ होता है। अन्य भारतीय लिपियों के विकास का विवेचन इस प्रबन्ध की सीमा से बाहर होने के कारण इस खंड में विशेषतः नागरी-केंद्रित दृष्टि अपनाई गई है।

नागरी के उद्भव-काल पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है। ऐसे सभी सम्बद्ध विषयों पर आगे के अध्यायों में विस्तृत विवेचन के बाद निश्चित मत व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है।

इस खंड की समाप्ति नागरी के उद्भव के संधान पर की गई है। स्पष्ट है कि नागरी लिपि के उद्भव का संधान ही द्वितीय खंड का लक्ष्य है। एतदर्थ प्रथम भारतीय लेख-लिपि ब्राह्मी के विवेचन से लेकर उसकी नागरी से सम्बन्धित सभी शाखाओं का आकृतिगत एवं सिद्धांतगत विवेचन अगले अध्यायों में क्रमशः दिया गया है।

---

१. न्यू० ला० इं० सि० (१), पृ० ६०
२. सि० र० (फ०), पृ० ७
३. डि० इं० हा०, पृ० १०६
४. इं० डि०; ४६ से ५२ तक के पृष्ठों पर दिए गए अनेक चित्र-प्रमाण
५. द्रष्टव्य—इस प्रबंध का अनुच्छेद २:७:१
६. द्रष्टव्य—वही, अनु० २:७:२
७. किसी संकेत की रेखाएँ संख्या, आकार और दिशा में निश्चित हो सकती हैं। ब्राह्मी की संकेत-रेखाएँ भी इन तीनों दृष्टियों से निश्चित हैं।
८. विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य—अनुच्छेद ३:४
९. इस प्रबंध के शेष भाग में 'सन् ईस्वी' को संक्षेप में केवल 'सन्' ही लिखा गया है।
१०. डि० इं० हा०; पृ० १३७

५ ब्राह्मी-लिपि

५:१ : ब्राह्मी-लिपि का काल : यद्यपि लिपि-विकास की सहज प्रक्रिया को देखते हुए समस्त भारतीय लिपियों का पिछले छ:-सात हजार वर्षों का प्रवाह एक ही अविच्छिन्न धारा के समान है, तथापि विवेचन की सुविधा के लिए उसे विभिन्न कालों में बाँट लिया जाता है। पिछले अध्याय में भारतीय लिपि-विकास को तीन चरणों में बाँटा गया है और द्वितीय चरण का प्रथम काल 'आधार-निर्माण-काल' अथवा 'ब्राह्मी-लिपि-काल' बताया गया है। प्रथम नाम प्रवृत्ति के आधार पर है और द्वितीय नाम तत्कालीन प्रमुख लिपि के नाम पर। ब्राह्मी-लिपि पर विस्तार से विचार करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि ब्राह्मी-लिपि के लिए यह अवधि किन प्रमाणों अथवा तर्कों के आधार पर निश्चित की गई है; अत: इस अवधि के प्रथम और अन्तिम छोर पर क्रमश: विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

५:१:१ : ब्राह्मी-काल का प्रथम छोर : ब्राह्मी-लिपि का लगभग पूर्ण रूप हमें ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी के अशोक के लेखों से ही प्राप्त होता है। इससे पूर्व के उपलब्ध लेख उसी लिपि में होते हुए भी उसका पूर्ण रूप प्रस्तुत करने के लिए अपर्याप्त हैं। पिप्रावा (नेपाल की तराई) के स्तूप से मिले पात्र पर खुदा छोटा-सा लेख[१], अजमेर जिले के बड़ली (अथवा 'बर्ली') गाँव से मिला केवल दो पंक्तियों का लेख[२] और सोहगौर (गोरखपुर) से मिला ताम्रलेख[3] ब्राह्मी के प्राचीनतम उपलब्ध लेख माने जाते हैं। बूलर ने पिप्रावा के लेख को अशोक के समय से पहले का माना है।[४] गौ० ही० ओझा ने इसे ईसा-पूर्व ४८७ से कुछ ही पीछे का बताया है।[५] राजबली पांडेय ने इसे सिंहाली गणना के आधार पर ४८३ ईसा-पूर्व का सिद्ध किया है।[६] बड़ली का लेख (जो इसके प्राप्तकर्त्ता गौ० ही० ओझा के अनुसार ई० पू० ४४३ का है[७]) और सोहगौर का लेख (जो राजबली पांडेय के अनुसार चौथी शताब्दी ईसा पूर्व का है[८]) पिप्रावा के लेख के बाद के ही सिद्ध होते हैं, अत: पिप्रावा के लेख को ही अब तक

उपलब्ध प्राचीनतम ब्राह्मी-लेख माना जा सकता है। क्योंकि इन प्राचीन लेखों और अशोक महान् के राजत्व-काल (२७३ ई० पू० से २३२ ई० पू०[९]) के शिला-लेखों की लिपि में कोई विशेष अंतर नहीं है, अतः जेम्स प्रिंसेप[१०] तथा गौरीशंकर हीराचंद ओझा[११] का यह मत उचित प्रतीत होता है कि ब्राह्मी-लिपि का भारत-भर में पाँचवीं शताब्दी ईसा-पूर्व से अवश्य प्रचार था।

५:१:२ : **ब्राह्मी-काल का अंतिम छोर :** यों तो ब्राह्मी को नागरी का ही प्राचीन रूप भी कहा जाता है,[१२] जो केवल इतने सत्य पर आश्रित है कि ब्राह्मी में संयोजन की वह प्रक्रिया नियमन के धरातल पर पूर्ण हो चुकी थी, जो भारतीय वर्ग की लिपियों को विश्व की अन्य लिपियों से पृथक् करती है, किंतु इस आधार पर तो ब्राह्मी को किसी भी भारतीय लिपि का प्राचीन रूप कहा जा सकता है। पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व की ब्राह्मी और आधुनिक नागरी का आकृति-भेद प्रथम दृष्टि में ही उन्हें पृथक् लिपियों के रूप में स्पष्ट कर देता है। अतः इसके विकास-क्रम को उन अंतरालों में विभक्त करना आवश्यक हो जाता है, जो इसके प्रमुख परिवर्तनों के घटना-काल को व्यक्त कर सकें। नागरी की प्रमुख विशेषता उसकी शिरोरेखा है, जो उसे अन्य भारतीय लिपियों से अलग करती है। डॉ० डिरिंजर ने नागरी की इसी अन्यतम विशेषता के आधार पर उसे पृथक्शः पहचाना है।[१३] नागरी की यह शिरोरेखा शब्द के पूरे वितान पर तो छापेखाने के प्रभाव से फैली है, किंतु पूरे अक्षर पर एक शिरोरेखा लगाने की पद्धति दसवीं शताब्दी के अंत तक विकसित हो पाई। ग्यारहवीं शताब्दी से नागरी का प्रत्येक अक्षर शिरोरेखा मंडित ही दिखाई देता है।[१४] अतः अद्यतन नागरी का प्रचलन सन् १००० ईस्वी से निःसंदेह चला आ रहा है। ईसा-पूर्व के पाँच सौ वर्ष और ईस्वी सन् का प्रथम सहस्रक, यह पंद्रह सौ वर्ष का काल भारत की अनेक लिपियों के निर्माण का काल है। ईस्वी सन् की आठवीं-नवीं शताब्दी में नागरी का वह पूर्व-रूप प्रचलित हो गया था, जिसे प्राचीन नागरी कहा जा सकता है। (बूलर के अनुसार उत्तर और मध्य भारत में नागरी सबसे पहले महोदय के महाराज विनायकपाल के ताम्र-पट्टों में मिलती है। ये संभवतः सन् ७९४ ई० के हैं।)[१५] आधुनिक नागरी पढ़ा हुआ व्यक्ति प्रयत्न करने पर उसे पढ़ सकता है, किंतु केवल ब्राह्मी-लिपि जानने वाला व्यक्ति उसे नहीं पढ़ सकता।

ब्राह्मी के संकेतों की आकृतियाँ लगभग सन् ३५० तक अपने मूल रूप के ही अधिक निकट हैं। उसके बाद उत्तरी और दक्षिणी शैलियाँ एक-दूसरी से भिन्न होती गई हैं। नागरी के विकास के लिए ब्राह्मी ने जो आधार तैयार किया, वह सन् ३५० तक लगभग पूर्ण हो चुका था। उसके पश्चात् उत्तरी शैली में सैद्धान्तिक विकास कम और अलंकरण अधिक हुआ। अतः सन् ३५० से सन् १००० ई० तक के काल में संकेतों की आकृतियों का विकास ही विशेष विवेच्य विषय है।

इस मध्यवर्ती काल की लिपियों के नाम तत्कालीन राजसत्ता, स्थान इत्यादि के अनुसार भिन्न-भिन्न विद्वानों ने यादृच्छिक रूप से कल्पित किए हैं। ये कल्पित नाम

केवल विवेचन की सुविधा के लिए ही गढ़े गए हैं। ,बहुप्रचलित नामों के आधार पर सन् ३५० ई० के पश्चात् उत्तरी शैली में ब्राह्मी के क्रमशः गुप्त-लिपि, कुटिल-लिपि, प्राचीन नागरी और नागरी का क्रमशः सन् ३५० से ५०० तक, सन् ५०० से ८००-९०० तक, सन् ८००-९०० से १००० तक और सन् १००० से अब तक विकास हुआ है। अतः ब्राह्मी-लिपि का अंतिम छोर सन् ३५० ही माना जाना चाहिए, क्योंकि उसके बाद ब्राह्मी की उत्तरी और दक्षिणी शैलियाँ स्पष्टतः दो भिन्न-भिन्न मार्ग अपना लेती हैं और प्रत्येक शैली का पृथक् विवेचन आवश्यक हो जाता है। नागरी के संदर्भ में तब केवल उत्तरी शैली ही विशेष रूप से विवेच्य हो जाती है।

५:२ : ब्राह्मी-काल में लिपि-विकास : ई०-पू० ५०० से सन् ३५० तक के लगभग ८५० वर्ष के समय में भी यह लिपि नितांत स्थिर रूप में नहीं रही। इस काल में उसमें दो प्रमुख परिवर्तन हुए हैं—(१) सिर बनाने की प्रवृत्ति और (२) तीन-तला लेखन। अतः ऐतिहासिक क्रम में ब्राह्मी को तीन स्वरूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है—

(१) सरल ब्राह्मी
(२) शिरोमय ब्राह्मी
(३) तीन-तली ब्राह्मी।

इनमें से ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक सरल ब्राह्मी के ही अधिकांश लेख प्राप्त होते हैं। उनमें न तो संकेतों के सिर मोटे किए गए हैं, न सिर अथवा पाँव में से मात्राएँ अथवा संयुक्त व्यंजन बाहर निकालने का प्रयत्न हुआ है, वरन् अक्षरों को सरलतम-संभव रूप में और यथासंभव पंक्ति की ऊँचाई में ही सीमित करते हुए दो समान्तर रेखाओं के मध्य लिखने का प्रयास किया गया है। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी से सिर बनाने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हो जाती है, जिसे छोटी-सी शिरोरेखा या शीर्ष का बिंदु मोटा करके लिखा होने के कारण स्पष्टतः पृथक् पहचाना जा सकता है। यद्यपि अक्षरों के कुछ अंश पंक्ति से ऊपर और कुछ अंश पंक्ति से नीचे निकाल कर तीन तलों में लिखने की प्रवृत्ति के (जो आज की नागरी में भी विद्यमान है) बीज सिर बनाने की प्रवृत्ति के साथ ही विकसित होते दीखते हैं तथापि प्रमुखतः तीन तलों में लेखन की स्वीकृति जगय्यपेट के ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के लेख में ही दृष्टि-गोचर होती है। निष्कर्षतः ब्राह्मी को लेखन की उक्त प्रवृत्तियों के अनुसार निम्न-लिखित काल-क्रम में रखा जा सकता है—

(१) सरल ब्राह्मी—ई० पू० ५०० ई० पू० २०० तक
(२) शिरोमय ब्राह्मी—ई० पू० २०० से २०० ई० तक
(३) तीन-तली ब्राह्मी - २०० ई० से ३५० ई० तक

५:३ : सरल ब्राह्मी का स्वरूप : ब्राह्मी के इस स्वरूप की जितनी सामग्री प्राप्त है, उसके आधार पर इसकी प्रकृति को आसानी से पहचाना जा सकता है, अतः विभिन्न

लिपिकों के लेखन में सूक्ष्म अन्तर पर विवाद न करते हुए यहाँ सरल ब्राह्मी के स्वरूप को स्पष्ट किया जा रहा है।

५:३:१ : **प्रिंसेप की ब्राह्मी-संकेतसूची :** ब्राह्मी को पढ़ने में यों तो 'एशियाटिक सोसाइटी ग्राफ़ बंगाल' के प्रेरक सर विलियम जान्स और राजस्थान के इतिहास के प्रसिद्ध लेखक कर्नल जेम्स टाड के अतिरिक्त चार्ल्स विल्किन्स[१६], पं० राधाकांत शर्मा[१७], जे० एच० हैरिंगटन[१८], बी० जी बैबिंगटन[१९], कप्तान ट्रायर[२०], डॉ० मिल[२१], डब्ल्यू० एच० वाथन[२२], पादरी जेम्स स्टिवेन्सन[२३], लेसन[२४] इत्यादि अनेक विद्वानों ने श्रम किया है। किंतु जेम्स प्रिंसेप ने प्राचीन सिक्कों, स्तम्भ-लेखों और शिलालेखों के अध्ययन से ब्राह्मी और उसकी शाखाओं का जितना समग्र और व्यवस्थित रूप प्रस्तुत किया[२५], उसके लिए भारत ही नहीं पूरा विश्व उनका ऋणी है। हमें आज भी ब्राह्मी को टाइप जोड़कर छापने की सुविधा प्राप्त नहीं है, जबकि प्रिंसेप ने वर्षों पहले ब्राह्मी की 'वर्ण-माला' के टाइप ढलवाकर उसे छपवाया। सन् १८३७ ई० के एक निबन्ध में[२६] जेम्स प्रिंसेप ने ब्राह्मी की उपलब्ध वर्णमाला को जिस व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है, उसे यहाँ चित्र ५:१ में दिखाया गया है। इस चित्र में घ, ङ, झ, ञ, ण, श, ष, आ, ई, ऊ,

ब्राह्मी के संकेत		समानान्तर नागरी-संकेत
[Brahmi]	=	क ख ग … …
[Brahmi]	=	च छ ज … …
[Brahmi]	=	ट ठ ड ढ …
[Brahmi]	=	त थ द ध न
[Brahmi]	=	प फ ब भ म
[Brahmi]	=	य र ल व स ह
[Brahmi]	=	अ इ ए उ ऋ

चित्र ५:१

ऐ, ओ और औ नहीं दिखाए गए थे, क्योंकि तब तक वे अप्राप्त थे। 'ऋ' के लिए दिया गया संकेत वस्तुतः 'झ' का और 'फ' के लिए दिया गया संकेत वस्तुतः 'ष' का संकेत

[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]	[Brahmi]
घ	ङ	ञ	ण	फ	ष	आ	ऊ	ओ	अं

चित्र ५:२

था, जैसा कि स्वयं प्रिंसेप ने गिरनार के लेखों के अध्ययन के बाद स्वीकार किया।[२७] इन लेखों से उसे कुछ अन्य संकेत भी प्राप्त हो गए। वे इस सूची के पूरक हो सकते हैं। उन्हें यहाँ चित्र ५:२ में दिखाया गया है।[२८] इनसे 'घ', 'ञ', 'ण' और 'आ' के रिक्त स्थानों की पूर्ति तो हुई ही, 'झ', 'फ' और 'ष' के शुद्ध संकेत भी स्थिर हो गए, किंतु 'ऊ' के लिए दिया गया संकेत बाद में अशुद्ध पाया गया। अशोक के शिलालेखों से यह स्पष्ट हो चुका था कि तत्कालीन लेखों में संस्कृत का नहीं वरन् पालि का प्रयोग स्थानीय भेदों के साथ हुआ है। अतः यह नितान्त स्वाभाविक था कि इनमें केवल उन्हीं ध्वनियों के संकेत प्राप्त होते, जिन्हें पालि में प्रयोग किया जाता था। कच्चायन व्याकरण के अनुसार पालि में निम्नलिखित ४१ 'वर्ण'[२९] माने जाते हैं—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, स, ह, ळ, अं।

इनमें से प्रथम आठ स्वर, तत्पश्चात् बत्तीस व्यंजन और अन्त में अनुस्वार है, जिसे पालि में 'निग्गहीत' कहते हैं और व्यंजन मानते हैं।[३०] प्रिंसेप की सूची में पालि के व्यंजनों में से 'ङ' और 'ळ' की अब भी कमी थी। उसे 'ङ' की कमी विशेष रूप से अखरी। पालि के शिलालेखों में 'ङ' के बदले अनुस्वार का ही प्रयोग था (जो ऊपर चित्र ५:२ में दिखाया गया है), अतः प्रिंसेप ने परवर्ती ब्राह्मी के और तिब्बती लिपि के 'ङ' से ब्राह्मी के सरल 'ङ' की कल्पना की। इसे यहाँ चित्र ५:३ में दिखाया गया है। इस चित्र

चित्र ५:३

का संकेत १ 'ङ' का वह रूप है जो सिंहविक्रम के सिक्कों पर और तिब्बती लेखों में प्राप्त है और संकेत २ 'ङ' का वह ब्राह्मी-संकेत है जो प्रिंसेप ने कल्पित किया है। संकेत ३ और ४ 'ज' के ब्राह्मी-संकेत हैं जो क्रमशः संकेत १ और २ के समकालीन हैं। प्रिंसेप की यह कल्पना निम्नलिखित दो कारणों से उचित प्रतीत होती है—

(१) तिब्बती लिपि के संकेतों का विकास ब्राह्मी के संकेतों से ही हुआ है। उसके संकेतों की आकृतियाँ ब्राह्मी की उत्तरी शाखा की पाँचवीं शताब्दी ई० की 'गुप्त-लिपि' की और दसवीं शताब्दी ईस्वी की 'कुटिल लिपि' की संकेताकृतियों से बहुत मेल खाती हैं। चित्र ५:४ (पृष्ठ ८२) में यहाँ उनके स्वरूप देखे जा सकते हैं।[३१] अतः तिब्बती संकेतों के आधार पर अप्राप्त ब्राह्मी-संकेतों का अनुमान असंगत नहीं है। चित्र ५:३ के संकेत ३ (तिब्बती 'ज') और संकेत ४ (ब्राह्मी 'ज') में केवल एक ही अन्तर

है कि संकेत ३ में **तल-रेखा** को अन्त में ४५° नीचे को मोड़ दिया गया है। तिब्बती 'ङ' (संकेत १) में भी ब्राह्मी 'ङ' से यही भिन्नता है।

चित्र ५:४

(२) सिंहविक्रम के सिक्कों की 'सिङ्ह-विक्रम' वर्तनी उच्चारणानुकूल है। आज भी 'पङ्क', 'शङ्ख', 'अङ्गुष्ट', 'सङ्घ', इत्यादि में कण्ठ्य व्यंजनों के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर 'ङ्' का प्रयोग संस्कृत-परिपाटी के अनुसार होता है, यद्यपि पाणिनि अन्तःस्थों (य, र, ल, व) के पूर्व अनुस्वार के स्थान पर नासिक्य व्यंजन का प्रयोग मानकर भी ऊष्मों (श, ष, स, ह) के पूर्व केवल अनुस्वार का ही प्रयोग निर्दिष्ट करता है[३२], तथापि 'ह' के स्पष्ट कंठीय होने के कारण उससे पूर्व अनुस्वार का 'ङ' हो जाना नितांत स्वाभाविक प्रतीत होता है। पंजाब में तो आज भी 'सिंह' का उच्चारण स्थान-भेद से तीन प्रकार होता है—'सिँह', 'सिङ्ह' और 'सिङ्घ', जबकि अन्य प्रदेशों में वह 'सिन्ह' या 'सिन्हा' भी हो गया है। अतः जेम्स प्रिंसेप द्वारा सिंह-विक्रम के सिक्के पर पढ़ा गया 'ङ्' शुद्ध ही है।

स्वरों में प्रिंसेप को 'ऐ' का संकेत भी बाद के लेखों से मिला। इसमें 'ए' पर तत्कालीन एक मात्रा विद्यमान थी। आज की नागरी में 'ए' से 'ऐ' बनाने का सिद्धान्त वही है जो जेम्स प्रिंसेप के अनुसार ब्राह्मी-काल में था। मात्राओं और संयुक्त व्यंजनों के कतिपय उदाहरण तो जेम्स प्रिंसेप ने दिए, किन्तु उनका विवेचन नहीं किया। इस प्रकार प्रिंसेप के प्रयत्नों से प्राप्त सरल-ब्राह्मी की जो संकेत-सूची तैयार हुई, उसे यहाँ चित्र ५:५ (पृ० ८३) में दिखाया गया है।[33] इसमें ब्राह्मी की प्रथम दो पंक्तियों में

व्यंजन तीसरी पंक्ति में स्वरों के मूल रूप तथा ब्राह्मी की चौथी पंक्ति में संयोजित अक्षर दिएगए हैं, जिनमें अन्तिम अक्षर दो व्यंजनों और एक स्वर (अन्तर्भूत अ) का संयोजित

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण

त थ द ध न प फ ब भ म य र ल व ह स

अ आ इ उ ऊ ए ऐ ओ अं

क का गि घी चु छू दे धै मो स्य

चित्र ५:५

रूप हैं, शेष सभी 'मात्रा' के प्रयोग के उदाहरण हैं। प्रत्येक ब्राह्मी-संकेत का उच्चारण नागरी में दिखाया गया है।

५:३:२ **अन्य प्रयत्न :** जेम्स प्रिंसेप द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मी-संकेत-सूची में 'ई' के मूल रूप की कमी थी। बूलर ने चार बिंदुओं (::) को 'ई' समझ लिया था। सिन्धु-लिपि के 'ई' के आधार पर उसे उचित मानने की भूल हो सकती है, किन्तु जहाँ-जहाँ इस संकेत को ब्राह्मी में पाया गया है, वहाँ उसे 'ई' न पढ़कर 'इं' पढ़ना ही उचित है।[३४] बाद में गो० ही० ओझा ने 'ई' के सरल ब्राह्मी के रूप की कल्पना दूसरी से पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के क्षत्रपों के सिक्कों पर मिले 'ई के संकेत के आधार पर की।[३५] किन्तु मेरे विचार में ओझा जी की कल्पना में भी थोड़े संशोधन की आवश्यकता है। यहाँ

चित्र ५:६

चित्र ५:६ में 'ई' की सभी संकेताकृतियाँ उनके समकालीन 'प' के साथ दिखाई गई हैं। इस चित्र में 'ई और 'प' की ऊँचाई तुलनात्मक दृष्टि से देखी जा सकती है। मेरी

धारणा है कि ओझा ने जिस आकृति की कल्पना की है, उसकी रेखा और बिन्दुओं का स्थान तो उचित है किंतु ब्राह्मी अपनी सरल अवस्था में दो समानांतर रेखाओं के मध्य बँधी आकृतियों में ही प्राप्त होती है, अतः 'ई' का संकेत भी 'प' जितना ऊँचा ही रहा होगा। उसे 'प' से अधिक लम्बा दिखाना उचित नहीं है।

गौ० ही० ओझा ने तालव्य 'श' का संकेत भी खालसी के चट्टान-लेख के आधार पर प्रस्तुत किया है, जिसे चित्र ५:७ में दिखाया गया है। चित्र से स्पष्ट है
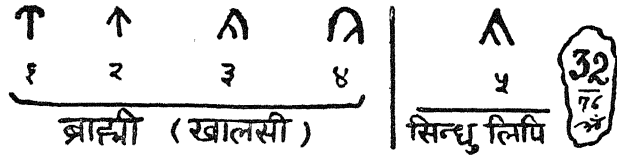
चित्र ५:७

कि ब्राह्मी में उपलब्ध 'श' के सभी रूप सिन्धु-लिपि के 'श' से ही विकसित हुए हैं। खालसी के संकेतों में से तीसरा संकेत तो सिन्धु-संकेत के लेखन में हल्का सा विकार ही प्रदर्शित करता है। अतः सरल ब्राह्मी में सिन्धु—'श' ज्यों का त्यों विद्यमान स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

'ष' का संकेत प्रिंसेप प्राप्त कर चुका था किन्तु उसने उसे 'वर्णमाला' (संकेत-सूची) में नहीं दिखाया।

इन प्रयत्नों के बाद भी प्राकृत का ळ अप्राप्त ही रहा। यद्यपि दूसरी शताब्दी ईस्वी के मथुरा के लेखों में उसका संकेत प्राप्त है (जैसा यहाँ चित्र ५:८ में दिखाया गया है)[३६], तथापि उससे उसके पाँच सौ वर्ष पहले के स्वरूप का अनुमान नहीं होता। इन पाँच सौ वर्षों के समय में अन्य संकेतों के रूप जिस ढंग से परिवर्तित हुए, वह ढंग इस
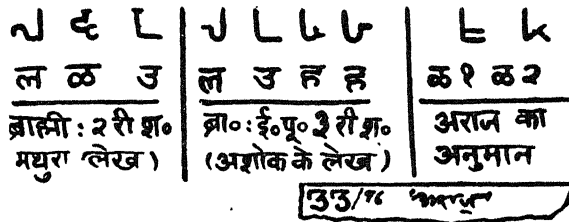
चित्र ५:८

संकेत का इतिहास उद्घाटित नहीं करता। ळ का सरल-ब्राह्मी-संकेत चित्र ५:८ में प्रदर्शित अशोक के लेख के 'ल', 'उ' तथा 'ह' से भिन्न होना चाहिए। मथुरा-लेख के ळ और 'ल' का कोई साम्य नहीं है, वरन् वह तत्कालीन 'उ' से साम्य रखते हुए भी थोड़ा भिन्न है। अतः सरल ब्राह्मी (अशोककालीन ब्राह्मी) ळ का का संकेत

ऐसा होना चाहिए जो तत्कालीन 'उ' से कुछ-कुछ साम्य रखते हुए भी उससे भिन्न हो। सरल ब्राह्मी का 'ह्' का संकेत भी मथुरा लेख के 'उ' से कुछ साम्य रखता है। परिणामतः इतना अनुमान तर्क-संगत है कि अशोक के समय ळ के लिए जो संकेत रहा होगा, वह तत्कालीन 'उ' और 'ह्' से कुछ साम्य रखता होगा। फिर भी भिन्न ध्वनि-ग्राम के लिए भिन्न-संकेत की प्रथा ब्राह्मी में दृढ़ रूप से प्रतिष्ठित होने के कारण ळ का वैशिष्ट्य अवश्य रहा होगा। इस विवेचन के आधार पर जो दो अनुमान सम्भव हैं, वे इसी चित्र ५:८ में अन्त में दिखाए गए हैं। अनुमान १ सरल ब्राह्मी का 'ऊ' होने के कारण[३७] ळ नहीं हो सकता। अनुमान २ सरल ब्राह्मी के 'ऊ' से साम्य रखते हुए भी अपनी विशेषता दाहिने को बढ़े हुए भाग में लिए हुए है। पड़ी रेखा तिरछी हो गई है और उसके साथ जुड़ी छोटी रेखा ऐसा आभास देती है, जैसे तिरछी रेखा ही फटकर दो भागों में विभक्त हो गई हो। अतः यह अनुमान उचित है।

शेष रहे कुछ स्वरों को भी तुलनात्मक दृष्टि से देखना आवश्यक है। प्रिंसेप और ओझा, दोनों का मत यहाँ चित्र ५:९ में दिखाया गया है। प्रिंसेप का 'ऐ'[३८] ओझा को भी मान्य है[३९] और हाथीगुंफा के लगभग दूसरी शताब्दी ईसापूर्व
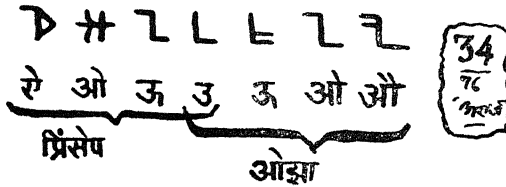
चित्र ५:९

के लेख में इसका थोड़ा विकृत रूप प्राप्त होने के कारण[४०] प्रिंसेप का संकेत सरल ब्राह्मी के अनुकूल मानना संगत है। 'उ' के संकेत पर भी कोई विवाद नहीं। 'औ' वस्तुतः अप्राप्त है किंतु ओझा की कल्पना में औचित्य प्रतीत होता है। 'ऊ' के लिए प्रिंसेप ने जो संकेत दिया, वह वस्तुतः 'ओ' का संकेत था। प्रिंसेप ने भ्रम से उसे 'ऊ' समझ लिया। ओझा द्वारा स्वीकृत 'ऊ' भरहुत स्तूप के लेखों में प्राप्त है, अतः 'ऊ' के लिए ब्राह्मी-संकेत विवाद का विषय नहीं है। प्रिंसेप और ओझा के 'ओ' के संकेतों में से ओझा का 'ओ' ही सरल ब्राह्मी के लिए मान्य संकेत है। इसका औचित्य निम्न-लिखित कारणों से सिद्ध होता है—
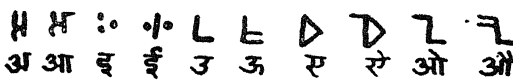
चित्र ५:१०

(१) ब्राह्मी के 'अ-आ' में, 'इ-ई' में, 'उ-ऊ' में और 'ए-ऐ' में आपसी साम्य है, किन्तु प्रत्येक युगल का अपना-अपना पृथक् स्वरूप है, 'अ' में मात्रा लगाकर इ, ई, उ, ऊ, ए और ऐ में से किसी स्वर का संकेत-रूप नहीं बनाया गया, अतः ब्राह्मी के स्वर-संकेतों की मूल प्रकृति यही प्रतीत होती है कि उसमें 'अ', 'ई', 'उ', 'ए' और 'ओ' के मूल संकेत थे और उनसे क्रमशः 'आ', 'ई', 'ऊ', 'ऐ' और 'औ' के संकेत बनाए गए। ओझा द्वारा स्वीकृत 'ओ' इस प्रकृति के अनुसार है जबकि प्रिंसेप का 'ओ' बाद की नागरी-प्रकृत्ति का द्योतक है। चित्र ५:१० में युगलों का आपसी साम्य देखा जा सकता है।

(२) ब्राह्मी का प्राचीनतम उपलब्ध स्वरूप कम से कम रेखाओं द्वारा अधिकतम लेखन की प्रवृत्ति दिखाता है। बाद के ब्राह्मी के रूपों में अलंकरणादि के लिए रेखाओं को बढ़ाया गया है, जैसा कि चित्र ५:८ के 'उ' और 'ल' के दो विभिन्न कालों के संकेतों से स्पष्ट है। इस प्रकृति के अनुसार भी 'ओ' का संकेत वही ग्रहण किया जाना चाहिए, जो ओझा ने स्वीकार किया है।

ओझा के 'औ' के संकेत को भी उक्त दोनों तर्कों के आधार पर ग्रहण किया जा सकता है।

५:३:३ : सरल ब्राह्मी के पूरे आधार-संकेत : उक्त विवेचन से सरल ब्राह्मी

अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ

ण त थ द ध न प फ ब भ म य र

ल व श ष स ह ळ

चित्र ५:११

के उन सभी आधार-संकेतों की सूची बनाई जा सकती है, जिन्हें पाली के ध्वनिग्रामों को अंकित करने के लिए आवश्यक समझा जाता था। पालि-ध्वनिग्रामों के अतिरिक्त संस्कृत के 'ऐ' और 'औ' स्वर तथा 'श' और 'ष' व्यंजन ध्वनियों के लिए भी ब्राह्मी-संकेत स्थिर हो गए हैं। ब्राह्मी-संकेतों की यह सूची यहाँ चित्र ५:११ में दिखाई जा रही है। इसमें अनुस्वार (पालि में 'निग्गहीत') को स्वरों के बाद रखा गया है और ळ को 'ह' के पश्चात्। यहाँ ब्राह्मी की मूल प्रकृति के अनुसार किसी संकेत के सरलतम रूप को ही प्रतिनिधि-संकेत के रूप में चुना गया है। स्पष्ट है कि स्थानीय भेद से किसी एक संकेत के थोड़े-थोड़े भिन्न कई रूप सम्भव हैं, किन्तु इससे एक प्रतिनिधि

रूप स्थिर करने में बाधा नहीं आती ।

५:३:४ : **स्थानीय भेद** : प्रत्येक व्यक्ति का लेखन अन्य से भिन्न होने से लिपि में स्थानीय भेद उत्पन्न होना स्वाभाविक है, विशेषतः जब छापने की सुविधा न हो। किन्तु, जब तक इसके कारण एक संकेत में दूसरे संकेत का सन्देह अथवा भ्रम न उत्पन्न हो, तब तक लिपि अपने नाम-रूप में स्थिर रहती है। उक्त चित्र ५:११ ब्राह्मी-संकेतों के उन **मध्यमान-रूपों** को प्रदर्शित करता है, जिनके अनुकरण में लिपिकों ने लिखने का प्रयत्न किया किन्तु केवल उनसे मिलते-जुलते संकेत ही लिख सके। लेखन में स्थानीय भेद उत्पन्न करने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित हैं—

(१) **शीघ्रता** : शीघ्रता में प्राय: रेखाएँ गोल हो जाती हैं या जुड़ जाती हैं। चित्र ५:१२ में दिखाए गए 'ज' के ब्राह्मी-संकेत समकालीन होते हुए भी शीघ्रता के

१ २ ३ ४
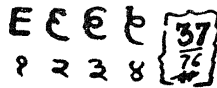
चित्र ५:१२

कारण भिन्नता लिए हुए हैं। इन सभी संकेतों का समय ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी है। इनमें से प्रथम दो गिरनार के और अन्तिम दो खालसी के शिलालेखों से लिए गए हैं। प्रथम संकेत में चार रेखाओं का प्रयोग किया गया है, शेष तीनों संकेत एक-एक रेखा से बने होने के कारण अधिक शीघ्र-लेख्य हैं। तीसरे संकेत में मध्य के रुकाव के बदले घुमाव में त्वरा का प्रदर्शन है और चौथे संकेत में प्रथम और अन्तिम छोरों को छोटा कर देने में।

(२) **रेखा-विभाजन** : कोई लिपिक किसी संकेत को कहाँ से लिखना प्रारम्भ करता है, कितनी रेखाओं में विभाजित करके लिखता है और प्रत्येक अंश को किस स्थान से प्रारम्भ करके किस दिशा को कलम चलाता है, इन कारणों से भी संकेत की आकृतियों में अन्तर हो जाता है। चित्र ५:१३ में दिखाए गए 'अ' के चार रूप गिरनार

१ २ ३ ४
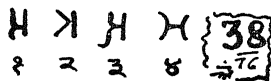
चित्र ५:१३

और खालसी के सम-सामयिक शिलालेखों से चुने गए हैं। वे रेखा-विभाजन के कारण बहुत-कुछ भिन्न आकृतियों वाले दिखाई देते हैं। संकेत २ में स्पष्टतः दो बार रेखाएँ खींची गई हैं, जबकि शेष तीनों में तीन-तीन बार रेखाएँ बनाने पर भी उनके प्रारम्भ बिन्दु और दिशा के अन्तर ने उनकी आकृति को परस्पर भिन्न बना दिया है।

(३) **सौन्दर्य** : अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सौन्दर्य लाने के लिए प्रत्येक

लिपिक आकृतियों के आकार-प्रकार में कुछ संशोधन कर लेता है। दिल्ली के शिवालक स्तम्भ के लेख में, सीधी खड़ी रेखाओं, समकोणों और चौकोर आकृतियों द्वारा सौन्दर्य भरने का प्रयत्न हुआ है तो गिरनार के अधिकांश लेखों में गोलाइयों द्वारा। यों प्रत्येक लिपि के सौन्दर्य की कुछ ऐसी कल्पनाएँ होती हैं जो उस लिपि में प्रायः सर्वत्र पाई जाती हैं। उन्हें उस लिपि की आधारभूत विशेषताओं में गिना जा सकता है। उर्दू का फैलाव, अरबी का गुंफन, उड़िया का गोल छत्र, तेलुगु की गोलाइयाँ, तमिल की वर्गात्मकता और नागरी की शिरोरेखा ऐसी ही विशेषताएँ हैं। ब्राह्मी की सरल आकृतियाँ और उनका दो समान्तर रेखाओं के मध्य रहकर पंक्ति बनाना उसके सौन्दर्य की आधारशिलाएँ कही जा सकती हैं, तो भी लिपिकों ने अपनी-अपनी रुचि का प्रदर्शन किया है, जिसके कारण स्थानीय भेद उत्पन्न हुए हैं।

(४) **अशुद्ध लेखन :** कभी-कभी किसी लिपिक की असावधानी अथवा अज्ञता के कारण प्रचलित सिद्धांतों के विपरीत भी लेखन हुआ है। यहाँ चित्र ५:१४ में दिखाए गए कुछ उदाहरणों से ऐसी भूलों की झलक मिल जाती है। गिरनार के
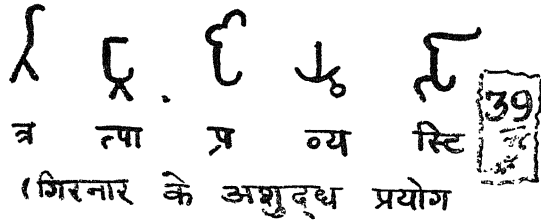
चित्र ५:१४

शिलालेखों से चुने गए इन ब्राह्मी अक्षर-संकेतों में भूल से 'त्र' को 'र्त', 'त्पा' को 'प्ता', 'प्र' को 'र्प', 'व्य' को 'य्व' और 'स्टि' को वस्तुतः 'ट्सि' लिख दिया गया है, जबकि गिरनार के इन्हीं लेखों में अन्य अनेक क्लिष्ट संयुक्त अक्षर शुद्ध लिखे गए हैं, जिनमें से कुछ यहाँ चित्र ५:१५ में दिखाए गए हैं। जहाँ ऐसे अनेक शुद्ध प्रयोग
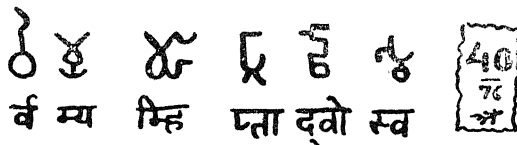
चित्र ५:१५

ब्राह्मी की प्रकृति का रूप स्पष्ट करते हैं, वहाँ यत्र-तत्र कुछ इने-गिने अशुद्ध प्रयोग लिपिक की असावधानी या अज्ञता का ही परिचय देते हैं। एक विशेष तथ्य द्रष्टव्य है कि ये अशुद्धियाँ केवल संयुक्ताक्षरों में (और उनमें से भी विशेषतः उस समय जब उनमें पूर्व या पश्चात् 'र्' हो) पाई गयी हैं।

५:४ : **ब्राह्मी की प्रयोग-विधि** : ऊपर दिए गए चित्र ५:१४ एवं ५:१५ में ब्राह्मी के जो अक्षर दिखाए गए हैं, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी के आधार-संकेतों से ही सब-कुछ लिखना सम्भव नहीं है। आधार-संकेतों की सूची (चित्र ५:११) को प्रयोग करते समय उसमें मात्राएँ और संयुक्त व्यंजन भी प्रयुक्त होते हैं, अतः इन दोनों के नियम समझना भी आवश्यक है।

५:४:१ : **स्वर का मात्रा-रूप** : ब्राह्मी में स्वरों के दो रूप होते हैं—

(१) मूल-रूप

(२) मात्रा-रूप

जब स्वर को व्यंजन के साथ संयोजित नहीं किया जाता, तब उसका मूल रूप
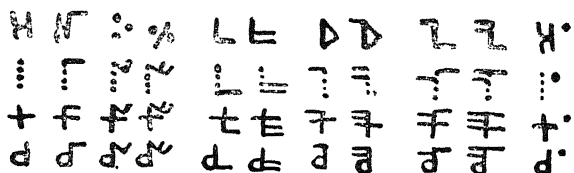
चित्र ५:१६

ही प्रयुक्त होता है। चित्र ५:१६ की प्रथम पंक्ति में स्वरों का मूल रूप ही दिखाया गया है। इस चित्र की दूसरी पंक्ति में प्रत्येक स्वर का मात्रा-रूप दिखाया गया है। बिन्दुओं द्वारा प्रदर्शित क्षीण-सी खड़ी-रेखा उस स्थान को प्रदर्शित करती है, जहाँ व्यंजन लिखा जाता है। पहले स्वर ('अ') का मात्रा-रूप नहीं होता। वह व्यंजन में पहले ही सम्मिलित माना जाता है, इसीलिए 'अ' के मात्रा-रूप के बदले केवल व्यंजन के स्थान की द्योतक क्षीण रेखा दिखाई गई है। तीसरी पंक्ति में 'क' के साथ और चौथी पंक्ति में 'च' के साथ सभी स्वरों के मात्रा-रूप का संयोजन करके दिखाया गया है। इसी चित्र में अनुस्वार का प्रयोग भी दिखाया गया है। यद्यपि अनुस्वार स्वर नहीं है, तथापि उसे यहाँ स्वरों की प्रयोग-विधि के साथ दिखाना आवश्यक समझा गया। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) अनुस्वार के साथ अन्य व्यंजनों की तरह स्वरों की मात्राओं का संयोजन नहीं होता।

(२) अनुस्वार पर भी स्वर की तरह ही अक्षर समाप्त हो जाता है।

(३) अनुस्वार का स्थान स्वर के मात्रा-रूप के साथ ही निश्चित होता रहा है। यह परिपाटी भारतीय लिपियों में आज तक चली आ रही है।

उक्त कारणों से जहाँ उसे स्वरों की प्रयोग-विधि के साथ समझना-समझाना आवश्यक है, वहाँ यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि अनुस्वार को स्वर न समझ लिया

जाए। **अनुस्वार स्वर के पश्चात् आने वाला ऐसा व्यंजन है जिस पर व्यंजनों के सभी नियम लागू नहीं होते।** चित्र ५:१६ में अन्तर्भूत 'अ'-सहित व्यंजन के आधार-संकेत की प्रतिनिधि क्षीण-सी खड़ी पाई के साथ अनुस्वार का बिन्दु, उसके स्थान को स्पष्टत: प्रदर्शित करता है। चित्र ५:१६ में दिखाए गए स्वरों की अभिव्यक्ति वही है, जो चित्र ५:११ में नागरी द्वारा दिखाई गई है अत: उसी अभिव्यक्ति के आधार पर स्तम्भ के अनुकूल चित्र ५:१६ में 'क', 'का', 'कि' इत्यादि तीसरी पंक्ति से और 'च', 'चा', 'चि' इत्यादि चौथी पंक्ति से अभिव्यक्त होते हैं। इस चित्र के आधार पर ब्राह्मी में स्वरों के मात्रा-रूपों को प्रयोग करने के लिए निम्नलिखित नियम निर्धारित किए जा सकते हैं—

(१) ब्राह्मी में स्वर के दो रूप होते हैं—मूल रूप और मात्रा रूप।

(२) स्वर का मूल रूप तभी लिखा जाता है, जब वह आघात के आदि में व्यंजन या स्वर से पूर्व आता है अथवा जब वह स्वर के पश्चात् नए आघात के रूप में आता है।

(३) व्यंजन के बाद का स्वर व्यंजन के साथ मात्रा-रूप में संयोजित किया जाता है और वहाँ पर ब्राह्मी का 'अक्षर' समाप्त हो जाता है। उसके बाद आने वाला कोई संकेत उस अक्षर के साथ संयोजित नहीं किया जाता।

(४) व्यंजन का मूल-रूप अकार-सहित होता है (देखिए चित्र ५:१६ के तीसरी और चौथी पंक्ति के पहले-पहले संकेत। इनकी क्रमश: अभिव्यक्ति 'क' और 'च' है। इसमें 'क' का अर्थ है 'क्' और 'अ'। इसी प्रकार 'च' की अभिव्यक्ति 'च्+अ' है।) किन्तु जब व्यंजन के इस रूप में अकार से भिन्न कोई स्वर मात्रा-रूप में संयोजित किया जाता है, तब उसको 'अकार' नहीं पढ़ा जाता, जैसे चित्र ५:१६ का 'कु' (पंक्ति ३, संकेत ५) अंकित रूप में 'क' और 'उ' (मात्रा-रूप) है, जिसका अर्थ होना चाहिए 'क्+अ+उ', किन्तु उसे 'क्+उ' ही पढ़ा जाता है।

(५) 'अ' का मात्रा-रूप नहीं होता; वह व्यंजन में अंतर्भूत रहता है। 'आ' का मात्रा-रूप शीर्ष-बिंदु से दाहिने को लेटी हुई रेखा है। 'इ' का मात्रा-रूप 'आ' के मात्रा-रूप को दाहिने छोर से ऊपर को मोड़ कर बनाया गया है, किन्तु उसे पंक्ति में रखने के लिए थोड़ा झुका दिया गया है। 'ई' के मात्रा-रूप में 'इ' के मात्रा-रूप से एक खड़ी रेखा बढ़ा दी गई है। 'उ' का मात्रा-रूप 'आ' के समान है, किन्तु उसका स्थान पाद-बिन्दु है। 'उ' की मात्रा-रेखा पाद-बिन्दु से प्रारम्भ होकर 'आ' की मात्रा की भांति दाहिने को बढ़ती है। 'ऊ' की मात्रा में 'उ' की मात्रा जैसी दो रेखाएँ होती हैं। इस प्रकार 'आ, इ, ई' की मात्राएँ शीर्ष-बिन्दु से और 'उ, ऊ' की मात्राएँ पाद-बिन्दु से प्रारम्भ होती हैं, किन्तु इन पाँचों की दिशा दाहिने को है। 'ए' का मात्रा-रूप एक पड़ी रेखा और 'ऐ' का मात्रा-रूप दो पड़ी रेखाएँ हैं। ये दोनों मात्राएँ शीर्ष पर बाएँ को जुड़ती हैं। 'ओ' और 'औ' की मात्राएँ दो-दो भागों में बँटी हुई हैं। 'ओ' की मात्रा 'आ' और 'ए' की मात्राओं का और 'औ' की मात्रा 'आ' और 'ऐ' की मात्राओं

का संयुक्त रूप कही जा सकती हैं। उनके आकार और स्थान में भी 'आ' और 'ए'-वर्ग का अनुकरण किया गया है।

५:४:२ : संयुक्त व्यंजन : ब्राह्मी में व्यंजन को स्वर-रहित करने के लिए नागरी की भांति पाई हटाने या हलंत का संकेत लगाने जैसी व्यवस्था नहीं है, अतः स्वर-रहित व्यंजन के पश्चात् आने वाले व्यंजन को पूर्व-व्यंजन के नीचे लिख दिया जाता है (चित्र ५:१७ के 'द्वो', 'प्ता' और 'म्हि' देखिए)। दो व्यंजनों को पूरे आकार में

दो द्वो पा प्ता ता मि ह्नि म्हि भ्रु
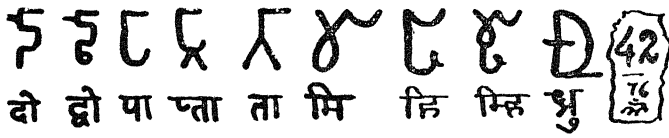
चित्र ५:१७

ऊपर-नीचे लिखने पर वे पंक्ति के अन्य अक्षरों से बड़े हो सकते हैं, अतः उनका आकार छोटा कर दिया जाता है ताकि वे अन्य अक्षरों के समान ऊँचाई के रहें और लेखन में पंक्ति की ऊँचाई सर्वत्र समान रहे। चित्र ५:१७ के संकेतों[४१] को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मी-लिपिक पंक्ति की ऊँचाई समान बनाए रखने के लिए व्यंजनों के **आकार का संकोचन** किस प्रकार करता है। 'द्वो' में 'द' और 'व', 'प्ता' में 'प' और 'त', 'म्हि' में 'म' और 'ह' तथा 'भ्रु' में 'र' अपनी आकृति सुरक्षित रखते हुए भी आकार में छोटे हो गए हैं। 'र' तो अपने स्थान से भी भटका है।

५:४:३ : समस्याएँ और समाधान : सरल ब्राह्मी का **प्रयोग-काल** ई० पू० ५०० से ई० पू० २०० और **प्रयोग स्थान** लगभग समस्त भारत है। इस देश-काल में ब्राह्मी लिपि में संस्कृत भाषा को लिखने का सामर्थ्य अवश्य होना चाहिए। सम्भव है पुस्तकों में उसका प्रयोग रहा भी हो जो दीर्घकाल तक सुरक्षित नहीं रह सकीं। पत्थर अथवा धातु के कठोर आधार ही शेष हैं और उन पर पालि भाषा में ही लिखे लेख मिलते हैं, अतः प्रामाणिक रूप से केवल इतने क्षेत्र तक ही विचार सम्भव है कि पालि को ब्राह्मी में लिखते समय क्या-क्या समस्याएँ उठीं और तत्कालीन लिपिकों ने उनके क्या-क्या समाधान प्रस्तुत किये।

५:४:३:१ : स्वर-रहित व्यंजन का अभाव : पालि हो या बाद की भारतीय भाषाएँ, संस्कृत भाषा का उन पर गहरा प्रभाव है। संस्कृत भाषा के विसर्ग, अनुनासिक स्वर, 'ऋ' और 'ऌ' के ह्रस्व और दीर्घ रूप, प्लुत स्वर, लुप्त 'अ' का स्थानापन्न 'अवग्रह', जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, 'श' और 'ष' का पालि में अभाव है ही, अतः उसमें संस्कृत की अनेक जटिलताएँ सरलता में बदल गई हैं। आज की भारतीय भाषाओं (विशेषतः उत्तर-पश्चिमी अंचल की) और संस्कृत में एक बहुत बड़ा अन्तर अन्तिम 'शुद्ध व्यंजन' के लेखन का है। आज की हिन्दी में 'शपथ्' बोला जाता है, किन्तु संस्कृत की परिपाटी के अनुसार 'शपथ' ही लिखा जाता है। 'जगत्'

शब्द संस्कृत में स्वर-रहित 'त' से ही शुद्ध है, किन्तु हिन्दी में 'जगत्' लिखा जाए या 'जगत', उच्चारण में वह 'जगत्' ही है। 'पालि' में संस्कृत के शब्दों का अन्तिम स्वर-रहित व्यंजन चाहे कैसे भी बदला हो, किन्तु परिणाम यही हुआ कि उसका अन्तिम व्यंजन स्वर-रहित नहीं रहा। यह अपवादहीन तथ्य है। कुछ ऐसे उदाहरण निम्न-लिखित हैं—

संस्कृत		पालि	
पद	मूल शब्द	पद	मूल शब्द
१. अहम्	अस्मद्	१. अहं	अहं
२. राजा	राजन्	२. राजा	राज
३. आत्मा	आत्मन्	३. अत्ता	अत्त
४. ब्रह्मा	ब्रह्मन्	४. ब्रह्मा	ब्रह्मा
५. युवा	युवन्	५. युवा	युव
६. देवात्		६. देवा, देवम्हा, देवस्मा	
७. मनुजानाम्		७. मनुजानं	
८. अपठत्		८. अपठी, पठी	
९. पठेत्		९. पठे, पठेय्य	
१०. किञ्चित्		१०. किञ्चि	

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि पालि ने वर्ण का लोप करके, उसे बदल कर या किसी भी विधि से अन्तिम स्वर रहित व्यंजन को अवश्य उड़ा दिया है। केवल एक अनुस्वार बचा है, जिसे पालि भाषा में व्यंजन माना जाता है, किन्तु तथ्यतः वह शुद्ध व्यंजन नहीं है। कारण स्पष्ट है, उसके साथ अन्य व्यंजनों की भाँति मात्राओं का संयोजन नहीं किया जाता। पालि की इस प्रकृति का ब्राह्मी लिपि पर यह प्रभाव हुआ कि उसमें अकेला स्वररहित व्यंजन (जैसा उक्त उदाहरणों में 'युवन्' या 'देवात्' के अन्त में 'न्' या 'त्' है) लिखने की आवश्यकता नहीं हुई। तत्कालीन लेखों में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जो यह संकेत दे सके कि तत्कालीन संस्कृत-ग्रंथों में स्वर-रहित असंयुक्त व्यंजन को कैसे लिखा जाता था। अतः यह ऐसी समस्या है जिसे तत्कालीन पालि भाषा के लिपिक ने कभी महसूस नहीं किया।

५:४:१:२ : **मात्राओं के प्रयोग में कठिनाई :** ब्राह्मी-स्वरों के जो मात्रा-रूप चित्र ५:१६ में दिखाए गए हैं, वे बहुधा प्रयुक्त होने के कारण मानक रूप में तो उपयुक्त हैं, किन्तु कुछ व्यंजनों के साथ उन्हें संयोजित करने में कठिनाई रहती है, कभी कोई मात्रा दूसरी मात्रा का भ्रम उत्पन्न करती है, कभी अस्पष्ट रह जाती है और कभी उसे स्थानाभाव के कारण प्रयुक्त ही नहीं किया जा सकता। चित्र ५:१८ में सरल-ब्राह्मी-काल के 'र' के दोनों रूपों के साथ सभी मात्राएँ दिखाई गई हैं। **सरल 'र'** से बने 'रु' और 'रू' सरल ब्राह्मी के 'उ' और 'ऊ' बन जाते हैं (देखिए, चित्र

५:११) । विषम 'र' के 'र', 'रा' और 'रि' में परस्पर भ्रम हो जाने की आशंका है

चित्र ५:१८

और 'रु' को 'ज' पढ़ा जा सकता है (चित्र ५:१२ के संकेत २ तथा चित्र ५:१८ की दूसरी पंक्ति के संकेत ५ की तुलना कीजिए) ।

इन्हीं कारणों से ब्राह्मी-लिपिक सिन्धु-लिपि से प्राप्त सरल और विषम दोनों प्रकार के 'र'-संकेतों को प्रयोग करता है। चित्र ५:१९ के अक्षर शिलालेखों से चुने गए हैं । ये सभी अक्षर लगभग तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के हैं, अतः समसामयिक हैं। ये अक्षर ब्राह्मी में 'र' के प्रयोग और उसके साथ मात्राओं के संयोजन की कठिनाई के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि तत्कालीन लिपिक इस कठिनाई को दूर करने के लिए अपनी-अपनी दृष्टि से समाधान प्रस्तुत करते हैं। 'वँ' के दोनों रूप, 'ब्र' और 'व्रा' में 'र' और 'आ' की मात्रा, 'स्रा' के दोनों रूपों में 'र' और 'आ' की मात्रा के संयोजन में अन्तर लिपि में चल रहे स्पष्टता के संघर्ष को

चित्र ५:१९

संकेतित करते हैं। 'र' का संकेत सिंधु-काल से ही भारतीय लिपियों में कठिनाइयाँ उत्पन्न करता आ रहा है, किन्तु अन्य व्यंजन-संकेतों के साथ मात्राएँ संयोजित करने में भी कठिनाइयाँ रही हैं ।

यदि व्यंजनों के साथ मात्राएँ वैज्ञानिक ढंग से संयोजित करनी हों तो निम्न-लिखित स्थितियाँ उत्पन्न करना आवश्यक है—

(१) सभी मात्राएँ व्यंजन के साथ किसी एक निश्चित स्थान पर लगें,

(२) सभी व्यंजन संकेतों में वह स्थान समान आकृति का हो और

(३) सभी मात्राएँ एक ही दिशा को लगें। यदि लिपि बायें से दाहिने को

लिखी जाती है तो सब मात्राएँ व्यंजन के **संयुज्य-बिन्दु** से दाहिने को लगें और लिपि दाहिने से बाएँ को लिखी जाती हो तो मात्राएँ संयुज्य-बिंदु से बाएँ को लगें।

ब्राह्मी-व्यंजन-संकेतों को ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि उसके 'क', 'न', 'स' जैसे कुछ संकेतों का एक सिरा बिल्कुल सीधा खड़ा है, अत: उनमें 'आ', 'इ', 'ई', 'ए', 'ऐ', 'ओ' और 'औ' की मात्राएँ लगाना सरल है; 'ग' और 'ष' जैसे संकेतों की नुकीली चोटी भी कठिनता का कारण नहीं बनती; किन्तु 'थ', 'ठ' जैसे गोल व्यंजनों पर 'आ' 'इ' इत्यादि की मात्राओं का थोड़ा-बहुत खिसक जाना स्वाभाविक है। ऐसे कुछ अक्षर अशोक के लेखों में प्राप्त हुए हैं, जिनमें मात्रा अपने स्थान से खिसकी हुई है। यहाँ चित्र ५:२० में दिखाए गए इन अक्षरों में 'आ' की मात्रा का स्थान-भ्रष्ट प्रयोग देखा जा सकता है। 'ठा' में मात्रा 'उ' और 'आ' के मध्य पहुँच
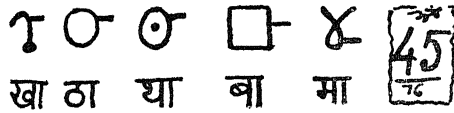
चित्र ५:२०

गई है, तो 'मा' में वह 'आ' के स्थान से दूर और 'उ' के स्थान के निकट है। 'ङ', 'ज', 'ट' और 'ण' में तो उस स्थान पर पहले ही रेखा विद्यमान है, जहाँ 'आ' और 'उ' की मात्राएँ लगाना है। 'ञ' में 'ए' की मात्रा का स्थान घिरा हुआ है। ऐसी अवस्थाओं में लिपिकों को सामान्य नियमों से हटकर नए प्रयोग करने पड़े हैं। यहाँ
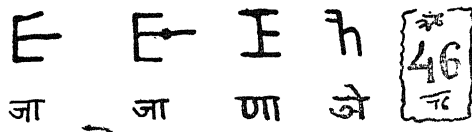
चित्र ५:२१

चित्र ५:२१ में गिरनार और दिल्ली के अशोक के शिलालेखों से लिए गए ऐसे कुछ विशेष प्रयोग दिखाए गए हैं, जिनसे स्पष्ट है कि तत्कालीन लिपिक मूल नियम की भावना को अपनाते हुए भी अधिक स्पष्टता के लिए प्रयत्नशील है। चित्र के चारों अक्षरों में मात्राएँ अपने मूल स्थान से हटकर प्रयुक्त हुई हैं। संकेत २ में तो 'जा' लिखते समय एक अतिरिक्त बिन्दु के प्रयोग से 'ज' और 'आ' की मात्रा को पृथक् किया गया है।

गोल पेंदे वाले (ट, ठ, ढ, थ, प, फ, म, य, ल, व, ष, स और ह) ब्राह्मी-व्यंजनों और 'ङ', 'ज', 'न' जैसे पड़ी रेखा पर खड़े व्यंजनों के साथ 'उ' और 'ऊ' की मात्राएँ लगाने में कठिनाई आती है, अत: तत्कालीन लिपिकों ने ऐसे व्यंजनों के साथ नीचे

लटकी रेखा या कुछ नीचे को झुकी रेखा का प्रयोग 'उ' की मात्रा के रूप में किया
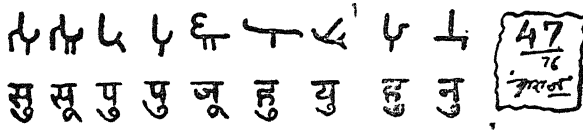
चित्र ५:२२

है। इससे मात्रा अधिक स्पष्ट हो गई है। तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के शिखालेखों में प्राप्त ऐसे कुछ अक्षर यहाँ चित्र ५:२२ में दिखाए गए हैं।

इन कठिनाइयों के समाधान के रूप में 'इ', 'ई', 'उ' और 'ऊ' की मात्राओं के दूसरे विकल्प पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। चित्र ५:२३ में इन चारों स्वरों के

इ-१
इ-२
ई-१
ई-२
उ-१
उ-२
ऊ-१
ऊ-२
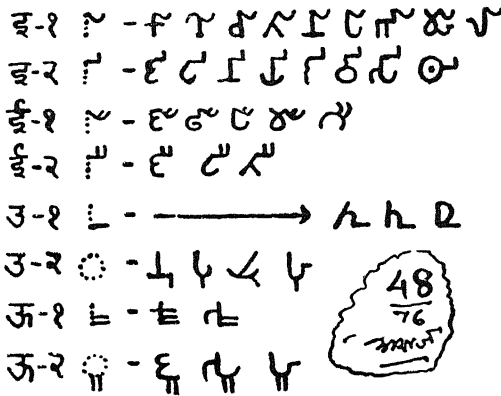
चित्र ५:२३

मात्रा-रूप में दोनों प्रकार के प्रयोग दिखाए गए हैं। 'उ' और 'ऊ' के दूसरे मात्रा-रूपों के लिए व्यंजन का स्थान वृत्त द्वारा दिखाया गया है, ताकि उनके प्रयोग को अधिक स्पष्टता से देखा जा सके। उदाहरण गिरनार, खालसी और दिल्ली के शिलालेखों से चुने गए हैं।

इन अक्षरों से 'इ' वर्ग तथा 'उ' वर्ग की मात्राओं के विषय में निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

इ, ई

सामान्यत: इनके मात्रा रूप चंद्राकार गोलाई लिए हुए होते हैं। वे इतने झुकाकर लिखे जाते हैं कि पंक्ति से बाहर न निकलें। इनके विकल्प के रूप में समकोण बनाती हुई मात्राओं का भी प्रयोग होता है जिनका उठा हुआ भाग पंक्ति से बाहर निकल जाता है।

ऋ, ऊ

सामान्यतः इनकी मात्राएँ दाहिने को बढ़ती हैं और पंक्ति के अन्दर ही रहती हैं किन्तु विकल्प के रूप में ये नीचे को लटक जाती हैं। लटकी हुई मात्राएँ पंक्ति से बाहर निकल जाती हैं।

५:४:३:३ : **संयुक्त व्यंजनों के प्रयोग में कठिनाई :** ब्राह्मी में स्वररहित व्यंजन को अकेले लिखने की व्यवस्था का अभाव है, इस कारण से लिपिक को कई स्थानों पर कठिनता अनुभव होती है। उसने जो-जो समाधान प्रस्तुत किए, वे द्रष्टव्य

क्र त्र त्र प्त द्व द्व ध्र प्र ब्र ब्र म्य

म्ह र्व र्व व्य स्र स्ट स्त ह्म स्व व्य ष्व

= धंम = धम्म

चित्र ५:२४

हैं 'धम्म' को 'धंम' लिखकर 'म' के संयोग से बचने का प्रयत्न हुआ है (चित्र ५:२४) किन्तु ऐसा सर्वत्र सम्भव नहीं था। पालि में संयुक्त व्यंजनों का पर्याप्त प्रयोग होता है। उनके लेखन के लिए ब्राह्मी के सामान्य नियम निम्नलिखित हैं—

(१) जब दो व्यंजन संयुक्त हों, तब पहले उच्चरित होने वाले व्यंजन को ऊपर लिखा जाए और बाद में उच्चरित होने वाले व्यंजन को नीचे जोड़कर लिखा जाए। (जैसे चित्र ५:२४ में 'प्त', 'द्व' या 'स्त')

(२) दोनों संयुज्य व्यंजनों के आकार इतने छोटे कर दिए जाएँ कि दोनों मिलकर पंक्ति के अन्य अक्षरों के समान ऊँचाई के रहें, पंक्ति से बाहर न जाएँ। (जैसे चित्र ५:२४ के 'ह्म', 'स्व', 'व्य' इत्यादि)

इन सामान्य नियमों का बहुधा पालन हुआ है, तो भी कई स्थानों पर इनका उल्लंघन भी हुआ है। चित्र ५:२४ में दिखाए गए संयुक्त व्यंजन गिरनार के शिलालेखों से चुने गए हैं और उनका उच्चारण वह दिखाया गया है जो प्रसंगानुसार लिपिक को अभिप्रेत था। उनसे स्पष्ट है कि 'र' के प्रयोग में अनियमितता प्रायः हो जाती है, शेष प्रयोग लगभग नियमित हैं। 'क्र', 'ध्र' और 'ब्र' में 'र' का रूप नितांत विलक्षण है, 'प्र' और 'स्र' में भी क्रम बदल गया है। 'व्य' में एक लिपिक अनियमित रूप का प्रयोग कर गया है, जबकि दूसरा लिपिक शुद्ध रूप बनाता है। ब्राह्मी के संयुक्त व्यंजन बनाते समय निम्नलिखित दो कारणों से कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं—

(१) **समान अंश का अभाव :** ब्राह्मी के व्यंजनों की आकृतियों में कोई ऐसा समान अंश नहीं है जो उन्हें सभी संयोजनों में एक-सा व्यवहार करने के योग्य बनाए

रखे, पड़ी रेखा किसी के शीर्ष पर है तो किसी के तल पर; किसी का शीर्ष नुकीला है, किसी का गोल; किसी का तल खोखला या विभाजित है, किसी का चपटा। अतः सभी व्यंजनों को दूसरे किसी व्यंजन के नीचे एक ही प्रकार से जोड़कर एक ही संयुक्त आकृति बनाना और स्पष्ट और नियमित अक्षर भी बनाना सर्वदा संभव नहीं है।
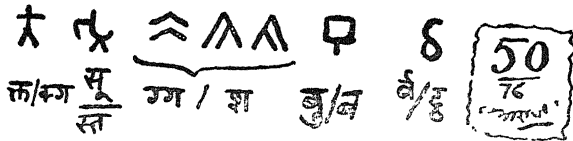
चित्र ५:२५

चित्र ५:२५ के 'ग्+ग' के प्रथम रूप में स्पष्टता है किंतु वह एक अक्षर नहीं हो सका, जबकि ब्राह्मी हमेशा संयुक्त व्यंजन को एक अक्षर बनाकर लिखती है। इसके अन्य दोनों संभावित रूप 'श' बन जाते हैं। पालि के 'अग्गि' या 'अग्गिनि' शब्दों को जाने कैसे लिखा जाता होगा ? ऐसे अक्षरों में भ्रम रह जाना स्वाभाविक है।

(२) **अति-सरलता :** ब्राह्मी के संकेत इतने सरल हो गए हैं कि उनके संयोजन से एक वर्ण में दूसरे का भ्रम हो जाता है। चित्र ५:२५ के संकेतों के नीचे उनके संभव भिन्न-भिन्न उच्चारण दिखाए गए हैं। 'सू' और 'स्त' के लिए एक ही संकेत शिलालेखों में विद्यमान है।

५:५ सरल ब्राह्मी की उपलब्धियाँ : सिंधु-लिपि के लगभग ३५०० ई० पू० के और सरल ब्राह्मी के ५०० ई० पू० के आसपास के स्वरूपों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि इस लगभग तीन हज़ार वर्षों के काल में भारतीय लिपि-चिंतकों ने लिपि के विकास में अद्‌भुत सफलताएँ प्राप्त की हैं। इनकी इस काल की प्रमुख उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) **रेखा का आधार :** जहाँ सिंधु-लिपि में वर्ण-संकेत किसी वस्तु अथवा भाव का चित्र होने के कारण जटिल था, वहाँ ब्राह्मी में वह मात्र 'रेखा' है जो ध्वनि का प्रतीक है, अतः ब्राह्मी तक पहुँचते-पहुँचते संकेत की आकृति का आधार सरलतर हो गया है। उदाहरणार्थ, सिंधु-लिपि का 'क' मनुष्य का चित्र था चाहे वह पूरा चित्र हो अथवा कंकाल-मात्र। इसके विपरीत ब्राह्मी का 'क' दो रेखाओं से बना है, वह 'मनुष्य' से संबंधित नहीं है। यही कारण है कि ब्राह्मी के संकेत इतने सरल हो सके हैं।

(२) **आधार-संकेतों में प्रायः एक-रूपता :** सिंधु-लिपि में एक ही ध्वनि के लिए भिन्न-भिन्न लिपिक भिन्न-भिन्न संकेत प्रयुक्त करते थे, किंतु ब्राह्मी में प्रत्येक ध्वनि के लिए मूलतः एक ही संकेत निश्चित है। स्थानीय भेद को अनेकरूपता नहीं मानना चाहिए, क्योंकि सिद्धांततः प्रत्येक लिपिक को स्वीकृत संकेताकृति का ही प्रयोग करना चाहिए। स्वरों के दो-दो रूपों को भी अनेक-रूपता नहीं मानना चाहिए, क्योंकि स्वरों के मूल-रूप एक-एक ही हैं और मात्रा-रूप भी एक-एक। मूल रूप और मात्रा-

रूप की भिन्नता का सैद्धांतिक आधार है । इ, ई, उ और ऊ की मात्राओं के प्रयोग की थोड़ी भिन्नता और 'र' के प्रयोग की विषमता के कारण एकरूपता के साथ 'प्रायः' विशेषण जोड़ा गया है ।

(३) **स्वरों के दो रूपों का निश्चित सिद्धांत :** सिंधु-लिपि में स्वरों के मूल रूप ही कभी मात्रा-रूप भी हो जाते थे और कभी मात्रा-रूप मूल-रूप के लिए भी प्रयुक्त हो जाते थे, किंतु ब्राह्मी में इनका प्रयोग निश्चित सिद्धांतों के अनुसार होने लगा ।

(४) **निश्चित नियमों के अनुसार संयोजित लेखन :** यद्यपि संयोजन की प्रक्रिया सिंधु-काल से प्रारम्भ हो गई थी, किंतु तब वह बहुत अनियमित थी । ब्राह्मी में संयोजन के नियम इतने स्थिर हो गए कि उनमें से अनेक नियम ज्यों-के-त्यों आज की भारतीय लिपियों में विद्यमान हैं । इसे ब्राह्मी की सबसे बड़ी उपलब्धि कहा जा सकता है ।

(५) **अंतर्भूत 'अ'-सहित व्यंजन ही आधार-संकेत :** इसे गुण कहा जाए या दोष, यह पृथक् प्रश्न है । यह तथ्य है कि सिंधु-लिपि में भी अ-सहित व्यंजन ही आधार-संकेत था ।[४२] इसके पीछे यह वैज्ञानिकता तो अवश्य थी कि व्यंजन को उच्चारण के लिए स्वर का आश्रय लेना पड़ता है, किंतु इसके परिणामस्वरूप अतिरिक्त 'अ' लिखे जाने का दोष रूढ़ हो गया । ब्राह्मी में यह विशेषता स्वीकृत रूप में विद्यमान है, क्योंकि स्वर रहित व्यंजन को संयुक्त करने के लिए पृथक् शैली अपनाई जाती है । कालांतर में ब्राह्मी की इस विशेषता ने सभी भारतीय लिपियों में ऐसी जटिलता उत्पन्न की कि उससे मुक्त होने के प्रयत्न अब तक चल रहे हैं । यही अंतर्भूत 'अ' वाले व्यंजन-संकेतों की विशेषता भारतीय वर्ग की लिपियों को संसार की लिपियों से भिन्न सिद्ध करती हैं । संसार के अन्य किसी लिपि वर्ग में यह विशेषता नहीं है ।

(६) **संयुक्त-व्यंजनाक्षर बनाने की युक्ति का संधान :** व्यंजनों को ऊपर-नीचे लिखने की विधि से भारतीय भाषाओं की संयुक्त व्यंजन लिखने की आवश्यकता की पूर्ति का समर्थ मार्ग अवश्य मिल गया, यद्यपि उसमें कुछ कठिनाई शेष थी जिसके लिए बाद के चिंतकों को उपाय ढूँढ़ने पड़े ।

(७) **अक्षरों की समान ऊँचाई :** प्रत्येक अक्षर-संकेत, भले ही उसमें एकाधिक वर्णों को संयोजित किया गया हो, समान ऊँचाई का रहे, यह ब्राह्मी का मूल सिद्धांत है । किसी-किसी लिपिक का ग, थ, ठ—जैसे संकेत को छोटा लिख जाना या संयुक्त व्यंजन में स्पष्टता लाने के लिए उसे छोटे आकारों का न लिखकर कुछ बड़ा लिख जाना स्थानीय भेद ही हैं । सामान्य प्रवृत्ति सब अक्षरों की ऊँचाई समान रखने की ही है ।

(८) **निरन्तर लिपि-चिंतन :** स्थानीय भेद इस महत्वपूर्ण तथ्य का संकेत देते हैं कि तत्कालीन विद्वान् लिपि-चिंतन की ओर से उदासीन नहीं थे, अपितु लिपि के

विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि सरल-ब्राह्मी के बाद भी लिपि का विकास होता रहा।

५:६ : शिरोमय ब्राह्मी : शिरोमय ब्राह्मी से तात्पर्य उस ब्राह्मी से है, जिसमें संकेत के शीर्ष पर कीलाक्षर-सी मोटाई बना दी गई है अथवा शीर्ष के साथ छोटी-सी

चित्र ५:२६

शिरोरेखा जोड़ दी गई है। चित्र ५:२६ में कुछ ब्राह्मी-संकेत तुलनात्मक रूप से दिखाए गए हैं। पहली पंक्ति में नागरी-संकेत हैं। दूसरी पंक्ति में उसी ध्वनि के लिए सरल ब्राह्मी का संकेत नागरी-संकेत के नीचे दिखाया गया है। तीसरी पंक्ति हाथी-गुंफा के शिरोमय ब्राह्मी के संकेतों की है।[४३] दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व के ये रूप तत्कालीन लिपिकों के इस चिंतन को प्रदर्शित करते हैं कि संकेत की ऊँचाई को स्पष्टतः अंकित किया जाना चाहिए। इसीलिए शीर्षबिंदु पर कील जैसा तिकोना मोटा निशान बना दिया गया है। शीर्ष की यही मोटाई सरलता अपनाने के लिए भट्टिप्रोलु के स्तूप के दस लेखों[४४] में छोटी-सी शिरोरेखा बन गई है। चित्र ५:२६ की चौथी पंक्ति में ये संकेत ही दिखाए गए हैं। सरल-ब्राह्मी में यही संकेत 'ता', 'दा', 'ना' इत्यादि के बोधक होते हैं किन्तु भट्टि-प्रोलु का लिपिक इस शीर्ष को अंतर्भूत 'अ' के रूप में ग्रहण करता है और इनसे 'त', 'द', 'न' इत्यादि की अभिव्यक्ति ग्रहण करता है। जब वह 'अ' से भिन्न स्वर को व्यंजन के साथ संयोजित करता है, तब वह इस अंतर्भूत

चित्र ५:२७

'अ' को नहीं लिखता।[४५] चित्र ५:२७ में दिखाए गए अक्षर भट्टिप्रोलु की इस प्रवृत्ति के स्पष्ट प्रमाण हैं। इस लिपि में सरल ब्राह्मी के आधार-संकेतों की आकृतियों में भी कुछ परिवर्तन किए गए हैं। चित्र ५:२८ में क्रमशः नागरी, सरल ब्राह्मी और भट्टि-

प्रोलु की शिरोमय ब्राह्मी के विशेष उल्लेखनीय परिवर्तन तुलनार्थ दिए गए हैं। द्रष्टव्य है कि 'भट्टिप्रोलु' में 'द', 'ध' और 'ष' की दिशा दाहिने-बाएँ को परिवर्तित की गई

नागरी घ द ध भ म ल ळ ष ज जू जे जं

स० ब्रा०

भ० प्रो०
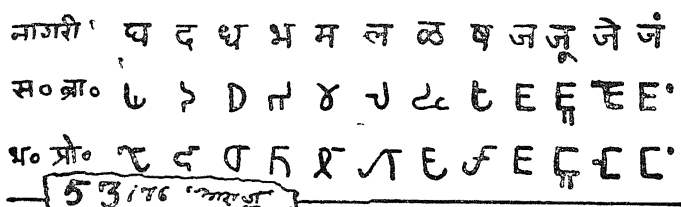
चित्र ५:२८

है और 'म' की ऊपर-नीचे को। सरल ब्राह्मी में 'ळ' का रूप अप्राप्त होने के कारण हमें उसके संभावित रूप की कल्पना करनी पड़ी (देखिए चित्र ५:८ और चित्र ५:११)। भट्टिप्रोलु के लेखों में प्राप्त 'ष' से उलटकर बना 'ळ' का संकेत भी चित्र ५:८ के अनुमान २ की पुष्टि करता है, अतः भट्टिप्रोलु का 'ळ' उलटा हुआ नहीं है, 'ष' का संकेत ही उलटा गया है। भट्टिप्रोलु के 'घ', 'भ' और 'ल' की आकृतियों में पर्याप्त अन्तर आ गया है। भट्टि-प्रोलु के 'ज' की मध्यरेखा को अंतर्भूत 'अ' माना गया है, इसीलिए 'जू', 'जे' और 'जं' लिखते समय अंतर्भूत-अ नहीं लिखा गया। 'अ' **से भिन्न स्वर को व्यंजन में संयोजित करते समय अतिरिक्त-'अ' लिखने से बचने का यह प्रयास उस समय के भारतीय चिंतन के लिए इतना उन्नत चिंतन था कि वह ग्राह्य न हो सका।**

५:७ : हाथीगुंफा की शिरोमय ब्राह्मी का महत्व : हाथीगुंफा की शिरोमय ब्राह्मी (कील से तिकोने सिर वाली ब्राह्मी) की संकेताकृतियों में विशेष अंतर नहीं आया। उसके अक्षरों पर कील-जैसे 'शिर' के कारण ही उसका भिन्न अस्तित्व है।

लिपि-विकास में इस सिर बनाने की प्रवृत्ति का प्रभाव निम्नलिखित रूप से हुआ है—

(१) कील-जैसे सिर के कारण ब्राह्मी की उत्तरी शाखा को पृथक् दिशा प्राप्त हुई, जिससे कालांतर में अनेक लिपियों का उद्भव संभव हुआ।

(२) मोटा सिर इस भावना को जन्म दे गया कि इस लिपि के अक्षर सिर से प्रारम्भ होते हैं और नीचे को लटके रहते हैं। नागरी-आदि उत्तर-भारतीय लिपियों का रेखा से लटका कर लिखे जाने का सूत्रपात यहीं से हुआ।

(३) पंक्ति की ऊँचाई को समतल बनाए रखने का यह बहुत बड़ा साधन था। बाद में मथुरा के जैन लेखों में 'इ', 'र' इत्यादि का पंक्ति से बाहर ऊपर-नीचे बढ़ जाना इस 'सिर' के कारण स्पष्ट दीखने लगा, जिससे तीन-तली ब्राह्मी का विकास हुआ।

५:८ : भट्टिप्रोलु की शिरोमय ब्राह्मी का महत्त्व : 'भट्टिप्रोलु' को ब्राह्मी की दाक्षिणात्य शैली का जन्मदाता तो माना ही जाता है,[४६] किन्तु वह उत्तरी शाखा के लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। भट्टिप्रोलु शैली के अन्य लेख बहुत काल तक कहीं अन्यत्र प्राप्त न होने से ही इस शैली की उपेक्षा उचित नहीं है। इस शैली के कुछ ऐसे स्थायी प्रभाव उत्तरी शाखा पर पड़े हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि यह शैली न केवल पर्याप्त प्रचलित रही होगी, वरन् उस पर चिन्तन-मनन भी हुआ होगा।

इस शैली के विषय में निम्नलिखित तथ्य विशेषतः द्रष्टव्य हैं—

(१) भारतीय लिपि-विकास के इतिहास में पहली बार इस शैली ने व्यंजन के अन्तर्भूत-'अ' की सत्ता को स्पष्ट किया है। इस शैली में पहली बार अन्तर्भूत-'अ' 'दृश्य' हुआ, पहली बार ऐसी व्यवस्था हुई कि व्यंजन के आधार-संकेत में से अन्तर्भूत-'अ' हटाकर स्वर-रहित व्यंजन के साथ स्वरों के मात्रा-रूप का संयोजन किया जाए। इस प्रकार भट्टिप्रोलु-शैली भारतीय लेखन की वह प्रथम शैली है जिसमें 'अ'-भिन्न-स्वरों के संयोजन के समय अतिरिक्त 'अ' का दोष नहीं रहता।

(२) यद्यपि इस शैली में शिरोरेखा हटाकर अकेला (असंयोजित) स्वर-रहित व्यंजन लिखा नहीं गया, किन्तु ऐसा सम्भव हो गया था। इस शैली में इतनी क्षमता थी कि व्यंजनों को ऊपर-नीचे लिखे बिना स्वर-रहित व्यंजनों का शुद्ध प्रयोग किया जा सके। चित्र ५:२९ में दिखाए गए कुछ प्रयोगों से यह क्षमता आँकी जा

भगवान् तत्सम पण्य अह्नि

चित्र ५:२९

सकती है। ब्राह्मी की अन्य किसी शैली में यह क्षमता नहीं है।

(३) भट्टिप्रोलु-ब्राह्मी-शैली की अर्ध-शिरोरेखा इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसी से कालांतर में उड़िया की वृत्ताकार शिरोरेखा, असमिया और बंगला की अक्षरों की योजक शिरोरेखा तथा नागरी, शारदा और गुरुमुखी की पूर्ण एवं सरल शिरोरेखा का विकास हुआ। यद्यपि बीज रूप में हाथी-गुंफा की कीलाक्षरी मोटे सिर की प्रवृत्ति इससे पूर्व विद्यमान थी, किन्तु वह पत्थर या धातु पर खोदने के लिए ही प्रयुक्त हो सकती थी। लेखन में समान मोटाई की रेखाओं का आधार ही आदर्श रहता है। विशेष प्रकार की कलम से लिखने के कारण अक्षर मोटा-पतला हो सकता है। चित्र ५:३० की प्रथम पंक्ति में अंग्रेज़ी में 'गॉड' लिखते समय 'जी' की निब का, 'ईश्वर' लिखते समय 'हिन्दी की कलम' का और उर्दू में 'अल्लाह' लिखते समय 'उर्दू की कलम' का प्रयोग किया गया, जिससे इन अक्षरों में अपने-अपने विशिष्ट ढंग की मोटाइयाँ आ गई हैं। यह विशेष लेखन विशेष अवसरों पर ही अपनाया जाता है। जन-

साधारण जब उसे दैनिक प्रयोग के लिए लिखता है, तब वह सर्वत्र समान मोटाई की रेखाओं द्वारा ही लिखता है। चित्र ५:३० की दूसरी पंक्ति के अक्षर सामान्य लेखन
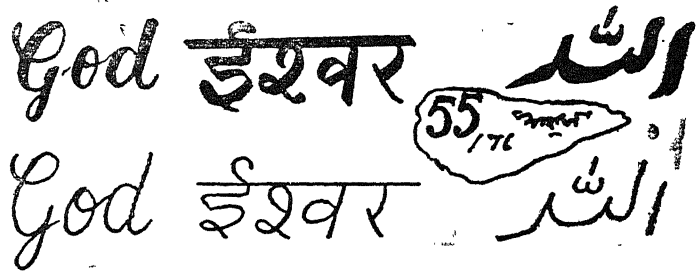
चित्र ५:३०

का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। भट्टिप्रोलु शैली में विकसित अर्ध-शिरोरेखा भी हाथी-गुंफा के कील-जैसे शिर को सरल रेखा में बदलने का ही परिणाम है। इस रेखीय शिरोरेखा के कारण शिरोरेखा का स्थायी अस्तित्व सम्भव हुआ।

(४) भट्टिप्रोलु की ब्राह्मी ही उत्तरी शाखा की 'आ' की मात्रा की जननी है। चित्र ५:३१ को देखने से यह और भी स्पष्ट हो जाता है। इस चित्र में भट्टिप्रोलु-लेखों

का जा ता दा मा रा 'आ' की मात्रा रा = ਰਾ नागरी गुरुमुखी
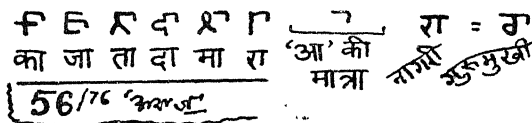
चित्र ५:३१

के 'का', 'जा', 'ता', 'दा', 'मा' और 'रा' से 'आ' का मात्रा-रूप स्पष्ट हो जाता है। इसी चित्र में तुलनार्थ नागरी और गुरुमुखी का 'रा' भी दिया गया है। गुरुमुखी की 'आ' की मात्रा तो स्पष्टतः भट्टिप्रोलु की ही मात्रा है, नागरी में उसका कुछ विकास अवश्य हुआ है, किन्तु आधार वहाँ भी भट्टिप्रोलु का ही है।

५:९ : तीन-तली ब्राह्मी : सिन्धु-घाटी के सभ्यता के काल से भारतीय लेखन की यह प्रवृत्ति चली आ रही थी कि अक्षरों की ऊँचाई प्रायः सर्वत्र समान रखने का प्रयत्न किया जाता था। जटिल संयोजनो में भी संयोजित संकेतों के आकार छोटे करके या उनके अनावश्यक अंग छोड़कर उन्हें अन्य अक्षरों जितना ऊँचा ही कर दिया जाता था। सरल ब्राह्मी में भी यह प्रवृत्ति न केवल बनी रही, वरन् संकेतों के सरल, रेखीय और गठित आकार के कारण यह और भी स्पष्ट हो गई। हाथीगुंफा की शिरोमय ब्राह्मी ने ऊँचाई के ऊपरी शीर्ष को मोटा दिखाकर इसे और अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न किया, किन्तु परिणाम इसके विपरीत निकला। इन कील-शिरों के ऊपर

निकलने वाली 'इ' और 'ई' की मात्राएँ विशेष प्रकार का सौन्दर्य उत्पन्न करने लगीं। 'र' जब 'प्र', 'त्र' इत्यादि अक्षरों में जोड़ा जाता, तब वह 'उ' की मात्रा का भ्रम उत्पन्न न करे, इसलिए उसे लहर देकर अधिक लटका दिया जाता। इस प्रकार ब्राह्मी की पंक्ति की सामान्य ऊँचाई से कुछ अक्षर ऊपर को निकलने लगे और कुछ नीचे को। प्रारम्भ में केवल 'इ' और 'ई' की मात्राएँ ऊपर निकली हुई और 'र' नीचे निकला हुआ दिखाई देता है। अतः ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में ब्राह्मी की पंक्ति के अक्षरों के तीन तल नाम-मात्र को दिखाई दे जाते हैं, जैसा कि चित्र ५:३२ के संकेतों से स्पष्ट है। उसमें प्रथम तीन संकेत भरहुत-स्तूप के, चौथा साँची का और अन्तिम
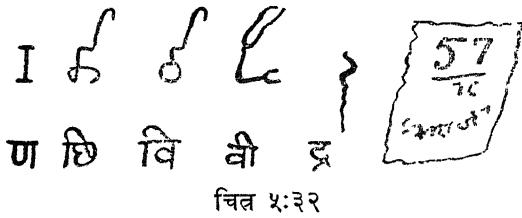
चित्र ५:३२

'द्र' बेसनगर का है। प्रथम 'ण' मध्य-तल की ऊँचाई दिखाता है। 'इ' और 'ई' की मात्राएँ ऊपरी तल दिखाती हैं। 'द्र' का 'र' नीचे के तल को दिखाता है। यह प्रवृत्ति उस काल में एक तो बहुत सीमित है, दूसरे स्पष्टता के लिए ही प्रयुक्त प्रतीत होती है, क्योंकि वह सर्वत्र विद्यमान नहीं है। ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में यह प्रवृत्ति कतिपय अन्य अक्षरों में भी दिखाई देने लगती है। चित्र ५:३३ में दिखाए गए मथुरा के ईसापूर्व पहली शताब्दी के अक्षरों में 'य' और 'स' भी संयोजित होने पर नीचे के
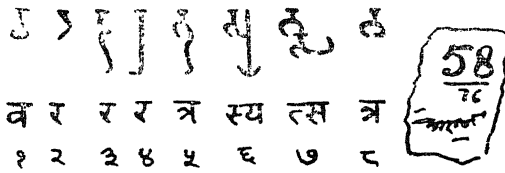
चित्र ५:३३

तल पर खिसक गए हैं। किन्तु इस काल में भी 'र' और 'त्र' के विविध रूप (संकेत— २, ३, ४ तथा ५, ८) यह प्रमाणित करते हैं कि तीन तलों में लेखन सिद्धान्त-रूप से स्वीकृति नहीं है, वरन् केवल सुविधा और स्पष्टता के लिए अपनाया गया है। ईसा की दूसरी शताब्दी तक इस प्रवृत्ति का पर्याप्त प्रचलन होने लगा है। तब 'अ', 'क' और 'र' को सौन्दर्य के लिए नीचे के तल तक लटकाकर लिखा जाने लगा है। 'इ' और 'ई' की मात्राएँ सर्वत्र ऊपरी तल पर ही लिखी जाने लगीं, कहीं-कहीं 'ऊ' की मात्रा भी नीचे के तल पर पहुँच गई। संयोजित 'र', 'य', 'म' इत्यादि व्यंजन अनिवार्यतः नीचे

के तल पर लिखे जाने लगे, जैसा चित्र ५:३४ के अक्षरों से स्पष्ट है। दूसरी शताब्दी ईस्वी तक संयुक्त व्यंजनों में उनके संकेतों के मूल आकार को छोटा करने की प्रवृत्ति लुप्तप्राय है, अतः इसके बाद की ब्राह्मी को तीन-तली ब्राह्मी कहा जाना चाहिए।

उ आ क र नी थि मू त्र ण्य र्य(र्य) ह्म (ह्म)

चित्र ५:३४

तीन-तली ब्राह्मी का सर्वोत्तम उदाहरण जगय्यपेट के तीसरी शताब्दी के आस-पास के लेखों में प्राप्त होता है जिसकी एक पंक्ति चित्र ५:३५ में दिखाई गई है। इस चित्र की प्रथम पंक्ति में जगय्यपेट का लेख है, द्वितीय पंक्ति में उसका नागरी-**लिप्यंतरण** तथा तृतीय पंक्ति में सरल ब्राह्मी में लिप्यंतरण है। स्पष्ट है कि जगय्यपेट

२. नाकचंदस पूतो गामे महाकांडूरूरे आवेसनि

चित्र ५:३५

के लेख में शिरोमय ब्राह्मी के हाथीगुंफा-लेख का गुण भी विद्यमान है और ब्राह्मी के तीन तल के लेखन को भी इसमें स्पष्ट देखा जा सकता है।

५:६:१ : **तीन-तली ब्राह्मी की विशेषताएँ** : एक-तली ब्राह्मी (जिसे सरल ब्राह्मी के नाम से विवेचित किया गया है) और तीन-तली ब्राह्मी के अन्तर को चित्र ५:३६ के आधार पर देखा जा सकता है। इस चित्र में '×' किन्हीं व्यंजनादि मूल-संकेतों के द्योतक हैं और '।' या '.' (पाई या बिन्दु) मात्रा इत्यादि विकृत-संकेतों के। चित्र की पंक्ति (क) सरल ब्राह्मी के अक्षरों द्वारा घेरा जाने वाला स्थान दिखाती है और पंक्ति (ख) तीन-तली ब्राह्मी के अक्षरों का स्थान दिखाती है।

दोनों पंक्तियों की तुलना से सरल ब्राह्मी और तीन-तली ब्राह्मी का अन्तर निम्नलिखित रूप से स्पष्ट होता है—
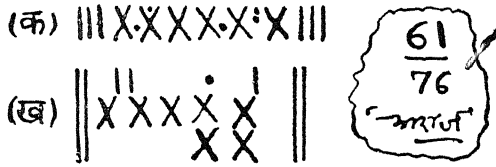
चित्र ५:३६

(१) सरल ब्राह्मी कम स्थान घेरती है, क्योंकि उसकी पंक्तियों में अन्तर कम रहता है। इसके विपरीत तीन-तली ब्राह्मी की पंक्तियों की ऊँचाई तीन-गुनी हो जाने के कारण उसी स्थान पर कम पंक्तियाँ लिखी जा सकती हैं। यद्यपि एक-तली ब्राह्मी में शब्द दाएँ-बाएँ अधिक फैला हो सकता है, या महसूस हो सकता है, किन्तु दाहिने-बाएँ का वह फैलाव नेत्रों की गति के अनुकूल होने के कारण अधिक सुविधा-जनक भी है और तीन-तली ब्राह्मी की भाँति पूरे दो तलों के स्थान को व्यर्थ कर देने जितना बड़ा अपव्यय भी नहीं है। अतः तीन-तली ब्राह्मी अधिक स्थान घेरती है।

(२) सरल ब्राह्मी में एक तल में ही विकृत-संकेतों को समेटने के प्रयत्न के कारण अक्षर दुरूह, अस्पष्ट और भ्रामक हो सकते हैं (चित्र ५:३५, पंक्ति ३ के 'ना' और 'नि' की समता और 'रू' का 'ऊ' हो जाना इसके स्पष्ट उदाहरण हैं), संयुक्त व्यंजनों के आकार छोटे हो जाने से उनके पठन में भ्रम हो सकता है; इसके विपरीत तीन-तली ब्राह्मी के प्रत्येक संकेत का स्वरूप प्रत्येक दशा में पूरे आकार का रहता है, अतः कभी अस्पष्ट नहीं होता (चित्र ५:३३ के 'स्य' और 'त्स' तथा चित्र ५:३४ के 'ण्य', 'र्य' और 'ह्म' द्रष्टव्य हैं) तथा मात्राओं के ऊपर-नीचे होने के कारण उनमें भ्रम या संदेह होने की आशंका नहीं रहती (तुलनार्थ चित्र ५:३५ की दोनों ब्राह्मियों के 'ना' और 'नि' की स्थिति द्रष्टव्य है, जिससे सिद्ध हो जाता है कि तीन-तली ब्राह्मी की मात्राएँ अधिक स्पष्ट हैं)।

(३) यदि अन्य बातें समान हों तो भी एक-तली ब्राह्मी में अधिक गठन होगा, बिखराव कम होगा, रेखाएँ अधिक घनी और अधिक उलझी हुई महसूस होंगी,
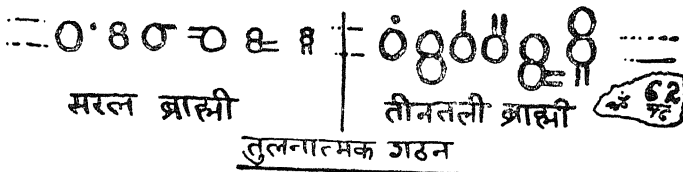
चित्र ५:३७

जबकि तीन-तली ब्राह्मी में बिखराव अधिक और गठन कम होगा। चित्र ५:३७ में व्यंजनों के सस्वर एवं संयुक्त प्रयोगों को दोनों प्रकार की ब्राह्मी में दिखाया गया है। तुलना से सरल ब्राह्मी का गठन और तीन-तली का बिखराव स्पष्ट देखा जा सकता है। ग्राफ़ पर लिखे लेखों से भी यही परिणाम प्राप्त होता है।

(४) तीन-तली ब्राह्मी में अनुस्वार ऊपरी तल पर पहुँच गया है (चित्र ५:३५ में 'चं' और 'कां' द्रष्टव्य हैं) और 'ए-ऐ' ऊपरी तल में तथा 'उ-ऊ' नीचे के तल में भी खिसकने लगे हैं (देखिए चित्र ५:३५ के 'वे, मे' तथा 'पू-रू')।

५:९:२ : तीन-तली ब्राह्मी का ऐतिहासिक महत्त्व : तीन-तली ब्राह्मी की कुछ विशेषताएँ ऐतिहासिक महत्त्व की हैं, क्योंकि इसके बाद होने वाले लिपि-विकास में इनका योगदान रहा है। ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **तीन-तले लेखन की प्रवृत्ति** : आज तक की ब्राह्मी मूल की सभी लिपियों में तीन-तला लेखन चला आ रहा है और उनमें तीन-तले लेखन के गुण-अवगुण लगभग इसी ब्राह्मी की भांति विद्यमान हैं।

(२) **अनुस्वार का स्थान** : अनुस्वार का स्थान पंक्ति के बाहर ऊपरी स्थान पर इसी काल में निश्चित हुआ जो आज तक चला आ रहा है।

(३) **पंक्ति से निकले छः स्वर** : इ, ई, ए, ऐ की मात्राएँ निश्चित रूप से पंक्ति से बाहर ऊपर के तल पर लिखी जाने लगीं, जिसका प्रभाव बाद के विकास पर पड़ा। उ, ऊ की मात्राएँ निश्चित रूप से पंक्ति से बाहर नीचे के तल पर लिखी जाने लगीं और तब से आज तक वे मात्राएँ नीचे के तल पर लिखी जाती हैं।

(४) **रेफ का स्थान** : इसी काल से रेफ़ (र्) को पंक्ति से बाहर ऊपर के तल में लिखना प्रारम्भ हुआ जो आज तक चला आ रहा है। अब वह और भी अधिक जटिल हो गया है।

(५) **संयोजित द्वितीय व्यंजन** : स्वर-रहित व्यंजन के पश्चात् उच्चरित व्यंजन को पहले व्यंजन के नीचे लिखकर एक ही अक्षर बनाने का नियम तीन-तली ब्राह्मी तक स्थिर हो गया। ऐसे संयुक्त अक्षरों ने बाद के अनेक विकृत संयुक्त व्यंजनों की नींव डाली। इनका प्रभाव न केवल लिपि के क्षेत्र में वरन् भाषा के क्षेत्र में भी महसूस किया गया।

५:१० : ब्राह्मी का ऐतिहासिक महत्त्व : ब्राह्मी लिपि का भारतीय लिपियों के इतिहास में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ सरल ब्राह्मी ने भावी भारतीय लिपियों को ध्वनिग्रामीय संयोजित लेखन का दृढ़ आधार दिया, वहाँ शिरोमय ब्राह्मी ने उन्हें शिरोरेखा का आधार दिया और तीन-तली ब्राह्मी ने तीन तलों में लेखन द्वारा बिखराव के होते हुए भी अधिक स्पष्ट और सुन्दर लेखन का मार्ग प्रशस्त किया। ब्राह्मी ने बीज रूप में आज की भारतीय लिपियों के गुण और अवगुण प्रस्तुत कर दिये। सच तो यह है कि आधुनिक भारतीय लिपियों के सैद्धान्तिक पक्ष का बहुत-कुछ

स्थिर स्वरूप ब्राह्मी-काल (५०० ईसापूर्व से सन् ३५० ईस्वी) तक स्पष्ट हो गया था। इसके पश्चात् भारतीय लिपियों में संकेताकृतियाँ तो देश-काल-भेद से अनेक प्रकार से विकसित हुई हैं किन्तु लिपि के सिद्धान्तों में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। ब्राह्मी-काल के लिपि-सिद्धांत ही बहुत कम अन्तर के साथ आज तक भारतीय लिपियों में चले आ रहे हैं।

यह काल इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस काल में लिपि का निरन्तर विकास होता रहा जो लिपि-विज्ञान-विषयक स्वस्थ चिन्तन का द्योतक है। संसार के अन्य क्षेत्रों के तत्कालीन लेखन की तुलना में ब्राह्मी सर्वोत्कृष्ट लिपि तो थी ही, आज की संसार भर भी लिपियों में भी गुणावगुण की तुला पर ब्राह्मी बहुत गुरु सिद्ध होती है। आज की अनेक भारतीय लिपियों का महत्त्व ब्राह्मी के दृढ़ सैद्धांतिक आधार पर खड़ा है, अतः भारतीय लिपिवर्ग अपनी उत्कृष्टता, वैज्ञानिकता, स्पष्टता इत्यादि के लिए ब्राह्मी का और उसके विकास के लिए निरन्तर चिन्तन तथा श्रम करने वाले लिपिकों का ऋणी है।

---

१. भा० प्रा० लि०, पृ० ३
२. वही, पृ० ३
३. इं० पे० (रा०), पृ० १
४. ज० रा० ए०, १८९८, पृ० ३८९
५. भा० प्रा० लि०, पृ० ३
६. इं० पे० (रा०), पृ० १
७. भा० प्रा० लि०, पृ० ३
८. इं० पे० (रा०), पृ० १
९. हि० इं० (ग्रा०), पृ० ६१
१०. इं० ऐं० (जे०), २, पृ० ४०
११. भा० प्रा० लि०, पृ० ३
१२. वही, पृ० २० की पाद टिप्पणी
१३. ऐं० (डि०), पृ० ३५८
१४. भा० प्रा० लि०, पृ० ६९, ७०
१५. भा० पु० शा०, पृ० १०६ तथा उसी का फलक ४, स्तं० २३, इं० ऐं०, १५, पृ० १४०
१६. ए० रि०, जि० १, पृ० १३१
१७. वही, जि० १, पृ० ३७९-८२
१८. वही, जि० २, पृ० १६७
१९. ट्रा० रा० ए० सो०, जि० २, पृ० २६४ . . . ६९
२०. ज० ए० सो० बं०, जि० ३, पृ० ११८
२१. वही, जि० ६, पृ० १
२२. वही, जि० ४, पृ० ४७७
२३. वही जि० ३, पृ० ४८५
२४. भा० प्रा० लि०, पृ० ४०

२५. ज० ए० सो० बं०, जि० ६, पृ० २१८, ४५५, वही, जि० ७ के कई पृष्ठ तथा अन्यत्र कई स्थानों पर।
२६. इं० ऐ० (जे०), भाग २, पृ० १०
२७. वही, भाग २, पृ० ३६
२८. इं० ऐ० (जे०), पृ० ४० के सामने की दो प्लेटों से।
२९. पा० व्या० (ध०), पृ० १ (इस प्रबन्ध के अनुसार कहना चाहिए '४१ ध्वनिग्राम')
३०. इं० ऐ० (जे०), भाग २, पृ० ५२ के सामने की प्लेट।
३१. वही, भाव २, पृ० ५२ के सामने की प्लेटों के आधार पर।
३२. अ० (पा०), ८।४।५८, अनुस्वारस्य ययि पर-सवर्णः।
३३. इं० ऐ० (जे०), भाग २, पृ० ४० के सामने की दो प्लेटों से।
३४. भा० प्रा० लि०, पृ० ५१ (पाद-टिप्पणी १०)
३५. वही, पृ० ४८
३६. मथुरा लेख के संकेत भा० प्रा० लि० के लिपिपत्र ६ से और अशोक-लेख के संकेत उसी के लिपिपत्र १ से लिए गए हैं।
३७. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र २
३८. इं० ऐ० (जे०), भाग २, पृ० ४० के सम्मुख प्लेट २
३९. भा० प्रा० लि०, पृ० ४६
४०. वही, प्लेट ३
४१. चित्र ५:१७ के सभी संकेत अशोक के लेखों से लिए गए हैं।
४२. जाह्नवी, मई १९७३, पृ० १२१
४३. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र ३
४४. वही, लिपिपत्र ४
४५. वही, पृ० ५२
४६. भा० प्रा० लि०, पृ० ५२

६ ब्राह्मी की शाखाएँ

६:१ : **पूर्व-प्राप्त विवेचन** : जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, लिपियों का परिवर्तन धीरे-धीरे अलक्षित रूप से होता रहता है। जब लिपि का यह परिवर्तन लिपि के पुराने रूप को इतने भिन्न रूप में ला देता है कि उसे भिन्न-लिपि समझा जाने लगे, तब उस परिवर्तन को स्पष्टतः दिखाया और विवेचित किया जा सकता है। इसी आधार पर भारतीय लिपियों के परिवर्तन निश्चित करते हुए अनेक पुरा-लिपिशास्त्रज्ञों ने ब्राह्मी को शैलियों और शाखाओं में विभाजित किया है। यहाँ इसी प्रकार के प्रमुख मतों पर विचार किया जा रहा है।

६:२ : **ब्राह्मी-विभाजन के छोर** : भारतीय पुरा लिपि के क्षेत्र में गौ० ही० ओझा और जे० जी० बूलर ऐसे दो प्रथम महान् विद्वान हैं, जिन्होंने समूचे भारत की पुरा लिपियों पर क्रमशः विचार किया। दोनों प्रायः समकालीन भी हैं। ओझा की 'प्राचीन लिपिमाला' (हिन्दी) सन् १८९४ में और बूलर की 'इंडीख पेलियोग्राफ़ी' सन् १८९६ में प्रकाशित हुई। दोनों ब्राह्मी को सन् ३५० ई० तक ब्राह्मी ही मानते हैं।[1] उसके पश्चात् बूलर तो सारा विवेचन उत्तरी ब्राह्मी की शाखाओं को '३५० ई० के आस-पास की उत्तरी लिपियाँ' शीर्षक के अंतर्गत रखकर करते हैं[2] और दक्षिणी ब्राह्मी की शाखाओं को 'दक्षिणी लिपियाँ' शीर्षक के अन्तर्गत रख कर।[3] यह विभाजन दशवीं शती तक चलता है, जब बूलर के मतानुसार नागरी का उद्‌भव हो गया।[4] ओझा द्वारा स्वीकृत विभाजन में भी प्रथम छोर सन् '३५० के आस-पास'[5] ही है और अन्तिम छोर भिन्न-भिन्न प्रादेशिक लिपियों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हुए भी नागरी के संदर्भ में 'ई० स० की ९वीं शताब्दी के अन्त के आस-पास है'।[6] अतः इन प्रारम्भिक विद्वानों के मतानुसार मोटे रूप से ब्राह्मी के विभाजन का काल सन् ३५० से सन् ९००-१००० रहा है। बाद के आचार्यों ने भी ब्राह्मी की शाखाओं का वर्णन करते समय प्रारम्भ और अन्त के छोर प्रायः यही माने हैं। अतः इस काल को ब्राह्मी का

'विभाजन काल' मान कर खोजना संगत होगा कि इस काल में नागरी का उद्भव ब्राह्मी की किस शाखा से हुआ है।

६:३ : **प्रस्तुत विवेचन की सीमा :** हमारे देश की सभी वर्तमान लिपियाँ एक ही मूल लिपि ब्राह्मी से निकली हैं[७], इस तथ्य से बाहर रह जाने वाली केवल चार लिपियाँ हैं—उर्दू, काश्मीरी, सिंधी और अंग्रेजी। उर्दू, काश्मीरी और सिंधी भाषाएँ अब नागरी में भी लिखी जाती हैं और अंग्रेजी को 'भारतीय लिपि' मानना विद्वानों को प्रायः स्वीकार नहीं है। अतः ओझा का उक्त ब्राह्मी मूल का सिद्धांत अब तथ्य के अधिक निकट हो गया है। इसी तथ्य से यह भी संकेतित है कि ब्राह्मी की सभी शाखाओं पर विचार करने का अर्थ होगा शारदा, गुरुमुखी, गुजराती, मोडी, मलयालम, कन्नड़, तेलुगु, उड़िया, बंगला, असमिया, मैथिली, नेपाली, नागरी इत्यादि ब्राह्मी-मूल की भारतीय लिपियों पर भी पूर्णतः विचार किया जाए तथा भारत से बाहर सिंहाली, तिब्बती तथा पूर्वी द्वीपों की लिपियों पर भी विचार किया जाए। प्रस्तुत प्रबन्ध की सीमाएँ नागरी के विकास तक होने के कारण ब्राह्मी की नागरी से प्रत्यक्षतः असंबद्ध शाखाओं का विवेचन करते समय केवल उन्हीं तथ्यों पर विचार किया गया है, जिन्होंने नागरी के उद्भव और विकास को प्रभावित किया।

६:४ : **विविध मत :** ब्राह्मी की शाखाओं और उनमें से नागरी के उद्भव के विषय में विविध मत उपलब्ध हैं। महत्त्वपूर्ण मत नीचे प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

६:४:१ : **गौ० ही० ओझा का मत :** गौरीशंकर हीराचन्द ओझा[८] ने ईसापूर्व ५०० से सन् ३५० तक की समस्त लिपियों को ब्राह्मी ही माना है। तब तक ब्राह्मी की दो शैलियाँ बन चुकी थीं—

(१) उत्तरी शैली,

(२) दक्षिणी शैली।

ओझा जी ने उत्तरी शैली को गुप्त-लिपि नाम दिया है जो चौथी और पाँचवीं शताब्दी ईस्वी में प्रचलित रही है।[९] छठी से नवीं शताब्दी ईस्वी में उत्तर भारत में जो लिपि प्रचलित थी, उसे ओझा जी ने कुटिल लिपि नाम से अभिहित किया है।[१०] ओझा के मतानुसार 'गुप्त लिपि' से 'कुटिल लिपि' का विकास हुआ है और कुटिल लिपि से नागरी और शारदा लिपियाँ निकली हैं।[११]

यदि उक्त मत को केवल नागरी के संदर्भ में देखा जाए तो ब्राह्मी से नागरी के उद्भव तक के सोपान निम्नलिखित रूप में रखने चाहिएँ—

१. ब्राह्मी लिपि (५०० ईसापूर्व से ३५० ई०)
२. गुप्त लिपि (३५० ईस्वी से ५०० ई०)
३. कुटिल लिपि (५०० ईस्वी से ६०० ई०)
४. नागरी लिपि (६०० ई० से वर्तमान काल तक)

६:४:२ : **जी० बूलर का मत :** बूलर के अनुसार चौथी शताब्दी ईसापूर्व के

एरण के सिक्के से लेकर चौथी शताब्दी ईस्वी के शिवस्कंद वर्मन् के दान-लेख तक ब्राह्मी के पन्द्रह प्रकार थे।[12] बूलर ने लगभग सन् ३५० ई० से भारतीय लिपियों को उत्तरी और दक्षिणी भागों में बाँटा है[13] और उत्तरी लिपियों को पुनः सात विशाल उपवर्गों में विभाजित किया है[14] जो इस प्रकार हैं—

(१) **गुप्त-लिपि**—(पूर्वी और पश्चिमी शैलियाँ) : समय—चौथी-पाँचवीं शती ईस्वी।

(२) **न्यून कोण वाली,** सिद्धमातृका (?)[15] लिपि (छठी शती ई०)

(३) **नागरी** (अक्षर लम्बे और दुमदार, सिरों पर लम्बी लकीरें —इन गुणों वाली) (सातवीं शताब्दी ईस्वी से)[16]

(४) **शारदा लिपि** (पश्चिमी गुप्त-लिपि से विकसित) (आठवीं शती ईस्वी से)

(५) **पूर्वी आदि बंगला लिपि** (ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी से)

(६) **नेपाली** (ग्यारहवीं शताब्दी से)

(७) शर-शीर्षवाली पूर्वी-लिपि।[17]

स्पष्ट है कि बूलर ने विभिन्न स्थानों और समयों की लिपियों के भेदक तत्त्वों के आधार पर उनका वर्गीकरण तो बहुत सूक्ष्मता से किया है किन्तु किस लिपि से किस भेद का उद्भव हुआ, इसे क्रम बद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी वह ब्राह्मी के भेदों में गुप्त लिपि को महत्त्वपूर्ण मानता है। वह 'सिद्धमातृका' और नागरी को 'सगोत्री' और पश्चिमी 'गुप्त लिपि' से संबद्ध मानता है।[18] अलबरूनी के साक्ष्य पर बूलर ने यह अनुमान प्रकट किया कि नागरी और 'सिद्धमातृका' लगभग १०३० ई० में साथ-साथ प्रचलित थीं—मालवा में नागरी और काश्मीर तथा बनारस में 'सिद्धमातृका'।[19] स्पष्ट है कि बूलर के मतानुसार नागरी का प्रचलन पहले मालवा में हुआ।

यदि बूलर के मत को केवल नागरी के संदर्भ में देखा जाए तो ब्राह्मी से नागरी तक के पड़ाव निम्नलिखित रूप में रखने चाहिएँ—

(१) ब्राह्मी लिपि (चौथी शताब्दी ईसापूर्व से ३५० ई०)

(२) गुप्त लिपि (चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई०)

(३) न्यूनकोणीय ('सिद्धमातृका') (छठी शताब्दी ई०)

(४) नागरी (सातवीं शताब्दी ई० से वर्तमान काल तक)

यों ओझा की 'कुटिल लिपि'[20] और बूलर की 'सिद्धमातृका'[21] के लक्षण वही हैं जो टाड के अनुसार 'कील-शीर्ष' के हैं[22], अतः वे एक ही लिपि के विविध नाम हैं; किंतु बूलर ने जिस नागरी का उद्भव मालवा में स्वीकार किया, वह 'प्राचीन नागरी' है। इस प्राचीन नागरी का उद्भव स्थान बूलर के संकेतों के अनुसार मालवा होना चाहिए।

६:४:३ : डी० डिरिंजर का मत : डैविड डिरिंजर के अनुसार ब्राह्मी से गुप्त-लिपि की उत्पत्ति हुई है। इनके अनुसार गुप्त लिपि की दो शैलियाँ हैं —

(१) पूर्वी शैली
(२) पश्चिमी शैली।

गुप्त लिपि की पूर्वी शैली को डिरिंजर ने पुनः पूर्वी और पश्चिमी दो उपशाखाओं में बाँटा है। गुप्त लिपि की पूर्वी शैली की पश्चिमी उपशाखा को इन्होंने 'सिद्धमात्रिका' नाम दिया है और इसी से नागरी का उद्भव स्वीकार किया है।[२३] डिरिंजर के मत को कुल-वृक्ष द्वारा इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—
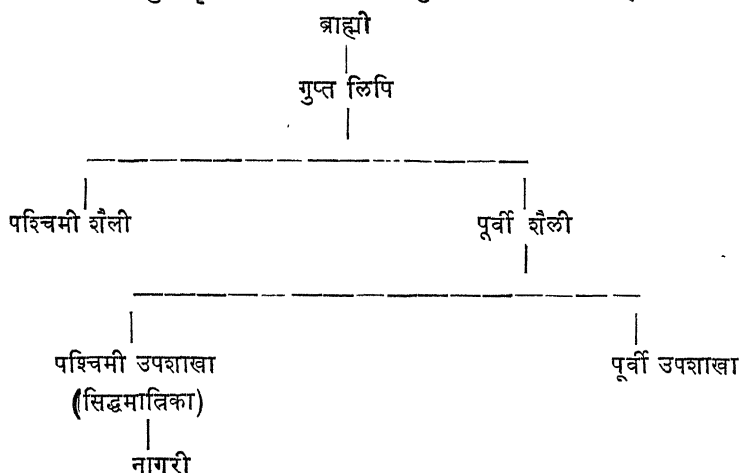
यहाँ 'सिद्धमात्रिका' न केवल ओझा की 'कुटिल लिपि' ही है, वरन् वह बनारस से मथुरा के मध्य में ही सीमित भी है। अतः उससे नागरी के उद्भव को स्वीकार कर डिरिंजर प्रकारांतर से ओझा के मत का समर्थन करता है और नागरी के उद्भव का स्थान गांगेय प्रदेश (इलाहाबाद के आस-पास का प्रदेश) मानता है।

डिरिंजर के मत के आधार पर नागरी के उद्भव के चरण निम्नलिखित क्रम में रखे जा सकते है—

(१) ब्राह्मी
(२) गुप्त लिपि (पूर्वी शैली)
(३) सिद्धमात्रिका
(४) नागरी।

६:४:४ : डा० सु० कु० चट्टोपाध्याय का मत : डा० चट्टोपाध्याय ने बूलर के मत को अधिक क्रमवद्ध और स्पष्टतर रूप में प्रस्तुत किया है। ओझा से चट्टोपाध्याय का मत[२४] इस दृष्टि से भिन्न है कि उसने ब्राह्मी के गुप्त लिपि तक पहुँचने के मध्य कुषाण-लिपि के चरण को विशेष महत्त्व दिया है और नागरी का उद्भव 'गूर्जर-लिपि' से माना है। यह 'गूर्जर-लिपि' (या आदि नागरी, या नागर-लिपि) कुटिल-लिपि की

समसामयिक लिपि थी और नागरी से पूर्व गुजरात, मध्य देश और राजस्थान में प्रचलित थी।[२५] कुटिल लिपि गुप्त लिपि की अलग शाखा के रूप में पूर्वी भारत में प्रचलित थी।

इस प्रकार चट्टोपाध्याय के मत में भारतीय लिपियों में ब्राह्मी, कुषाण, गुप्त तथा गूर्जर लिपि के चरणों से होकर नागरी तक विकास होता है। विन्सन स्मिथ और रालिन्सन के मतानुसार कुषाण-वंश का समय लगभग ७८ ई० से प्रारम्भ हुआ और सन् १८२ ई० के कुछ समय बाद तक चला,[२६] किन्तु डेविड डिरिंजर के अनुसार कुषाण-राज्य की पूर्ण समाप्ति सन् २२५ ई० में हुई।[२७] इससे कुषाण लिपि का काल दूसरी शताब्दी के आस-पास सिद्ध होता है। डॉ० चट्टोपाध्याय और गौ० ही० ओझा की गुप्त लिपि में अन्तर नहीं है, केवल उसकी काल-गणना में थोड़ा अन्तर है। ओझा ने गुप्त लिपि का काल ३५० ई० से ५०० ई० तक माना है,[२८] तो चट्टोपाध्याय ने इसे लगभग ४०० ई० से ५५० ई० तक स्वीकार किया है।[२९] गूर्जर-लिपि (नागर लिपि) को क्योंकि कुटिल लिपि का समसामयिक बताया गया है,[३०] अतः गुप्त लिपि के अन्तिम छोर के साथ उसका ताल-मेल बिठाकर उसे ९०० ई० तक मानना ही तर्कसंगत प्रतीत होता है।

इस विवेचन के आधार पर डॉ० चट्टोपाध्याय के मतानुसार ब्राह्मी से नागरी तक विकास-क्रम के निम्नलिखित पड़ाव सिद्ध होते हैं—

(१) ब्राह्मी लिपि (५०० ई० पू० से १०० ई० तक)
(२) कुषाण लिपि (१०० ई० से ४०० ई० तक)
(३) गुप्त लिपि (४०० ई० से ५५० ई० तक)
(४) नागर लिपि (५५० ई० से ९०० ई० तक)
(५) नागरी लिपि (९०० ई० से वर्तमान काल तक)

६:४:५ : डॉ० अहमद हसन दानी का मत : ब्राह्मी से नागरी तक के भारतीय लिपियों के विकास का क्रम-बद्ध विवेचन करने वाले विद्वानों में दानी का वैज्ञानिक विश्लेषण इस दृष्टि से अनूठा कहा जा सकता है कि उसने लिपि की प्रकृति में समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को खोजने का प्रयत्न किया है।

डॉ० दानी ने ब्राह्मी से गुप्त-लिपि के विकास तक गौ० ही० ओझा के मत का पोषण करते हुए बूलर के कृत्रिम वर्गीकरण को सैद्धांतिक आधार पर त्रुटिपूर्ण सिद्ध किया।[३१] लगभग ३५० ई० से आधुनिक भारतीय लिपियों के उद्भव तक के विकास को उसने स्थान-भेद से वर्गीकृत किया है।[३२] उस वर्गीकरण को इस रूप में सूचीबद्ध किया जा सकता है—

(क) उत्तरी भारत की लिपियाँ

(१) गांगेय प्रदेश (इसमें मथुरा के आस-पास का प्रदेश छोड़कर शेष उत्तर प्रदेश और बिहार सम्मिलित है)
(२) पूर्वी भारत (इसमें बंगाल, असम और उड़ीसा सम्मिलित है)

(३) पश्चिमोत्तरी भारत (इसमें मथुरा और उससे पश्चिम के उत्तरी भारत के प्रदेश सम्मिलित हैं।)

(ख) **मध्य भारत की लिपियाँ** (गुजरात, राजस्थान, मध्य भारत)

(४) राजस्थानी शैली (इसमें मालवा भी सम्मिलित है)

(५) काठियावाड़ी शैली (पश्चिमी क्षत्रपों, मैत्रकों त्रैकूटकों और भड़ोच के गुर्जरों की शैली)

(ग) **दक्कनी लिपियाँ**

(६) दक्कनी शैली (चालुक्यों, पल्लवों, मधरों और पूर्वी गंगों आदि की शैली)

(घ) **दक्षिणी भारत की लिपियाँ**

(७) मैसूर और महाराष्ट्र

(८) आंध्र

(९) दक्षिणी छोर

इन चार खण्डों में लिपियों की नौ विशेष शैलियाँ दिखाते हुए दानी ने नागरी के उद्भव को मथुरा से सम्बद्ध पश्चिमोत्तरी भारत और मालवा-राजस्थान के भूखंडों में प्रचलित शैलियों में विशेष विकास प्रदर्शित किया है। दानी के कुछ वाक्य विशेष रूप से ध्यातव्य हैं—

(क) (१) **गांगेय प्रदेश** गुप्त काल के उपरांत पश्चिमी शैली इस क्षेत्र पर छा गई और अन्ततोगत्वा नागरी लिपि के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया।[33]

(क) (३) **पश्चिमोत्तरी भारत**—हर्षवर्द्धन के समय में यह (मथुरा की) शैली राजस्थानी शैली में समाहित हो गई। इस शैली का अलंकरण का गुण पूर्वी प्रदेशों में प्रादुर्भूत हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह सम्पूर्ण गांगेय प्रदेश में फैल गया, जहाँ उससे आदि-नागरी उत्पन्न हुई।[34]

(ख) (४) **राजस्थानी शैली :** मालवा की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उस पर उत्तर और दक्षिण, दोनों दिशाओं का प्रभाव पड़ सकता है। राजस्थान के साथ मालवा बहुत निकटता से सम्बन्धित था।···लगभग छठी शताब्दी के अन्त में, राजस्थान-मालवा की शैली में और मथुरा की शैली में विशेष परिवर्तन हुए, जिसके कारण यह नागरी लिपि की पूर्वज शैली बन गई। यह प्रदेश नागरी की मूल जन्मभूमि बना।[35]

डॉ० दानी के इस मत में कई बातें मिश्रित हो गई हैं। अत: उन्हें काल-क्रम में नागरी के उद्भव की ओर हो रही प्रगति के रूप में देखने के अतिरिक्त उपाय नहीं है। इस दृष्टि से ब्राह्मी से नागरी तक पहुँचने के लिए निम्नलिखित चरणों पर विचार करना होगा—

(१) ब्राह्मी, ईसा-पूर्व ३००, सारे भारत में

(२) गुप्त लिपि, ३५० ई०, उत्तरी भारत में
(३) मथुरा-राजस्थान-मालवा में विशेष परिवर्तन, ३५० से नागरी के उद्भव तक।

६:५ : प्राप्त मतों का सार : नागरी के उद्भव पर लिपि-वैज्ञानिकों ने अब तक जो विचार प्रकट किए हैं, उनका सार निम्नलिखित है—

(१) सभी मानते हैं कि ब्राह्मी लिपि ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक दो शैलियों में बँटने लगी थी, जिन्हें 'उत्तरी शैली' और 'दक्षिणी शैली' नाम दिया जा सकता है।

(२) उत्तरी शैली का कुषाण-लिपि के प्रभाव से गुप्त-लिपि के रूप में विकास हुआ। गुप्त-लिपि का प्रभाव गुप्त-वंश के राज्य के कारण लगभग समस्त उत्तरी भारत तथा मध्य भारत पर पड़ा।

(३) इसी गुप्त-लिपि की किसी शाखा से नागरी का उद्भव हुआ। वह शाखा ओझा के मत से 'कुटिल लिपि' थी और डिरिंजर के मतानुसार 'सिद्धमातृका'; इनकी तुलना में बूलर के मतानुसार राजस्थान-मालवा में नागरी का उद्भव प्रतीत होता है। डॉ० चट्टोपाध्याय और डॉ० दानी का मत भी बूलर के मत से बहुत कुछ मेल खाता है।

(४) नागरी का प्रथम रूप कब-का और किस-स्थान-का है, इस पर विद्वान एक-मत नहीं हैं।

६:६ : प्राप्त मतों का परीक्षण : नागरी के उद्भव सम्बन्धी प्राप्त मतों का परीक्षण निम्नलिखित है :

६:६:१ : वर्गीकरण : उक्त पाँचों मतों में जो वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है, वह केवल मोटे रूप से ही उचित है। उसके सूक्ष्म भेद भारत की सांस्कृतिक एकता एवं ऐतिहासिक कारणों से स्थिर नहीं रह सकते। अतः इन वर्गीकरणों के साथ निम्नलिखित तथ्य भी स्मरण रखने चाहिएँ—

(क) समय-समय पर कई शक्तिशाली शासकों ने अपने राज्यों का विस्तार करके भारत के विभिन्न प्रदेशों को एक सूत्र में बाँधा।

(ख) धर्म एवं संस्कृति के क्षेत्रों में अनेक ऐसे आंदोलन हुए हैं, जिनके कारण भारत के विभिन्न प्रदेशों में एकता स्थापित हुई। चार धामों की यात्रा जैसी कुछ प्रथाएँ तो निरन्तर एकता साधने का कार्य करती आ रही हैं।

(ग) संस्कृत, फ़ारसी, हिन्दी और अंग्रेजी भाषाओं ने भारतीय जनता को एक-दूसरे के निकट लाने में सहयोग दिया है।

उक्त कारणों से भारत में सामाजिक एकता बनी रही है। इसका प्रभाव लिपियों पर भी पड़ा है। परिणामतः भारतीय लिपियों की विभिन्न शैलियाँ एक-दूसरी को प्रभावित करती रहती हैं।

६:६:२ : लक्ष्य : यद्यपि उक्त पाँचों विद्वानों ने पुरा-लिपियों पर ही विचार

किया है, तो भी उनके लक्ष्य में भिन्नता होने के कारण उनके प्रस्तुतीकरण में अन्तर आ गया है।

ओझा के समय तक भारतीय लिपियों पर जो कुछ कार्य हुआ था, वह बहुत बिखरा हुआ था। ओझा ने अनुभव किया - "भारत के प्राचीन इतिहास के विद्यार्थी के लिए प्राचीन भारत में प्रचलित विभिन्न वर्ण-मालाओं को तथा उनके आपसी सम्बन्ध को जानना आवश्यक है"।[३६] इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ओझा ने 'प्राचीन लिपिमाला' प्रकाशित कराई। इस उद्देश्य के लिए वह पुस्तक मूल्यवान् भी है। इस समय नागरी का उद्भव खोजने के लिए जिन सूक्ष्म परिवर्तनों को शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत करने की [illegible] है, वह उस पुस्तक के लक्ष्य से भिन्न है।

बूलर का लक्ष्य ('भारतीय पुरालिपि शास्त्र' लिखते हुए भी) उतना लैपि-विज्ञानिक नहीं था, जितना इतिहास के शोध के लिए भूमिका तैयार करना। उसका लक्ष्य था—संकेतों की आकृति के आधार पर उनका काल निश्चित करना और उन्हें 'अज्ञात-काल' अभिलेखों के **काल-निर्धारण** के लिए मापदंड के रूप में प्रस्तुत करना। भा० पु० शास्त्र के साथ प्रस्तुत किए गए फलक इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि प्रिंसेप द्वारा प्रारब्ध संकेतों के काल-निर्धारण के कार्य को बूलर ने ईमानदारी से प्रस्तुत किया है; किन्तु लिपि-विकास के विवेचन के लिए अपेक्षित शृंखलाबद्ध परिवर्तन-क्रम उस प्रस्तुतीकरण में उपलब्ध नहीं है।

डिरिंजर का लक्ष्य था—विश्व के लिपि-विज्ञान का संकलित रूप प्रस्तुत करना। भारतीय लिपियों से वे अनभिज्ञ हैं। उन्होंने भारत की प्राचीन तथा वर्तमान लिपियों के विषय में जो कुछ लिखा है, वह मात्र संकलन होने के कारण ओझा या बूलर के समान स्तरीय नहीं है।

डॉ० चट्टोपाध्याय का लक्ष्य निःसंदेह लिपि-विज्ञान की इतिहासपरक शाखा का एक खण्ड प्रस्तुत करना रहा है। यद्यपि वे लिपियों के विकास को प्रस्तुत करने में उतनी सूक्ष्मता नहीं ला सके हैं जो किसी लिपि-वैज्ञानिक से अपेक्षित है, तथापि उनका वर्गीकरण विशुद्ध लैपि-विज्ञानिक हाने के कारण महत्त्वपूर्ण है। उनका विश्लेषण भाषाओं के विकास के साथ किए गए लिपियों के विकास के रूप में है, अतः उसका अधिक गम्भीर न होना स्वाभाविक भी था।

डॉ० दानी का लक्ष्य भारत की प्रचीन लिपियों के विकास को क्रमबद्ध करने तक ही सीमित है। वे लिपियों के बदलते स्वभाव को पहचानने का प्रयत्न करने वाले सम्भवतः पहले लिपि-वैज्ञानिक हैं। वे भारतीय लिपियों की अनेक शृंखलाएँ जोड़ने में सफल भी हुए हैं। उनके चिंतन में जो न्यूनताएँ रह गई हैं, उसके निम्नलिखित कारण हैं —

(१) उन्होंने लिपि-परिवर्तन के सिद्धांत पहले स्थिर नहीं किए।

(२) उन्होंने ओझा और शंकरानंद जैसे महत्त्वपूर्ण भारतीय लेखकों को

ध्यान से पढ़ने का प्रयत्न नहीं किया। स्वा० शंकरानंद की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ तो प्रकाशित भी बाद में हुईं।

६:७ : **परीक्षण का परिणाम** : उक्त मतों का परीक्षण करने पर ज्ञात हुआ कि नागरी के उद्भव को खोजने में ये मत उदाहरण प्रस्तुत करने में तो सहायता कर सकते हैं; किन्तु विधि और क्रम का निर्धारण लिपि-विज्ञान के नए नियमों और अपने लक्ष्य के अनुकूल निर्धारित करना होगा। अपना लक्ष्य और उसे प्राप्त करने की विधि पहले स्थिर करके तभी प्राप्त सामग्री का विश्लेषण करना चाहिए, अन्यथा भ्रामक परिणाम प्राप्त होने की आशंका है। अतएव, लक्ष्य और विधि नीचे दिए जा रहे हैं—

(१) **लक्ष्य** : इस प्रबन्ध का लक्ष्य केवल नागरी लिपि का उद्भव और विकास ढूँढ़ना है। अतः उसके साथ लगे अन्य तथ्यों को त्यागना और नागरी-सम्बन्धी सामग्री का चयन, संकलन और उसे क्रमबद्ध करना ही हमारे लक्ष्य को सिद्ध करने में सहायक हो सकता है।

(२) **विधि** : आज नागरी लिपि में जो विशेषताएँ हैं, उन्हें मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) नागरी के संकेत

(ख) नागरी के संकेतों की प्रयोग विधि[३७]

नागरी की आज की विशेषताएँ धीरे-धीरे विकसित हुई हैं। उक्त मतों में वर्णित ब्राह्मी की शाखाओं में कुछ का सम्बन्ध नागरी के उद्भव के साथ इसलिए जोड़ा जाता है, क्योंकि उनमें कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो नागरी तक पहुँची हैं। ब्राह्मी की उन विशेष शाखाओं का विश्लेषण किया जाए जिनका सम्बन्ध नागरी से है; उनमें से वे विशेषताएँ पृथक् की जाएँ जो नागरी तक पहुँची हैं और अन्त में उन्हें क्रम-बद्ध रूप से संकलित कर प्रस्तुत किया जाए, तभी नागरी के उद्भव का इतिहास प्रस्तुत किया जा सकता है।

६:८ : **शाखाओं का विवेचन-क्रम** : आगे के अध्यायों में उक्त विवेचन के अनुरूप सन् ३५० ई० से भारत की लिपियों का क्रमशः विवेचन करते हुए उनमें से नागरी तक पहुँचने वाली प्रवृत्तियों का चयन किया गया है। सन् ३५० से पूर्व ब्राह्मी में शिरोमयता और तीन-तला लेखन के दो गुण आ चुके थे। वे नागरी के उद्भव में सहायक हुए हैं, अतः उनका विवेचन पहले किया गया है। ब्राह्मी की शेष शाखाओं का नागरी से सम्बन्ध न होने के कारण, उनका विवेचन नहीं किया गया। इसी प्रकार आगे के विवेचन में भी केवल उन्हीं शैलियों और प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है, जिनका सम्बन्ध नागरी से है।

---

१. भा० प्रा० लि०; पृ० ४२ तथा भा० पु० शा०; पृ० ६१

२. भा० पु० शा०; पृ० ६१

३. वही; पृ० १२५

४. वही; पृ० १०३

५. भा० प्रा० लि०; पृ० ४२
६. वही, पृ० ६६
७. वही, पृ० ४२
८ भा० प्रा० लि० पृ० ४१ से ४४
९. वही, पृ० ६०
१०. वही, पृ० ६२
११. वही, पृ० ४२
१२. भा० पु० शा०; पृ० ६३ से ६७ तक
१३. भा० पु० शा; पृ० ९१ तथा १२५
१४. वही, पृ० ९४
१५. भा० पु० शा० में यही वर्तनी दी है। वहीं यह प्रश्न-सकेत भी लगा है। अन्य कई विद्वानों ने 'सिद्धमात्रिका' वर्तनी दी है।
१६. भा० पु० शा० पृष्ठ ९४ का वाक्य है—"सब से पहले सातवीं शती में इसका पता मिलता है।" किंतु इसी पुस्तक के पृष्ठ १०३ पर वाक्य है—"८वीं-१०वीं शती में न्यूनकोणीय या सिद्ध-मातृका लिपि धीरे-धीरे विकसित होती-होती अपनी उत्तराधिकारिणी नागरी लिपि की ओर चली जाती है।" इस दूसरे वाक्य से नागरी के उद्‌भव का समय दसवीं शताब्दी सिद्ध होता है।
१७. यह सातवाँ भेद व्याख्या में दिया गया है।
१८. भा० पु० शा०, पृ० १०२
१९. वही, पृ० १०२
२०. भा० प्रा० लि०, पृ० ६२
२१. भा० पु० शा०, पृ० १०२
२२. ऐं० रा०, जि० १, पृ० ७००-७१०
२३. ऐं० (डि०), पृ० ३५८
२४. भा० भा० भा० स०, पृ० १६९
२५. आ० डि० बें० लें०, पृ० २२४
२६. हि० ई० (आ०), पृ० ६३
२७. ऐं० (डि०), पृ० ३४३
२८. भा० प्रा० लि०, पृ० ६०
२९. भा० भा० भा० स०, पृ० १६९
३०. आ० डि० बें० लें०, पृ० २२४
३१. इं० पे० (दा०), पृ० ६
३२. वही, पृ० १०९, ११०
३३. इं० पे० (दा०), पृ० ११०
३४. इं० पे० (दा०), प० ११०, १११
३५ भा० प्रा० लि०, प्रिफेस', पृ० १
३६. विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य—इसी प्रबंध का खंड १, अध्याय १, लिपि के अनिवार्य तत्त्व
३७. यही प्रबंध, यही खंड, अध्याय ५

७ संतुलित ब्राह्मी

७:१ : गुप्त-लिपि : नामकरण : सहज विकास के परिणामस्वरूप जब लिपि की संकेताकृतियों या उसकी प्रयोग विधि में स्पष्ट अन्तर दिखाई देने लगता है, तब उसका पृथक् नामकरण एवं अध्ययन आवश्यक हो जाता है। लिपि में बहुत परिवर्तन हो जाने पर भी उसका प्राचीन नाम ही परम्परा के कारण प्रचलित रहा हो, तो अध्ययन की सुविधा के लिए देश-काल में सीमित लिपि-विशेष का या लिपि की शैली-विशेष का कोई नाम कल्पित कर लिया जाता है।

इन नामों के कई आधार हो सकते हैं। उदाहरण के लिए कुछ प्रमुख आधार निम्नलिखित हैं—

(१) **व्यक्ति :** जैसे—अशोक महान् के नाम पर 'अशोकन स्क्रिप्ट'

(२) **देश या स्थान :** जैसे—भारत के दक्षिणी भाग के नाम पर 'दक्षिणी शैली'

(३) **गुण :** जैसे—अक्षरों के टेढ़े-मेढ़े आकार के कारण 'कुटिल लिपि'

(४) **वंश :** जैसे—गुप्त वंश के नाम पर 'गुप्त-लिपि'

'गुप्त लिपि' शब्द की व्याख्या देते हुए ओझा जी ने स्पष्ट मत व्यक्त किया है : "गुप्तों के राज्य के समय सारे उत्तरी भारत में ब्राह्मी लिपि का जो परिवर्तित रूप प्रचलित था, उसका **कल्पित नाम** 'गुप्त-लिपि' है।"[1]

उक्त कथन से यह संकेतित होता है कि तथाकथित गुप्त-लिपि के प्रयोगकर्ता उसे गुप्तलिपि नहीं कहते थे (शायद तब तक 'ब्राह्मी लिपि' नाम ही प्रचलित था।), अत: इस नामकरण के औचित्य की परख की जा सकती है।

पिछले पृष्ठों पर प्रवृत्तियों को इतिहास के कालों का नामकरण करने का आधार माना गया था। इसी प्रकार लिपियों के नामकरण के निश्चित आधार होने चाहिएँ। इस दृष्टि से दो तथ्य विचारणीय हैं—

(१) रूढ़ नाम अपरिवर्तनीय हैं। ब्राह्मी या नागरी जैसे नाम प्रारम्भ में कैसे

प्रचलित हुए, इसकी तुलना में यह तथ्य अधिक प्रभावशाली है कि ऐसे नाम जन-सामान्य में प्रचलित रहे है, अतः इन्हें ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहिए।

(२) कल्पित नाम व्यक्ति, जाति, देश, गुण इत्यादि विविध आधारों में से कोई एक यादृच्छिक रूप से चुनकर उसके अनुसार गढ़े गए हैं। परिणामतः एक ही लिपि या शैली को विभिन्न विद्वानों ने पृथक्-पृथक् नामों से पुकारा है। इस यादृच्छिक प्रवृत्ति के कारण पुरा-लिपियों के अध्ययन में कठिनाई उत्पन्न होती है। इस समस्या का समाधान तभी हो सकता है, जब ऐसी लिपियों के नाम किसी **समान** आधार पर कल्पित किए जाएँ। तब उन नामों में एकरूपता आ सकेगी।

व्यक्ति समान आधार का कार्य इसलिए नहीं कर सकता, क्योंकि काल विशेष में सर्व-प्रिय या अधिक प्रभावशाली व्यक्ति खोज पाना या एकमत से निश्चित कर पाना सदा संभव नहीं है। जाति और देश लिपि को जिस सीमा में बाँधते हैं, वह भी सर्वदा संभव नहीं है। कोई लिपि एकाधिक जातियों में अथवा एकाधिक स्थानों पर प्रचलित हो सकती है, अतः जाति और देश भी लिपियों के नाम कल्पित करने के समान आधार नहीं हो सकते।

प्रत्येक लिपि में कुछ वैशिष्ट्य होने के कारण ही उसे पृथक् लिपि कहने की और उसके नामकरण की आवश्यकता होती है। अतः 'गुण' ही ऐसा समान आधार है, जिसके अनुसार अनाम लिपियों का नामकरण किया जाना सर्वदा सुलभ है।

जिसे यहाँ गुप्त-लिपि नाम से उल्लिखित कर नामकरण की समस्या उठाई गई है, उसके गुणों के आधार पर उसका नामकरण तभी किया जा सकता है, जब उसके गुणों का परिचय हो जाए। इसी दृष्टि से यहाँ अन्य पुरालिपि विशेषज्ञों द्वारा बहुधा प्रयुक्त 'गुप्त-लिपि' नाम से उसका विश्लेषण किया गया है और इस लिपि का स्वरूप स्पष्ट हो जाने के पश्चात् अनुच्छेद ७:६ में उसका नामकरण किया गया है।

७:२ : **गुप्त-लिपि का समय** : गुप्तों का राज्य चौथी शताब्दी के प्रारम्भ से (चन्द्रगुप्त-१ के राज्य से) प्रारम्भ होता है।[2] सन् ३१९-२० में गुप्त-संवत् प्रारम्भ हुआ।[3] गुप्त-संवत् की इस गणना से गौ० ही० ओझा भी पूर्णतः सहमत हैं।[4] चन्द्रगुप्त-१ के पश्चात् शक्तिशाली सम्राट् समुद्रगुप्त ने तथा सन् ३७५ से ४१३ तक चन्द्रगुप्त-२ ('विक्रमादित्य' ?) ने गुप्तों के राज्य का विस्तार समस्त उत्तर भारत में किया, जिसे कुमारगुप्त-१ ने सन् ४५५ तक सुख से भोगा; अन्तिम वर्षों में उसे हूणों के आक्रमण का सामना अवश्य करना पड़ा। उसके पश्चात् स्कंदगुप्त ने भी सन् ४५५ से ४७० तक अशांतिपूर्ण शासन किया। सन् ४७० में श्वेत हूण गुप्त-राज्य को समाप्त करने में सफल हो गए।[5]

इस ऐतिहासिक विवरण से स्पष्ट है कि गुप्तों का शासनकाल सन् ३१९-२० से ४७० तक है। उनके स्थायित्व का काल सन् ३५० ई० के आस-पास प्रारम्भ होता

है । गुप्तों के नाम पर प्रचलित लिपि उनके बाद तो जीवित रह सकती है, उनसे पूर्व उसका अस्तित्व मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता । अतः गौ० ही० ओझा द्वारा गुप्त-लिपि को सन् ३५० से ५०० के मध्य प्रचलित मानना[६] ऐतिहासिक तथ्यों के अनुकूल है ।

७:३ : **गुप्त लिपि का स्थान :** चन्द्रगुप्त-१ तथा समुद्रगुप्त की राजधानी पाटलिपुत्र थी, किन्तु चन्द्रगुप्त-२ ने संभवतः अयोध्या को अपनी राजधानी बनाया । गुप्त वंश का राज्य पूर्व में हुगली से पश्चिम में सतलुज तक और उत्तर में हिमालय से दक्षिण में नर्मदा तक फैला हुआ था ।[७] इनके राज्य में आधुनिक सिंध (पाक), पूर्वी पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान, गुजरात और कुछ अंशों में महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश का क्षेत्र सम्मिलित था । इस ऐतिहासिक तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मी की उत्तरी शैलियों का समस्त क्षेत्र एक बार फिर एक ही शासन के अधीन हो गया था । इस तथ्य ने लिपि के क्षेत्र को भी प्रभावित किया ।

७:४ : **भारतीय लिपि-विकास पर प्रभाव :** गुप्त-साम्राज्य के अधीन समूचे उत्तरी भारत के आ जाने से इस क्षेत्र की लिपियों पर जो प्रभाव पड़े, उन्हें निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) पूर्वी उत्तर भारतीय शैली का आदर
(२) विभिन्न शैलियों में एकरूपता की वृद्धि
(३) सरलीकरण

इनका क्रमशः विवेचन दिया जा रहा है ।

७:४:१ : **पूर्वी उत्तर भारतीय शैली का आदर :** गुप्त-साम्राज्य पहले पाटलिपुत्र से और बाद में अयोध्या से संचालित होता रहा । दोनों स्थितियों में इस साम्राज्य के केन्द्र भारत के उत्तर-पूर्वी भाग की स्थिति केन्द्रीय होने के कारण महत्त्व पूर्ण थी । उसी क्षेत्र के व्यक्ति अधिकारी बन कर गुप्त-साम्राज्य के अन्य क्षेत्र में जाते थे । स्वाभाविक है कि वे लोग अपने क्षेत्र की लेखन-शैली अपने साथ अन्य क्षेत्रों में ले जाते थे और राज्याधिकारी होने के कारण अपनी शैली का प्रयोग ही नहीं प्रचार भी करते थे । 'यथा राजा, तथा प्रजा' के अनुसार अन्य क्षेत्रों की प्रजा इन अधिकारियों द्वारा प्रयुक्त पूर्वी उत्तर भारतीय लेखन-शैली का आदर करती, उसका अनुकरण करने का प्रयत्न करती और अनजाने में अपनी लेखन-शैली में पूर्वी उत्तर भारतीय शैली के गुण समाविष्ट करती रहती । यही कारण है कि तत्कालीन शिलालेखों में पूर्वी उत्तर भारतीय लेखन-शैली का प्रभाव बहुत बड़े क्षेत्र पर दिखाई देता है।

७:४:२ : **एकरूपता में वृद्धि :** ब्राह्मी लिपि से पूर्व सिन्धु-लिपि अनेक प्रतीकचित्र लिपियों से बनी थी, परिणामतः ब्राह्मी-संकेतों के लेखन में कुछ विभिन्नता स्थान-स्थान पर होना स्वाभाविक था । अशोक-साम्राज्य के बन्धन ने उसमें एकरूपता लाने में बहुत सहयोग दिया । फिर भी निरन्तर परिवर्तमान रहने के कारण ब्राह्मी का रूप स्थान-स्थान पर बदलता रहा । कुषाणों ने उसे विशिष्ट दिशा दी, जिसका

प्रभाव उत्तर भारत में (विशेष रूप से पश्चिमी उत्तर भारत में) दृष्टिगोचर हुआ। पूर्व और दक्षिण में ब्राह्मी की अपने-अपने ढंग की शैलियाँ विकसित होने लगीं। गुप्त साम्राज्य ने एक बार फिर ऐसा अवसर प्रदान किया कि कम से कम उत्तर भारत की विविध शैलियों को अपनाए हुए लोग एक-दूसरे से, विशेष रूप से पूर्वी उत्तर भारत के लोगों से अभेद स्थापित कर पाए। गुप्त साम्राज्य के सभी कोनों के लिपिकों ने यथा-संभव शासकीय लेखन शैली के निकट आने का प्रयत्न किया। स्पष्ट है कि इन प्रयत्नों में उत्तर भारत की सभी प्रचलित शैलियाँ अपेक्षाकृत एकरूपता के निकट आईं। चौथी-पाँचवीं शताब्दी ईस्वी के उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों के शिलालेखों में शैली-भिन्नता कम और शैलियों का समान गुणों की ओर अग्रसर होना अधिक दिखाई देता है जो उक्त तर्क को प्रमाणित करता है।

७:४:३ : **सरलीकरण** : गुप्त-लिपि ने ब्राह्मी के तीन-तले लेखन के कारण प्रचलित अलंकरण को सरल करने का प्रयत्न किया। **जगय्यपेट-लेख**[८] में अति अलंकरण के कारण कुछ दुरूहता आने लगी थी। गुप्त लिपि ने पुनः ब्राह्मी की मूल प्रवृत्ति—सरल लेखन—को अपनाया। मात्राओं का अनावश्यक रूप से ऊपर-नीचे लंबा खिंच जाना, अतिरिक्त गोलाइयाँ बनाना इत्यादि जटिलता उत्पन्न करने वाली प्रवृत्तियाँ त्यागने का प्रयत्न हुआ। जगय्यपेट-लेख तक विकसित **प्रथम अलंकरण**[९] का इतना अंश शेष रह गया, जिससे तीन-तला लेखन बना रहा किन्तु उसके कारण उत्पन्न हुई दुरूहता समाप्त हो गई।

७:५ : **गुप्त-लिपि का स्वरूप** : गुप्त-लिपि के लेखों में स्थान-भेद से साधारण भिन्नता को लेकर कोई निर्णय करने से पूर्व गुप्त-लिपि के **मध्यमान** को समझ लेना उचित है, क्योंकि उसके सहारे शेष अन्तर स्पष्ट किए जा सकते हैं। सम्राट् समुद्रगुप्त के **इलाहाबाद स्तम्भ-लेख**[१०] को गुप्त-लिपि का मध्यमान माना जा सकता है। डॉ० दानी ने इसे विशिष्ट शैलियों के वर्गीकरण के अनुसार गांगेय प्रदेश की कौशाम्बी शैली नाम दिया है[११] और चौथी शताब्दी के गांगेय प्रदेश के लेखन का **ठेठ उदाहरण** (टिपिकल एग्ज़ाम्पुल) माना है।[१२]

इस तथाकथित कौशाम्बी शैली की तुलना सरल ब्राह्मी (अनुच्छेद ५:३ से ५:५ तक) के साथ करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसापूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी के लेखन में क्या अन्तर है और गुप्त-लिपि के काल तक उत्तरी भारत के केंद्रीय लेखन की स्थिति क्या है।

आगे चित्र ७:१ में सरल ब्राह्मी (ईसापूर्व तीसरी शताब्दी) और गुप्त-लिपि (चौथी शताब्दी ईस्वी) के कुछ अक्षर तुलनात्मक रूप में दिखाए गए हैं।[१३] '-३' वाली पंक्ति सरल ब्राह्मी के अक्षरों की है और '+४' वाली पंक्ति में इलाहाबाद-स्तम्भ-लेख से चुने हुए अक्षर हैं। '-३' की पंक्ति के प्रत्येक अक्षर के नीचे '+४' की पंक्ति का अक्षर ऊपर के अक्षर की ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति वाला ही है।

इन दोनों लिपियों के संकेतों की तुलना करने से निम्नलिखित अन्तर स्पष्ट लक्षित होते हैं —

-३ = सरल ब्रा०

+४ = संतुलित ब्रा०

चित्र ७:१

(१) **शीर्ष-भेद :** सरल ब्राह्मी में शीर्ष दिखाने के लिए संकेत में शीर्ष को मोटा करना, छोटी-सी शीर्ष रेखा बनाना या ऐसा कोई अन्य उपाय नहीं अपनाया गया। इसकी तुलना में गुप्त-लिपि में अ, उ, क, घ, च, ड, ढ, त, द, न, प, फ, भ, म, य, र, ल, व, ष, स तथा ह (कुल २१)—इन मूल संकेतों पर कहीं न कहीं शीर्ष दिखाया गया है। यह गुण शिरोमय ब्राह्मी (दे० अनुच्छेद ५:६) का दिया हुआ है।

(२) **तल-भेद :** सरल ब्राह्मी में मात्राओं को मध्य तल में ही समेटने का प्रयत्न है, जिससे लेखन प्रायः एक ही तल में रहता है। इसकी तुलना में गुप्त-लिपि में इ, ई, ए, ऐ, ओ और औ की मात्राएँ तथा अनुस्वार पंक्ति से बाहर ऊपर निकल कर ऊपरी तल का सृजन करते हैं, तो उ, ऊ और ऋ की मात्राएँ एवं संयोजित य-जैसे व्यंजन पंक्ति से बाहर नीचे निकल कर निचले तल का सृजन करते हैं। यह विशेषता तीन-तली ब्राह्मी की देन है।

(३) **संतुलन :** गुप्त-लिपि में जगय्यपेट के तीन-तले लेखन जितने ऊपर-नीचे के दोनों तल अनावश्यक रूप से ऊपर नीचे को लम्बे फैले हुए नहीं हैं, न ही सरल ब्राह्मी की भाँति उन्हें अतिशय सीमित किया गया है। ब्राह्मी के विकास में तीन तले लेखन में तलों के फैलाव का गुप्त-लिपि में उचित मात्रा तक ही प्रयोग हुआ है, जिसके फलस्वरूप ब्राह्मी के फैलाव और गठन में संतुलन आ गया है।

७:५:१ : **वर्गीकरण** : उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि गुप्त-लिपि वस्तुत: नई लिपि नहीं है। इसे ब्राह्मी का सामान्यीकृत एवं संतुलित रूप कहा जा सकता है, जिसमें ब्राह्मी के दो सैद्धान्तिक विकासों को स्थिर करके उचित मात्रा में प्रयोग करने का प्रयत्न किया गया है। यही कारण है कि डॉ० दिनेश चन्द्र सरकार[१४] ब्राह्मी को निम्नलिखित तीन चरणों में प्रस्तुत करते हैं—

(१) प्रारम्भिक ब्राह्मी (इस प्रबन्ध की 'सरल ब्राह्मी')
(२) मध्यकालीन ब्राह्मी (तथाकथित 'कुपाण-लिपि' तथा इस प्रबन्ध के अनुसार 'शिरोमय ब्राह्मी')
(३) उत्तरकालीन ब्राह्मी (तथाकथित 'गुप्त-लिपि')

७:६ : **संतुलित ब्राह्मी** : प्रस्तुत प्रबन्ध में अशोककालीन ब्राह्मी को 'सरल ब्राह्मी' नाम से विवेचित किया गया है (अनुच्छेद ५:३) और वह डॉ० सरकार की प्रारम्भिक ब्राह्मी (अर्ली ब्राह्मी) की विशिष्टता को व्यक्त करती है। जिसे डॉ० चट्टोपाध्याय ने 'कुपाण-लिपि' और डॉ० सरकार ने 'मध्यकालीन' ब्राह्मी माना, उसका विवेचन इस प्रबन्ध में दो भागों में किया गया है—शिरोमय ब्राह्मी (अनुच्छेद ५:६) और तीन तली ब्राह्मी (अनुच्छेद ५:९)। 'कुपाण-लिपि' का वास्तविक महत्त्व शिरोमय ब्राह्मी के निर्माण में है। तीन-तला लेखन कुषाणोत्तर लेखन-शैलियों की देन है। उसमें कुषाण-शैली की शिरोमयता सुरक्षित रही है, यह पृथक् तथ्य है। स्पष्ट है कि कुषाण-लिपि की अपेक्षा शिरोमय ब्राह्मी और तीन-तली ब्राह्मी मिलकर डा० सरकार की 'मध्यकालीन ब्राह्मी' (मिड्ल ब्राह्मी) का कहीं अधिक पूर्ण एवं उचित प्रस्तुतीकरण करती हैं।

जैसे सरल ब्राह्मी, शिरोमय ब्राह्मी तथा तीन-तली ब्राह्मी—तीनों ही ब्राह्मी की विशिष्ट शैलियों के गुणों के अनुसार रखे गए नाम हैं, उसी प्रकार यदि गुप्तलिपि का नामकरण गुणों के आधार पर करना चाहें तो उसे 'संतुलित ब्राह्मी' कहना चाहिए। ब्राह्मी के इस पुनर्गठन में निम्नलिखित संतुलन एवं औचित्य लाए गए हैं —

(१) ब्राह्मी की मूल प्रकृति ज्यों-की-त्यों है। उसमें स्वर दो रूपों में प्रयुक्त होता है—मूल रूप और मात्रा रूप में। व्यंजन का मूल रूप अ-सहित होता है। किसी व्यंजन में 'अ' से भिन्न स्वर की मात्रा का संयोजन होने पर लिखा गया अतिरिक्त-अ पढ़ा नहीं जाता।

(२) संस्कृत की आवश्यकता के अनुरूप सभी ध्वनिग्रामों के संकेत इस लिपि में विद्यमान हैं। अत: सन्तुलित ब्राह्मी संस्कृत आधार-भाषा के लिए **सम्पूर्ण**[१५] लिपि है।

(३) अन्तिम स्वररहित व्यंजन के लिए विशेष संकेत (जैसे आधुनिक **'हलंत'** है) का इस लिपि में अभाव है। सरल ब्राह्मी में भी यही स्थिति थी।

(४) **'शीर्ष'** को दिखाने के लिए संतुलित शिरोरेखा है जो आधुनिक विस्तृत

क्षैतिज रेखा की अपेक्षा छोटी है। इसमें कुषाण-लिपि की शैली की तरह शीर्ष को मात्र मोटा करना या तिकोना बनाना आवश्यक नहीं समझा जाता।

(५) तलों का लेखन स्पष्टत. विद्यमान है किन्तु वह जगय्यपेट की शैली की भांति मात्र अलंकरण का साधन नहीं है, वरन् **स्पष्टता**[१६] और **'गठन'**[१७] के बीच सन्तुलन रखने के लिए है।

(६) संतुलित ब्राह्मी में अपेक्षाकृत अधिक स्पष्टता लाने के लिए तत्कालीन लिपिकों ने कुछ संकेतों की आकृतियों में सुधार किए। उनके कारण ब्राह्मी में नागरी की ओर विकास के निम्नलिखित गुण आ गए —

(क) ख, ग, श—इन तीनों संकेतों के बाएँ भाग के अन्त में क्षैतिज रेखा इस काल में तो उस भाग को 'सीमित' करती दिखाई देती है किन्तु यही **'समाप्ति का संकेत'** (अथवा 'वन्द') बाद में 'ख' और 'श' के 'र'—जैसे वाम भाग का और 'ग' के 'र' भाग का आधार बना। यह नागरी की ओर विकास है।

(ख) ख, ग, त, न तथा श में वे लक्षण उत्पन्न होने लगे हैं कि ये **गोल अक्षर** न रह कर **पाई वाले अक्षर** बन सकें। पाई का विकास नागरी की ओर विकास का मुख्य लक्षण है।

(ग) घ, प और स—इनमें पाई का विकास हो गया है। 'प' की आकृति तो इतनी अधिक विकसित हो चुकी है कि उसके नागरी-संकेत बनने में केवल शिरो-रेखा की कमी है।

(घ) उ, क, ड, ढ, द, फ, म, र, ल और ह—ये संकेत भी नागरी की ओर विकसित हुए हैं। इनमें से 'उ' की पाई में हल्की-सी लहर है और नीचे के सिरे की आड़ी रेखा गोल हो गई है। यही रेखा कालांतर में 'ड' के निचले सिरे की भाँति बाएँ को घूम गई। 'क' की आड़ी रेखा गोल घूमकर 'चाप' बन गई है। 'ढ' की आकृति में नागरी का संकेत बनने में केवल शिरोरेखा की कमी है। सन्तुलित ब्राह्मी में 'त' की निचली दाहिनी पाई बाईं पाई की अपेक्षा कुछ लम्बी है। 'त' की यह स्थिति कालांतर में उसे पाई वाला व्यंजन बनाने में सहायक हुई है 'द' का दाहिने को कूबड़ समाप्त हो चुका है, बाएँ को कूबड़ का विकास हो सकने की भूमि तैयार हो चुकी है। संतुलित ब्राह्मी में ही वह 'ट' की आकृति के निकट आ रहा है। उसमें पैर के रूप में लटकती छोटी रेखा का अभी कोई चिह्न नहीं है। 'फ' में महाप्राणत्व का वृत्त दाहिने-बाएँ से पिचक गया है। वह वृत्त दाहिने-बाएँ कम फैला हुआ है और ऊपर-नीचे को अधिक। 'फ' के लेखन में तल-रेखा के दाहिने छोर से लौटकर आई रेखा तल रेखा को मध्य में छूती है। यही लम्बा गोला कालांतर में 'प' के साथ जुड़ा हुआ अंश बना है। 'म' की बाईं पाई के निचले छोर पर आड़ी आधार रेखा बाईं ओर बाहर को निकल गई है। यह बढ़ा हुआ अंश कालांतर में 'म' की गाँठ बन गया है। 'र' लगभग आधुनिक आ की मात्रा (ा) के समान है। उसमें हल्की-सी लहर है।

यह लहर वाला अंश ही कालांतर में 'र' का निचला छोर बना है। 'ल' की पाई के निचले छोर का ऊपर उठना समाप्त हो गया है। अब उसकी आकृति में वर्तमान नागरी 'ल' की आकृति झलकने लगी है। कालांतर में यही बायाँ भाग और विकसित हुआ। सरल ब्राह्मी में 'ह' की पाई के निचले छोर से जो मोड़ ऊपर को जाता था, संतुलित ब्राह्मी में वह क्षैतिज होकर कुछ नीचे लटकने लगा है। कालांतर में यही अंश 'ह' की वर्तमान आकृति के विकास में सहायक हुआ।

(ङ) 'आ' की मात्रा अब केवल क्षैतिज रेखा नहीं रही, वरन् उसका दाहिना छोर नीचे झुक गया है। 'इ' की मात्रा स्पष्टत: बाएँ को झुकी है। 'उ' की मात्रा कुछ स्थितियों में आज की उकार की मात्रा के बहुत निकट आ गई है। 'ए' और 'ऐ' की मात्राएँ भी कई व्यंजनों के साथ आधुनिक नागरी की ए-ऐ की मात्राओं-जैसी ही हैं। 'ओ' और 'औ' की मात्राओं की आकृतियाँ तो आधुनिक नागरी से भिन्न हैं किंतु उनका सिद्धांत सरल ब्राह्मी और नागरी के समान है जो इस प्रकार है—

(I) 'आ' की मात्रा और 'ए' की मात्रा मिलकर 'ओ' की मात्रा बनती है।

(II) 'आ' की मात्रा और 'ऐ' की मात्रा मिलकर 'औ' की मात्रा बनती है।

सरल ब्राह्मी में यह नियम सर्वत्र लागू होता था, अत: उसमें **एकरूपता** थी। इसके विपरीत संतुलित ब्राह्मी में 'आ' की मात्रा के अनेक रूप हैं इसीलिए ओ, औ की मात्राओं के भी अनेक रूप हैं। फिर भी संतुलित ब्राह्मी में 'औ' की मात्रा को बनाने में सरल ब्राह्मी के उक्त नियम का पालन सर्वत्र किया जाता है, अत: आकृतिगत अनेक रूपता के रहते हुए भी सैद्धांतिक एकरूपता विद्यमान है। 'ओ' की मात्रा बनाते समय जो तीन रेखाएँ व्यंजन के शीर्ष पर फूल-सी आकृति बनाती हैं, वस्तुत: उनमें से बाईं दोनों रेखाएँ 'ऐ' की मात्रा हैं और दाहिनी रेखा 'आ' की मात्रा है। फिर भी 'औ' की मात्रा इतनी स्पष्टता से सरल ब्राह्मी के नियम के अनुकूल नहीं है, जितनी 'ओ' की मात्रा है। निष्कर्षतः इतना ही कहा जा सकता है कि संतुलित ब्राह्मी की आ, इ, उ, ऋ और ओ की मात्राएँ स्पष्टत: नागरी की ओर विकसित संकेत हैं; ए, ऐ और औ की मात्राएँ कुछ-कुछ नागरी के विकास में सहायक हैं किन्तु ई और ऊ की मात्राएँ ऐसा आकार ग्रहण कर रही हैं, जिसे नागरी की ओर विकास नहीं कहा जा सकता।

७:७ : तत्कालीन विविध शैलियाँ : जिस क्षेत्र की शैलियों से नागरी लिपि के उद्भव तक लिपि-विकास हुआ, उत्तरी भारत का वह लगभग समूंचा क्षेत्र गुप्त-साम्राज्य के अधीन आ जाने से उक्त संतुलित ब्राह्मी नाम से विवेचित विशेष शैली की ब्राह्मी सारे उत्तर भारत के लिए आदरणीय एवं अनुकरणीय हो जाने से समन्वयात्मक प्रभाव उत्पन्न करने में सफल तो हुई, किन्तु विविध स्थानों की शैलियों का वैशिष्ट्य नितांत समाप्त हो जाना असम्भव था। अपने सहज विकास के कारण विभिन्न क्षेत्रों में लेखन की स्थानीय विशेषताएँ भी रही हैं। आगे चित्र ७:२ में चार प्रकार की विशिष्ट शैलियों के संकेत[१८] दिखाए गए हैं।

[64/[illegible]]	अ	ज	ट	थ	द	न	म	ह	स्रोत
(१) ≃ ३५०									इलाहाबाद
(२) ≃ २७५									दक्षिणपूर्व
(३) ≐ ४२५									उदयगिरि
(४) ≃ ३००									गुज०-मा०

चित्र ७:२

(१) पहली पंक्ति में इलाहाबाद-स्तम्भ-लेख से लिए गए संकेत संतुलित ब्राह्मी के ठेठ रूप के प्रतिनिधि हैं। इनका समय चौथी शताब्दी ईस्वी के लगभग मध्य का है।

(२) दूसरी पंक्ति में इक्ष्वाकुओं के शिलालेख से लिए गए संकेत[१९] दक्षिण भारत और पूर्वी भारत के मध्य की लेखन-शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसका समय ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी के अन्तिम छोर के लगभग है। ये संतुलित ब्राह्मी से पूर्व की स्थिति के द्योतक हैं।

(३) तीसरी पंक्ति में दिखाए गए उदयगिरि-गुफा-लेख से लिए गए संकेत[२०] मध्य भारत और राजस्थान की उस शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे डॉ० सु० कु० चट्टोपाध्याय के अनुसार **'आदि-नगरी'**, **'गूर्जर लिपि'** या **'नागर लिपि'** कहा जाना चाहिए। इनका समय सन् ४२५ है। यह काल इलाहाबाद-स्तम्भ-लेख के बाद का है।

(४) चौथी पंक्ति के सकेत[२१] गुजरात मालवा की शैली का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये बडवा, नंदसा और बर्नल-यूप के लेखों से लिए गए हैं। इनका समय सन् २८२ से ३३५ के मध्य का है। इस प्रकार ये भी संतुलित ब्राह्मी के पहले की स्थिति प्रकट करते हैं।

इन चार विविध स्थानों की लगभग डेढ़ सौ वर्षों की शैलियों के अनेक संकेत लगभग एक जैसे हैं, अतः उन्हें यहाँ उद्धृत करना उचित नहीं समझा गया। यहाँ केवल वे आठ संकेत दिखाए गए हैं जो मूल-संकेतों की इन विविध स्थानों की प्रकृतियों का प्रतिनिधित्व कर सकते हैं।

इन संकेतों में से प्रत्येक के तुलनात्मक अध्ययन से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

अ

दक्षिण-पूर्व (पंक्ति २) तथा उदयगिरि की राजस्थानी शैली (पंक्ति ३) में जगय्यपेट के तीन-तले लेखन के अतिशय अलंकरण का अवशेष विद्यमान है किन्तु गुजरात-मालवा-शैली (पंक्ति ४) तथा इलाहबाद की गुप्तलिपि अथवा संतुलित ब्राह्मी (पंक्ति १) में वह प्रभाव लुप्त हो चुका है। बाद में नागरी में यह अलंकरण

समाप्त हो गया । केवल मात्राएँ ऊपर-नीचे रह गई, जिसे अलंकरण की अपेक्षा संतुलन कहना अधिक संगत है । वह संतुलन स्पष्टता के लिए आवश्यक था ।

इस प्रकार राजस्थानी शैली सन् ४२५ में भी नागरी से दूर जा रही है, जबकि इलाहबाद की गांगेय प्रदेश की शैली सन् ३५० में नागरी की ओर प्रवृत्त है । इससे भी पहले गुजरात-मालवा प्रदेश नागरी की ओर प्रवृत्त है जो और भी आश्चर्य-जनक तथ्य है ।

'अ' के बाएँ भाग में आए मोड़ को तुलनात्मक रूप से देखा जाए तो राजस्थानी शैली (पंक्ति ३) ने बाएँ निचले छोर पर जिस चाप को बाईं ओर मोड़ दिया है, वह उस 'अ' के संकेत का पूर्वाभास है, जिसे 'उ' से बनाया जाता है और जिसका विकास 'पूर्वी' भाग में हुआ । अतः यहाँ यह आश्चर्य की बात है कि बाद में पूर्व, दक्षिण और दक्षिण पूर्व में अधिक प्रचलित होने वाले इस 'अ' का प्रथम संकेत राजस्थानी शैली में मिलता है ।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इन चारों कोनों के लिपिकों के स्थानीय प्रवृत्तियों से प्रभावित होने पर भी उनकी शैलियों पर दूर-दूर के प्रदेशों की प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा है । स्पष्ट है कि इसके बाद के लिपि-विकास में किसी एक क्षेत्र की लिपि को ही मूल मान लेने से अनुचित निर्णय हो सकते हैं ।

ज

इलाहाबाद की शैली 'ज' (पंक्ति १) और उदयगिरि की शैली का 'ज' (पंक्ति ३) अन्य दोनों की अपेक्षा इसलिए विशिष्ट हैं कि उनकी शिरोरेखा अन्यों के समान ही पूर्णतः क्षैतिज होकर भी उनकी सबसे नीचे की रेखा (तल रेखा) दाहिने को झुक गई है । बाद में नागरी के 'ज' के निर्माण में इसी दाहिने झुकाव ने सहायता की । इन दोनों शैलियों में से भी इलाहाबाद-शैली (पंक्ति १) में यह झुकाव बहुत अधिक है जिसने बाद में कुटिल और नागरी के 'ज' के उद्भव का मार्ग प्रशस्त किया है । इस अध्ययन से ब्राह्मी की शाखाओं में से नागरी के उद्भव के विषय में गौ० ही० ओझा का मत (अनुच्छेद ६:४:१) उचित टहरता है तथा डॉ० सु० कु० चट्टोपाध्याय का मत (अनुच्छेद ६:४:४) असंगत प्रतीत होता है ।

ट

इलाहाबाद-शैली (पंक्ति १) और गुजरात-मालवा-शैली (पंक्ति ४) में 'ट' का समकोणत्व नागरी के 'ट' की आकृति के अनुकूल नहीं है; वह नागरी के 'ट' के उद्भव में बाधक है । दक्षिण-पूर्वी शैली (पंक्ति २) और राजस्थानी शैली (पंक्ति ३) में 'ट' की गोलाई नागरी 'ट' के उद्भव में सहायक है ।

यह विचित्र संयोग है कि यहाँ गांगेय प्रदेश की शैली (१) और राजस्थानी शैली (३) एक दूसरे से दूर हैं, जबकि दक्षिण-पूर्व (२) और राजस्थान (३)

की शैलियों में निकटता है। यदि सभी अक्षरों की तुलना की जाए तो अधिकांशत: इलाहाबाद की गांगेय शैली (१) और राजस्थान की शैली (३) में अधिक साम्य है तथा दक्षिण पूर्वी शैली (२) का गुजरात-मालवा की शैली (४) से अधिक नैकट्य है। केवल 'अ', 'उ' और 'ट' के विषय में शैली २, ३ में अधिक साम्य है। 'अ' में केवल पाई को लम्बी करके नीचे से बाएँ मोड़कर ऊपर ले जाने के अलंकरण-मात्र का साम्य है। 'उ' का साम्य सब स्थानों पर एक ही प्रवृत्ति बनी रहने के कारण है। शेष तीनों शैलियों की तुलना में इलाहाबाह की शैली ने ही पाई के निचले छोर को दाहिने घुमाने के पश्चात् नीचे से घुमाकर थोड़ा बाएँ ले जाने की अतिरिक्त रेखा की प्रवृत्ति दिखाई है; शेष तीनों शैलियों में पाई के निचले छोर को दाहिने तो घुमाया गया है, पुन: बाएँ नहीं घुमाया गया। इसी प्रकार 'ट' के विषय में तथ्य यह है कि यहाँ दिखाई गई शैलियों में से (२) तथा (३) का 'ट' ब्राह्मी के पूर्व-प्रचलित 'ट' को बनाए रखने के कारण समान है, जबकि पश्चिम में कोणात्मक लेखन प्राय: हुआ है। (मिहिरावली या महरौली में स्थित लौह-स्तम्भ पर लिखा 'चन्द्र' का लेख विशेष रूप से कोणात्मक लेखन प्रस्तुत करता है) और इलाहाबाद का यह कोणात्मक 'ट' अपवाद के रूप में कोणात्मकता से प्रभावित है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि दक्षिण-पूर्व और राजस्थान के 'ट' —जैसे साम्य मात्र अपवाद हैं। इनके आधार पर कोई निर्णय नहीं किया जाना चाहिए।

थ

सरल ब्राह्मी का केंद्रसहित वृत्त 'थ' के रूप में इस १५० वर्ष के काल में प्राय: समस्त उत्तर भारत में विद्यमान है। केवल इलाहाबाद-शैली (१) ने 'थ' का जो नया रूप (विकल्प रूप से) प्रस्तुत किया, वह बाद में नागरी के 'थ' के उद्भव की ओर संकेत करता है। उसके ७५ वर्ष (लगभग) बाद भी राजस्थानी शैली (३) में ब्राह्मी का पुराना 'थ' ही प्रचलित है।

इससे यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इलाहाबाद-स्तम्भ-लेख जिस गांगेय प्रदेश का प्रतिनिधित्व करता है, उसमें नागरी के उद्भव के अधिक संकेत विद्यमान हैं। इस अध्ययन से भी गौ० ही० ओझा का मत उचित प्रतीत होता है और डॉ० सुनीति कुमार चट्टोपाध्याय का मत असंगत प्रतीत होता है।

द

चारों प्रकार के 'द' उस विकास की ओर संकेत करते हैं, जिससे नागरी का 'द' उद्भूत हुआ। 'द' का गोल भाग आजकल बाएँ को निकला हुआ है। ब्राह्मी के मूल 'द' का वह कूबड़ दाहिने को निकला हुआ था (दे० चित्र ५:१); किन्तु सन्तुलित ब्राह्मी तक पहुँचते-पहुंचते कूबड़ की दिशा बदल चुकी है। चारों शैलियों में यह विकास समान रूप से विद्यमान है। अन्तर केवल इतना हे कि खड़ी पाई का

भाग किसी में अधिक अनुपात में स्थान घेरता है, किसी में कम। यदि किसी शैली में पाई का भाग अधिक लम्बा हो गया है, तो गोले का भाग पिचक गया है ताकि सभी वर्णों की ऊँचाई बराबर रहे। इस अनुपात-भेद से सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं पड़ा, अतः इसे उद्भव के किसी मत से जोड़ना उचित नहीं है।

इस 'द' की भाँति अन्य अनेक संकेत चारों शैलियों में लगभग समान सिद्धान्त पर बनते हैं। यह 'द' उन सब का प्रतिनिधित्व करता है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस काल की विभिन्न शैलियों के संकेतों में से अधिकांश एक ही सिद्धान्त से बने हैं। अतः उनसे किसी उद्भव के सिद्धान्त का निर्णय नहीं किया जा सकता।

न

देखने में चारों शैलियों के दो बड़े भाग प्रतीत होते हैं—(एक) उस शैली का वर्ग जिसमें खड़ी रेखा एक फाँस बनाकर आधुनिक नागरी के 'क' से मिलती-जुलती आकृति का 'न' का संकेत बनाती है। इस वर्ग में शैली (१), (२) तथा (४) सम्मिलित हैं। (दूसरा) अकेले राजस्थानी शैली का वर्ग जिसमें पाई के बाद फाँस की दोनों रेखाएँ इतनी सट जाती हैं कि वे एक मोटी रेखा का भ्रम उत्पन्न करती हैं; साथ ही इस शैली में समाप्ति के लिए शेष भाग सीधा खड़ा न रहकर कुछ क्षैतिज झुकाव ले लेता है। राजस्थानी शैली (३) में जो नई विशेषता फाँस को बन्द करके मोटी रेखा बना देने की है, इसने बाद में नागरी के 'न' के उद्भव का मार्ग प्रशस्त किया है। अतः यह निःसन्देह नागरी की ओर विकास है।

दूसरी ओर पहले वर्ग की तीनों शैलियों—(१), (२) और (४) को ध्यान से देखने से स्पष्ट होता है कि शैली (२) और (४) की **समापक रेखा** गोलाई लेकर हल्की-सी बाएँ को मुड़ जाती है, जबकि शैली (१)—इलाहाबाद-स्तम्भ-लेख की शैली—की समापक रेखा सीधी खड़ी तो है ही, उसकी अन्तिम नोक कुछ दाहिने को मुड़ती भी प्रतीत होती है। यह विशेषता बाद में 'क', 'फ' और 'ऊ' के उद्भव का कारण तो बनी ही, इसने उस विशेष **'चरण-संकेत'** (फुटमार्क) को भी जन्म दिया जो नवीं-दसवीं शताब्दी ईस्वी में नन्दिनागरी तथा नागरी के प्रत्येक व्यंजन की समाप्ति का सूचक बना रहा[२२] और आज 'हलन्त' संकेत कहलाता है।

यह 'न' का संकेत इसी प्रवृत्ति वाले ग, ण, त, ध और ल का भी प्रतिनिधित्व कर सकता है। इन न-सहित छः व्यंजनों के राजस्थानी रूप निःसन्देह नागरी की ओर विकास का संकेत देते हैं, किन्तु ठीक इन्हीं संकेतों के इलाहाबाद शैली के रूपों से भी नागरी के इन संकेतों के विकास की ओर बढ़ने का आभास प्रतीत होता है। जहाँ यह निःसन्देह सत्य है कि सन्तुलित ब्राह्मी के पश्चात् लगभग सारे उत्तर भारत में फैलने वाली कुटिल लिपि के इन वर्णों के संकेत इलाहाबाद शैली से ही प्रभावित हैं, वहाँ नागरी के इन वर्णों के संकेतों में इलाहाबाद-शैली के भी और राजस्थानी शैली के भी गुण मिल गए प्रतीत होते हैं।

इस तुलनात्मक अध्ययन से डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय के मत (अनुच्छेद ६:४:४) को माना तो जा सकता है, किन्तु गौ० ही० ओझा के मत (अनुच्छेद ६:४:१) को नकारा नहीं जा सकता। बाद में **मंदसोर-लेख**[२३], **वसंतगढ़-लेख**[२४], **नागदा-लेख**[२५] और **झालरापाटन-लेख**[२६] में जो आधुनिक नागरी के 'न' के बहुत समीप का 'न' दिखाई देता है, वह राजस्थान और मध्य भारत के क्षेत्रों में होकर भी इलाहाबाद-शैली और राजस्थानी शैली — दोनों के गुण लिए हुए है, जिन्हें क्रमशः 'खड़ी पाई' और 'बंद फांस' कहा जा सकता है।

स

गुजरात-मालवा-शैली (४) में कुषाण-लिपि का दिया हुआ शीर्ष तो विद्यमान है किन्तु ब्राह्मी-काल से वाएँ को जोड़ी जा रही लटकती हुई रेखा इस शैली तक पहुँचते-पहुँचते बहुत छोटी रह गई है। नागरी से इस विकास का कोई सम्बन्ध नहीं है। इलाहाबाद की शैली (१) का 'स' अपेक्षाकृत नया विकास प्रस्तुत कर रहा है कि बाएँ भाग की अतिरिक्त रेखा के बदले मध्य में फाँस बन गई है। इस फाँस ने बाद में अन्य क्षेत्रों को भी प्रभावित किया। इसने राजस्थानी शैली पर भी विशेष प्रभाव डाला। नागरी के 'स' का उद्‌भव तो सम्भवतः राजस्थानी शैली (३) से ही मानना पड़ेगा, किन्तु उसके लेखन में आधुनिक 'स' में 'र' और 'ा' भाग को मिलाने वाली क्षैतिज रेखा बाएँ शीर्ष बिंदु से प्रारम्भ होती थी। इलाहाबाद की शैली के प्रभाव से वह क्षैतिज रेखा मध्य में आ गई। दक्षिण-पूर्व की शैली (२) ब्राह्मी के मूल रूप के बहुत कुछ निकट बनी हुई है।

इस तुलनात्मक अध्ययन से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि राजस्थानी शैली से नागरी का उद्‌भव हुआ और उस पर गांगेय प्रदेश में हो रहे लिपि-विकास का भी प्रभाव पड़ा। इसे डॉ० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय के नागरी के उद्‌भव सम्बन्धी मत (अनुच्छेद ६:४:४) का मामूली संशोधित रूप कहा जा सकता है।

ह

राजस्थानी शैली (३) का 'ह' नागरी के वर्तमान 'ह' की ओर सबसे कम विकसित है। इलाहाबाद-शैली (१) का 'ह' नया रूप धारण कर रहा है किन्तु वह भी नागरी के 'ह' की ओर अग्रसर नहीं है। गुजरात-मालवा-शैली (४) में लगभग ३०० ई० में और उससे भी अधिक भारत के लगभग दूसरे छोर पर दक्षिण-पूर्व की शैली (२) में एक शताब्दी के पश्चात् नागरी के 'ह' की ओर विकास दिखाई देता है।

'ह' के इन रूपों का तुलनात्मक अध्ययन यह सिद्ध करता है कि नागरी का विकास गुजरात और उड़ीसा में हुआ। यह निष्कर्ष भौगोलिक स्थिति को देखते हुए मान्य नहीं हो सकता। 'ह' जैसी स्थिति अन्य किसी संकेत की नहीं है। अतः इस संकेत को भी 'ट' की भांति नए प्रकार का अपवाद कहा जा सकता है।

७:८ : **निष्कर्ष** : इन कुछ संकेतों के माध्यम से प्रायः वे सभी उदाहरण प्रस्तुत हो गए हैं जिनके आधार पर विभिन्न विद्वानों ने यह निर्णय करने का प्रयत्न किया है कि नागरी का उद्भव ब्राह्मी की किस शाखा से हुआ। जिन संकेतों को यहाँ नहीं दिखाया गया, उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनमें सर्वत्र एक ही सिद्धांत है, अतः उनके आधार पर निर्णय नहीं किया जा सकता। शेष में से कोई यहाँ दिखाए गए किसी एक के अनुसार प्रवृत्ति दिखाता है या दूसरे के अनुसार। इसीलिए इन चुने हुए प्रतिनिधि संकेतों के आधार पर वस्तुस्थिति की परख तर्क-सम्मत रूप में सम्भव है।

उपरि-प्रस्तुत तुलनाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि गांगेय प्रदेश का लेखन और राजस्थान का लेखन निकटतर है। उनका आपस में सम्बन्ध है। वास्तव में ये नागरी के उद्भव का आधार प्रदान करने वाले स्थान हैं। इसके विपरीत दक्षिण-पूर्व और गुजरात-मालवा की शैलियों में नागरी की ओर विकास कम है।

गांगेय प्रदेश में जो संतुलित ब्राह्मी का विकास हुआ, उससे राजस्थानी शैली भी प्रभावित हुई और राजस्थानी शैली का प्रभाव बंगाल तक पहुँचा। इस स्थिति में नागरी का उद्भव मात्र गांगेय शैली से या मात्र राजस्थानी शैली से मानना उचित नहीं कहा जा सकता। परिणामतः गौ० ही० ओझा और डॉ० सु० कु० चट्टोपाध्याय के मत सर्वत्र समान रूप से संगत अथवा असंगत सिद्ध नहीं हो सकते। किसी एक वर्ण के संकेत का विकास ओझा के अनुसार ठीक है तो अन्य संकेत का विकास डॉ० चट्टोपाध्याय के मत के अनुसार ठीक है। स्पष्ट है कि उत्तर भारत की चौथी-पाँचवीं शताब्दी की लेखिन-पद्धतियों को शैलियों की सीमाओं में बन्द रहकर विकसित होते रहने की कल्पना ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल नहीं खाती। इन शैलियों के परस्पर प्रभावों को देखते हुए शैलियों को कुलों और सीमाओं में बाँध कर उचित निर्णय नहीं किए जा सकते।

इस विवाद का एक ही समाधान सम्भव है कि संकेतों में जो विशेष विकास हुए हैं, उनको **प्रवृत्तियों** के अनुकूल देखा जाए। इस प्रबन्ध की सरल-ब्राह्मी, शिरोमय-ब्राह्मी, तीनतली-ब्राह्मी और संतुलित ब्राह्मी की धारणा इसी सिद्धांत पर आधारित है।

प्रवृत्तियों के आधार पर इलाहाबाद-शैली अथवा संतुलित ब्राह्मी के विषय में कहा जा सकता है कि इस शैली ने तीन-तले लेखन के व्यर्थ फैलाव को कम करके संकुचिततर लेखन प्रस्तुत किया और जगय्यपेट के अलंकरण के अनावश्यक अंगों को त्याग कर स्पष्टता की सीमा तक उसका संतुलित प्रयोग प्रस्तुत किया। संतुलित ब्राह्मी द्वारा दी गई यह संतुलन की प्रवृत्ति अब तक नागरी में विद्यमान है। अतः नागरी के उद्भव के इतिहास में संतुलित ब्राह्मी की भूमिका को महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है।

१. भा० प्रा० लि०, पृ० ६०
२. हि० इं० (आ०), पृ० ६५
३. वही, पृ० ६६
४. भा० प्रा० लि०, पृ० १७५
५. हि० इं० (आ०), पृ० ६६-६७
६. भा० प्रा० लि०, पृ० ६०
७. हि० इं० (आ०), पृ० ६७ का मानचित्र
८. विशेष व्याख्या के लिए द्रष्टव्य इसी प्रबंध का अनुच्छेद ५:९ तथा चित्र ५:३५
९. बाद में कुटिल-लिपि के समय एक और अलंकरण हुआ, उसे द्वितीय-अलंकरण कहा गया है। उसकी व्याख्या अध्याय ८ में दी गई है।
१०. गु० इं० (फ्लो०), प्लेट १; भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १६; ,इं० पे० (दा०), प्लेट १०(१)
११ इं पे० (दा०), पृ० १०२
१२. वही, पृ० १२२
१३. '—३' वाली पंक्तियों के सरल ब्राह्मी के अक्षर भा० प्रा० लि० के लिपिपत्र १, २ तथा दानी के फलक ३, ४ से लिए गए हैं और '+४' वाली पंक्तियों के अक्षर ऊपर पाद-टिप्पणी १० में संदर्भित तीनों स्रोतों से संकलित किए गए हैं।
१४. सी० इं०, जि० १, पृ० २६३ की पाद-टिप्पणी १
१५. जिस लिपि में आधार भाषा को बोलने वालों द्वारा माने जा रहे शुद्ध उच्चारण के अनुकूल लिखने-छापने के लिए आवश्यक सभी संकेत विद्यमान हों, उस लिपि को 'सम्पूर्ण' कहते हैं और जिसमें शुद्ध लिखने-छापने के लिए संकेत का अभाव हो, उसे 'असम्पूर्ण' कहते हैं।
१६. किसी लिपि का वह गुण स्पष्टता कहलाता है जिसके अनुसार उसके प्रत्येक संकेत को अन्य संकेतों से भिन्न रूप में समझा जा सकता है।
१७. किसी लिपि का वह गुण 'गठन' कहलाता है, जिसके अनुसार लिपि के संकेतों को इतना निकट रखा जाता है कि उन्हें लिखने के लिए हाथ को और पढ़ने के लिए आँख को अनावश्यक रूप से दूर ले जाने की असुविधा न ढोनी पड़े।
१८. गु० इं० (फ्लो०), प्लेट १; भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १६; इं० पे० (दा०), प्लेट १०—इन तीनों से संकलित।
१९. इं० पे० (दा०), प्लेट ९ से संकलित
२०. वही, प्लेट १३ से संकलित
२१. वही, प्लेट ९ से संकलित
२२ अध्याय ८ में चरण-संकेत पर विस्तार से विवेचन किया गया है।
२३. यशोधर्मन का मंदसोर स्थान पर का शिलालेख, गु० इं० (फ्ली०), पृ० १४६-४७, सन् ५३७
२४. वर्मलात का वसंतगढ़ पर का शिलालेख, ए० इं०, जि० ९, पृ० १९१-९२, सन् ६२७
२५ अपराजित का नागदा पर का शिलालेख, ए० इं०, जि० ४, पृ० ३१-३२, सन् ६६१
२६. दुर्गण का झालरापाटन पर का शिलालेख, इं० एं०, जि० ५, पृ० १८१-८२, सन् ६८९

८ अलंकृत लिपि

८:१ : **कुटिल लिपि अर्थात् अलंकृत लिपि** : गौ० ही० ओझा के अनुसार "ई० स० की छठी से नवीं शताब्दी तक की बहुधा सारे उत्तरी भारतवर्ष की लिपि का, जो गुप्त लिपि[1] का परिवर्तित रूप है, नाम 'कुटिल लिपि' कल्पना किया गया है,"[2] इस कथन से स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत राजस्थान-मालवा, मथुरा, मध्य गांगेय प्रदेश, वंगाल एवं पूर्वी भारत की लिपि-शैलियाँ समाविष्ट हो जाती हैं। बूलर ने इसकी उपशाखाएँ तो दिखाई हैं, किन्तु मोटे तौर पर वे भी इन्हें **'न्यूनकोणीय और नागरी शैलियाँ'** शीर्षक से अभिहित करके[3] उनके परिवर्तनों के ब्यौरे वर्णशः देते हैं।[4] डॉ० दानी इस काल को **'दी प्रोटो रिजनल स्क्रिप्ट्स'** (अर्थात् **'आद्य प्रादेशिक लिपियाँ'**) **नामक** शीर्षक के अन्तर्गत[5] उत्तर भारत, मध्य भारत (राजस्थान, गुजरात, मध्य प्रदेश), दक्कन (कन्नड़ एवं तेलुगु भाषाओं का प्रदेश) तथा दक्षिणी भारत के भागों में विभाजित करके एक-एक विभाग का पृथक्-पृथक् विवेचन प्रस्तुत करते हैं। अन्तर दिखाते समय उन्हें यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा है कि एक क्षेत्र की शैली दूसरे क्षेत्र की शैली को प्रभावित करती है; जैसे मथुरा की शैली का गांगेय-शैली पर प्रभाव।[6] अतः उत्तर भारत की लिपि-शैलियों को छठी शताब्दी से लेकर वर्तमान भारतीय लिपि-विशेष के उद्भव तक किसी एक नाम से पुकारना अवैज्ञानिक नहीं है। इसका अन्तिम छोर इसलिए निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि इस तथाकथित कुटिल लिपि से उद्भूत शारदा, गुरुमुखी, नागरी, बंगला इत्यदि लिपियों के उद्भव का काल भिन्न-भिन्न है।

उत्तर भारत में संतुलित ब्राह्मी से अनेक शैलियाँ विकसित हुईं। उनके भिन्न-भिन्न नाम जाति, व्यक्ति, प्रदेश, गुण इत्यादि के आधार पर कल्पित किए गए। इन सभी शैलियों को एक ही सामूहिक नाम से पुकारने के लिए गौ० ही० ओझा द्वारा स्वीकृत **'कुटिल लिपि'** नाम प्रायः प्रयुक्त होकर भी सर्वमान्य नहीं है।

आगे के पृष्ठों पर इस लिपि के गुणों का विस्तार से विवेचन किया गया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि यदि प्रवृत्ति के आधार पर इस लिपि का नामकरण करना चाहें तो इसे **'अलंकृत लिपि'** कहना चाहिए।

उपरिविवेचित कारणों से छठी शताब्दी से उत्तरी भारत में प्रचलित विविध शैलियों को सामूहिक नाम कुटिल लिपि या अलंकृत लिपि से पुकारते हुए उनके तत्त्व पृथक् किए जा रहे हैं ताकि उनकी वे प्रवृत्तियाँ खोजी जा सकें जिन्होंने नागरी के उद्भव में सहायता की।

नागरी के उद्भव-काल तक इन शैलियों के थोड़ा-बहुत परिवर्तित रूपों को अलंकृत-लिपि के अन्तर्गत ही माना गया है। इस प्रकार अलंकृत-लिपि का काल छठी शताब्दी से प्रारम्भ होकर नागरी के उद्भव-काल तक है।

८:२ : अलंकृत लिपि की सामान्य विशेषताएँ : विभिन्न विद्वानों ने अलंकृत लिपि (कुटिल लिपि) की निम्नलिखित सामान्य विशेषताओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है—

८:२:१ : न्यूनकोणीय पाई : यहाँ चित्र ८:१ में छः संकेत दिखाए गए हैं।[७] इनमें से संकेत १ और ४ सन् ५८८ ई० के हैं और ठेठ अलंकृत लिपि (कुटिल लिपि) के उदाहरण कहे जा सतते हैं। संकेत २, ५ अलंकृत लिपि के गुणों
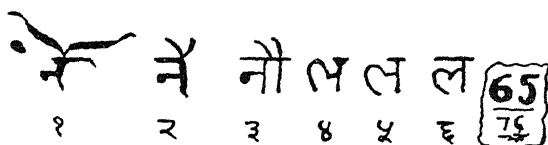
चित्र ८:१

को छोड़ते हुए नागरी की ओर विकासमान संकेत हैं। ये सातवीं शताब्दी के मध्य के काल के हैं। संकेत ३, ६ आधुनिक नागरी के हैं। इस प्रकार चित्र ८:१ के संकेतों में से संकेत १ से तीन तक तथा संकेत ४ से ६ तक क्रमिक विकास देखा जा सकता है।

चित्र ८:१ के संकेत १ में अलंकृत लिपि में 'नौ' लिखा है इसके 'न' की पाई में विशेष प्रकार की वक्रता है। गौ० ही० ओझा ने इस पाई पर टिप्पणी करते हुए लिखा है : 'कुटिल लिपि में अक्षरों की खड़ी रेखाएँ नीचे की तरफ बांई ओर मुड़ी होती हैं...'[८] किन्तु चित्र के प्रथम संकेत की पाई को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि पाई का निचला भाग बाईं ओर नहीं वरन् दाहिनी ओर झुका है। वह धरातल की कल्पित रेखा पर बाईं ओर लगभग ४५ अंश का कोण बनाता है और दाहिनी ओर १३५ अंश का। इसके इसी झुकाव के कारण बूलर इसे **'न्यूनकोणीय'** कहने के पक्ष में हैं।[९]

चित्र ८:१ के संकेत १ की पाई को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) ऊपरी अंश—सीधी खड़ी रेखा
(२) निचला अंश—टेढ़ी रेखा (स्लैंटिंग लाइन)

इस दूसरे अंश को **'चरण-संकेत'**[१०] भी कहते हैं। कुटिल लिपि की प्रथम अवस्था में चित्र ८:१ के संकेत १ की पाई में दोनों अंश स्वाभाविक वक्रता के कारण बने हैं; किन्तु इस शैली के विकसित होने पर टेढ़ी रेखा का यह 'चरण-संकेत' कहा जाने वाला अंश अलंकरण की विशेष प्रवृत्ति के रूप में रूढ़ हो गया और प्रत्येक खड़ी पाई के अन्त में इसे अतिरिक्त संकेत के रूप में जोड़ा जाने लगा।

८:२:२ : शीर्ष : इस लिपि के अक्षरों के सिर पर बहुधा भरा हुआ त्रिकोण होता है, जैसा चित्र ८:१ के संकेत ४ में 'ल' की खड़ी पाई के सिर पर है। कभी-कभी इसके बदले छोटी-सी आड़ी लकीर बनाई जाती है।[११] यहाँ चित्र ८:१ के संकेत ५ में 'ल' का शीर्ष आड़ी लकीर से ही बना है।

बूलर इस भरे तिकोन को कील-शीर्ष मानते हुए इस लिपि को **कील-शीर्ष वाली लिपि** भी कहते हैं।[१२]

अध्याय ५ में शिरोमय ब्राह्मी (अनुच्छेद ५:६) में शीर्ष के विकास का विवेचन किया गया था। संतुलित ब्राह्मी में इसे अनावश्यक अलंकरण समझकर त्याग दिया गया। अलंकरण की इस दूसरी लहर में शिरोमय ब्राह्मी का यह शीर्ष न केवल पुनः प्रतिष्ठित हुआ वरन् ठोस तिकोन के रूप में निश्चित एवं स्थिर आकार में रूढ़ होकर कई शताब्दियों तक बना रहा।

८:२:३ : मात्राएँ : इस लिपि में स्वरों की मात्राएँ अधिक टेढ़ी-मेढ़ी और लम्बी होती हैं। गौ० ही० ओझा के मतानुसार ता इस लिपि की मात्राओं का टेढ़ा-मेढ़ा और लम्बा होना ही इसके 'कुटिल लिपि' कहलाने का कारण है।[१३]

चित्र ८:१ के सकेत १ और संकेत २ की तुलना से स्थिति अधिक स्पष्ट हो जाती है। संकेत १ अलंकृत लिपि की मूल प्रकृति का प्रतिनिधित्व करता है। दोनों संकेतों में 'नौ' लिखा है। संकेत १ में 'न' के कील-शीर्ष में से शिरोरेखा दाहिने को निकल कर अन्त में नीचे को ४५ अंश पर टेढ़ी झुक गई है। यह 'आ' की मात्रा है। ऊपर सींगों के सदृश दो भिन्न दिशाओं में फैली 'ऐ' की मात्राएँ विशेष प्रकार के सौंदर्य से सम्पन्न हैं, 'न' के दाहिने-बाएँ के फैलाव से अधिक फैली हैं और तीन या उससे अधिक स्थानों पर दिशा बदलने के कारण अधिक टेढ़ी-मेढ़ी हैं। इस संकेत की तुलना में संकेत २ में 'नौ' की तीनों मात्राएँ छोटी भी हैं और सरल भी हैं। उसमें बाईं तरफ शिरोरेखा-जैसी मात्रा और ऊपर बाएँ झुकी मात्रा 'ऐ' की दो मात्राएँ हैं और ऊपर दाहिने को टेढ़ी खड़ी मात्रा 'आ' की मात्रा है। ये तीनों मात्राएँ मिलकर 'औ' की मात्रा बनाती हैं।

८:२:४ : नागरी से समानता : बहुत से अक्षरों की आकृतियां नागरी-जैसी दिखाई देने लगी हैं। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से समानता-सूचक सूचियाँ

प्रस्तुत की हैं। आगे उन पर विस्तृत विचार किया गया है, अतः यहाँ विभिन्न सूचियाँ देना आवश्यक नहीं समझा गया।

८:३ : सामान्य विशेषताओं का परीक्षण : छठी शताब्दी से उत्तरी भारत की सभी लिपि-शैलियों में अलंकृत लिपि की उक्त सामान्य विशेषताएँ न्यूनाधिक रूप में दृष्टिगोचर होती हैं। नीचे इनका परीक्षण करके यह ज्ञात करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि इनमें से किस-किस विशेषता के प्रभाव से नागरी का उद्‌भव हुआ।

८:३:१ : न्यूनकोणीय पाई : उत्तरी भारत की और दक्षिणी भारत की लिपियों में एक प्रमुख अन्तर यह है कि उत्तरी भारत की लिपियों के संकेतों में दाहिने भाग पर प्रायः एक खड़ी रेखा होती है, जिसे हिन्दी में **'पाई'** कहने का प्रचलन है। यहाँ चित्र ८:२ में 'ग' और 'य' के संकेत भारत की वर्तमान विभिन्न लिपियों में दिखाए गए हैं।[१४] तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि दक्षिण भारत की तेलुगु, कन्नड़ मलयालम् और तुलु (संकेत ११, १२, १३, १४) लिपियों ने इस पाई को

चित्र ८:२

छोड़ दिया है। तमिल (संकेत १५) ने **कोणीय सौंदर्य** की विशेष पद्धति अपनाने के कारण कई संकेतों में[१५] (जैसे यहाँ दिखाए गए 'य' में) उत्तरी भारत की लिपियों के समान पाई सुरक्षित रखी है। इसके विपरीत ब्राह्मी और उत्तरी लिपियों में ए, ऐ, ङ और ल में पाई का अभाव है किन्तु तमिल लिपि में इन संकेतों में भी पाई का सृजन कर लिया गया है।[१६] नागरी-संकेतों में से अ, च, ब, ष – इन चार वर्णों की पाई तो सिंधुकाल से चली आ रही है,[१७] किन्तु ख, ग, घ, ज, झ, ञ, ण, त, थ, ध, न, प, भ, म, य, ल, व, श, स जैसे अन्य व्यंजन बड़ी संख्या में हैं जिनमें पाई का विकास बाद में हुआ। इनमें पाई का विकास होने में अलंकृत लिपि की न्यूनकोणीय पाई की महत्त्व-पूर्ण भूमिका रही है। इस तथ्य की स्पष्टता के लिए विविध लेखों से लिए गए 'व' के कुछ

चित्र ८:३

रूप यहाँ चित्र ८:३ में दिखाए गए हैं।[१८] इन संकेतों का काल क्रमशः इस प्रकार है—

संकेत-१ : ईसापूर्व ३५००; संकेत-२ : ईसापूर्व ३०० (लगभग); संकेत-३ : ईसापूर्व दूसरी शताब्दी से ईस्वी सन् की पहली शताब्दी तक; संकेत-४ : पहली से

तीसरी शताब्दी ईस्वी; संकेत-५ : छठी शताब्दी ई०; संकेत ६ : सातवीं शताब्दी ई०; संकेत-७ : नवीं शताब्दी ई०; संकेत-८ : सत्रहवीं शताब्दी ई० ।

इन संकेतों से नागरी के 'व' का विकास समझा जा सकता है। द्रष्टव्य है कि पहले चार संकेतों में 'पाई' नहीं है। पाँचवीं शताब्दी तक 'व' गोल व्यंजन है, जैसे आधुनिक नागरी के ट, ठ, ड, ढ, ह इत्यादि व्यंजन संकेत हैं। पांचवें संकेत (छठी शताब्दी) में दाईं ओर पाई का आ जाना निःसंदेह महत्त्वपूर्ण विकास है। यह ऐसा सैद्धान्तिक विकास है, जिसके कारण आज की उत्तरी भारत की लिपियाँ विशिष्ट वर्ग की लिपियाँ बनी हैं।

'व' की कहानी ऐसे अनेक पाई वाले व्यंजनों का प्रतिनिधित्व करती है। यह पाई पहले बाईं ओर कूवड़ वाली (जैसे संकेत ५ और ७ में) है। कालांतर में वह पाई सीधी हो जाती है (जैसे संकेत ६ और ८ में है)।

उक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि अलंकृत लिपि की न्यूनकोणीय पाई नागरी के उद्भव में सहायक हुई है।

८:३:२: **शीर्ष** : कील-जैसा शीर्ष मथुरा के लेखों में पहली शताब्दी ईस्वी से दिखाई देना प्रारम्भ हो जाता है। प्रथम शताब्दी के मध्य के मथुरा के शिलालेखों में अ, क, घ, च, त इत्यादि संकेतों में [१६] यह कील-शीर्ष स्पष्ट दिखाई देता है। अलंकृत लिपि से पूर्व संतुलित लिपि (अध्याय ७) में **सरलीकरण** की लहर आई, जिसके कारण शीर्ष को अनावश्यक अलंकरण मानते हुए त्याग दिया गया। यहाँ तक कि भट्टिप्रोलु (अनुच्छेद ५:८) द्वारा प्रस्ताविक दृश्य अकार के लिए लगने वाली छोटी-सी शिरोरेखा भी संभवतः इसी सरलीकरण की लहर में बह गई।

अलंकृत-लिपि में कील-शीर्ष बनाने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। शिरोमय ब्राह्मी के इतिहास (अनुच्छेद ५:६) को देखते हुए अलंकृत-लिपि की इस प्रवृत्ति को नया विकास नहीं कहा जा सकता। सरलीकरण की प्रवृत्ति का प्रभाव समाप्त अथवा क्षीण होने पर शिरोमय ब्राह्मी की यह विशेष अलंकार-पद्धति पुनः प्रचलित हो गई प्रतीत होती है। अलंकृत लिपि के इस गुण का इस काल विशेष में यह महत्व अवश्य है कि इस काल में यह त्रिकोण शीर्ष संकेत की आकृति के अनिवार्य अंग के रूप में प्रयुक्त होने लगा। इसमें विकल्प के रूप में इतनी छूट ही संभव थी कि **त्रिकोण शीर्ष** के बदले रेखीय शीर्ष लगाया जा सके। तुलना के लिए चित्र ८:१ के संकेत ४ तथा ५ देखे जा सकते हैं। दोनों में शीर्ष अनिवार्यतः विद्यमान हैं; किन्तु संकेत ४ का त्रिकोण-शीर्ष संकेत ५ में रेखीय शीर्ष होकर रह गया है। चित्र ८:३ के संकेत ५ की तुलना में संकेत ६ की स्थिति भी यही है। धीरे-धीरे त्रिकोण शीर्ष के स्थान पर सरल रेखा का शीर्ष बनाने की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। दसवीं शताब्दी तक त्रिकोण शीर्ष घटते-घटते प्रायः समाप्त हो जाता है। उसका स्थान रेखीय शीर्ष ले लेता है। अलंकृत लिपि में त्रिकोण शीर्ष और रेखीय शीर्ष साथ-साथ चलते हैं। दसवीं शताब्दी के पश्चात् यह त्रिकोण शीर्ष कभी भूला-भटका ही दिखाई देता है। आठवीं शताब्दी

के चंबा के राजा मेरुवर्मा के लेखों में[20] त्रिकोण शीर्ष का स्थान स्पष्टतः आड़ी रेखा ने ले लिया है। यह शिरोरेखा पूर्ण संकेत पर नहीं है, अतः स्पष्टता के लिए इसे **'अर्ध-शिरोरेखा'** कहा जा सकता है।

त्रिकोण शीर्ष ने दो अन्य प्रभावों से भी नागरी की शिरोरेखा के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। वे दो प्रभाव निम्नलिखित हैं :—

(१) मात्रा से शिरोरेखा

(२) एकाधिक त्रिकोण शीर्षों का संयोग

दोनों का विवेचन नीचे दिया जा रहा है।

८:३:२:१ : **मात्रा से शिरोरेखा** : अलंकृत लिपि में 'आ' की मात्रा ऊपरी तल में भी गई है (जैसे, चित्र ८:१ के संकेत २ में उसमें ऊपर की दो मात्राओं में से दाहिने को झुकी हुई मात्रा 'आ' की है), किन्तु प्रायः वह शिरोरेखा के समान शीर्ष से दाहिने को बढ़ी है और दाहिने किनारे पर टेढ़ी झुक गई है। चित्र ८:१ के संकेत १ में 'नौ' लिखा है। इसमें शीर्ष से दाहिने को बढ़ी रेखा 'आ' की मात्रा है। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे इतनी बढ़ती गई कि 'आ' की मात्रा सर्वत्र इसी रूप में लिखी जाने लगी। परिणामतः नागरी की शिरोरेखा के लिए आधार तैयार होता गया। आठवीं शताब्दी में तो मात्रा मुख्यतः दाहिने छोर पर झुका हुआ भाग ही माना जाता है और वहाँ भी त्रिकोण-शीर्ष बनाया जाता है। उदाहरण के लिए चित्र ८:४ के संकेतों[21] को देखिए। चित्र में क्रमशः 'सौ', 'सा' और 'का' लिखा है। 'सो' और 'सा' संकेतों में 'आ' की
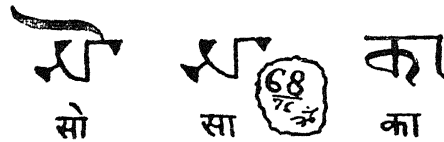
चित्र ८:४

मात्रा लटके हुए अतिरिक्त त्रिकोण शीर्ष के रूप में है किन्तु उसे 'स' के साथ संयोजित करने के लिए जो छोटी-सी रेखा लगाई गई है, वह शिरोरेखा की भूमि तैयार कर रही है। इस चित्र के संकेत ३ में 'का' अक्षर में 'आ' की मात्रा भी त्रिकोण शीर्ष न रह कर रेखीय हो गई है और **योजक रेखा** स्पष्टतः शिरोरेखा बन गई है। तीसरे संकेत के आधार के रूप में संकेत १,२ ने ऐतिहासिक भूमिका निभाई है।

स्पष्ट है कि त्रिकोण शीर्ष की आकार की मात्रा से न केवल नागरी की 'आ' की मात्रा का विकास हुआ वरन् आ' की मात्रा और व्यंजन के मध्य अनिवार्यतः लगने वाली योजक रेखा के कारण नागरी की शिरोरेखा के विकास में भी सहायता मिली।

८:३:२:२ : **एकाधिक त्रिकोण शीर्षों का संयोग** : 'अ', 'म' इत्यादि के संकेतों में प्रारंभिक शिरोमय ब्राह्मी में प्रायः एक ही शीर्ष बनाया जाता था। कोई-कोई

लिपिक सुन्दरता की वृद्धि के लिए एक के स्थान पर दो शीर्ष बना देता था; उदाहरणार्थ क्षत्रप-वंशी राजा रुद्रदामा के गिरनार-शिलालेख[२२] के लिपिक ने अ, ध, प, म, य, ष और स में दो-दो त्रिकोण शीर्ष बनाए हैं। दूसरी शताब्दी ई० के इस लेख में त्रिकोण शीर्षों के मिल जाने और एक ही शिरोरेखा की रचना करने की आशंका या संभावना नहीं थी क्योंकि तब ये त्रिकोण शीर्ष अक्षर के अन्य अंगों के अनुपात में बहुत छोटे थे। छठी शताब्दी और उसके बाद के त्रिकोण शीर्ष बड़े हैं और दाहिने-बाएँ को अधिक फैले हैं, परिणामतः दो शीर्ष साथ-साथ होने पर अनचाहे रूप में शिरोरेखा की रचना कर देते हैं। **बावर-पांडुलिपि**[२३] के अक्षर इसका स्पष्ट प्रणाम हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि अलंकृत लिपि के त्रिकोण-शीर्ष ने नागरी की शिरोरेखा के उद्भव में बहुत सहायता की है।

८:३:३ : **मात्राएँ** : नीचे चित्र ८:५ में[२४] **मंदसोर**, **कुंडेश्वर** और **बोध गया** के छठी-सातवीं शताब्दी के लेखों से लिए हुए कुछ अक्षर-संकेत दिखाए गए हैं। इस चित्र
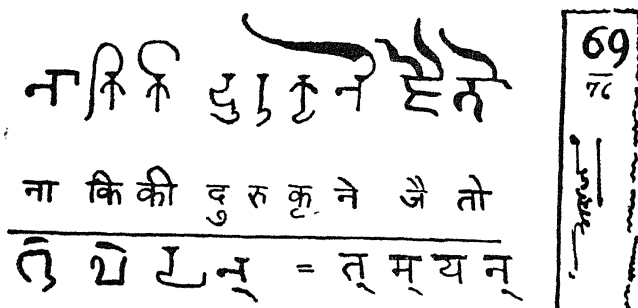
चित्र ८:५

में जो आ, इ, ई, उ, ऋ, ए, ऐ और ओ की मात्राएँ दिखाई गई हैं, वे निःसन्देह नागरी की मात्राओं का पूर्वरूप कही जा सकती हैं। छठी शताब्दी में सब व्यंजनों में एक-समान मात्राएँ लगाने का प्रचलन नहीं था। तब एक-एक मात्रा के कई-कई प्रकार मिलते हैं। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि अधिकांश मात्राओं के छठी शताब्दी तक वे रूप उत्पन्न हो चुके हैं जो बाद में नागरी में प्रचलित हुए। केवल 'ऊ' तथा 'औ' की मात्राओं के नागरी की ओर विकासमान रूप अनुपलब्ध हैं। इनमें से 'ऊ' की मात्रा में 'उ' की मात्रा लिखकर उस पर एक और रेखा लगाई जाती है। यह मात्रा ब्राह्मी की 'ऊ' की मात्रा का अवशेष है (दे० चित्र ५:११ का 'ऊ', चित्र ५:१६ में 'ऊ' की मात्रा तथा चित्र ५:२२ में 'जू' का संकेत); बाद में नागरी में नए प्रकार की 'ऊ' की मात्रा का विकास हुआ, ब्राह्मी की इस दो रेखाओं से बनने वाली 'ऊ' की मात्रा को नागरी ने नहीं अपनाया। 'औ' की मात्रा का सिद्धान्त अलंकृत लिपि में भी प्रायः यही है कि व्यंजन पर 'आ' और 'ऐ' की मात्राएँ लगाने से 'औ' की मात्रा पढ़ी जाती है;

किन्तु अभी तक तीन रेखाओं का फूल बनाने की शृंगारपूर्ण प्रवृत्ति ही अधिक प्रचलित है। 'ऊ' और 'औ' की मात्राएँ नागरी की ओर विकासमान नहीं हैं, इसीलिए ऊपर चित्र ८:५ में नहीं नहीं दिखाई गई।

हलंत[२५] (स्वर न होने का संकेत) इसी काल में पहले-पहल दृष्टिगोचर होता है।[२६] चित्रा ८:५ के त्, म् और यन् के संकेतों से हलंत के विकास की कहानी ज्ञात होती है। इससे पूर्व अंतिम स्वर-रहित व्यंजन को पंक्ति से नीचे छोटे आकार में लिखा जाता था। इस काल में हलंत-व्यंजन का संकेत मध्य तल में आ गया है जो छोटे आकार का है तथा उसके ऊपर या नीचे हलंत-संकेत लगने लगा है। 'यन्' के **हलंत-संकेत** को स्पष्टतः नागरी के हलंत-संकेत का पूर्वज कहा जा सकता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुटिल लिपि अथवा अलंकृत लिपि की ए, ऐ इत्यादि जैसी शृंगारपूर्ण लंबी और टेढ़ी-मेढ़ी मात्राएँ, इ, उ जैसी छोटी और शृंगार-रहित मात्राएँ तथा हलंत-संकेत—ये संकेत नागरी की मात्राओं एवं हलंत के उद्भव में बहुत सहायक हुए हैं। नागरी ने उन्हें, अपनी आवश्यकताओं के अनुसार थोड़ा परिवर्तित करके, ग्रहण किया है। केवल 'ऊ' और 'औ' की मात्राओं का विकास कुछ भिन्न रूप से हुआ है।

८:३:४ : नागरी से समानता : न्यूनकोणीय पाई, त्रिकोण शीर्ष और मात्राओं की समान आकृतियाँ तो अलंकृत लिपि के ऐसे गुण हैं ही जो उसके संकेतों को नागरी-संकेतों के समान बनाने में सहायक हुए; इनके अतिरिक्त भी कुछ संकेताकृतियों में ऐसे परिवर्तन आए हैं, जिनके कारण उनकी आकृतियाँ नागरी-संकेतों की ओर बढ़ी हैं और उनके उद्भव में सहायक हुई हैं। विभिन्न लेखों की तुलना के आधार पर यह निर्णय किया जा सकता है कि किस-किस संकेत की आकृति नागरी की ओर कितनी बढ़ी है।

इस प्रसंग में निम्नलिखित प्राचीन लेखों का उल्लेख विविध विद्वानों ने किया है :

(१) मंदसोर-लेख[२७]
(२) होर्युजी-पांडुलिपि[२८]
(३) बोधगया-लेख[२९]
(४) लखामंडल-लेख[३०]
(५) अंशुवर्मा का अभिलेख[३१]
(६) अफसड-प्रशस्ति[३२]

इनका विवेचन नीचे क्रमशः दिया जा रहा है।

८:३:४:१ : मंदसोर-लेख : मंदसोर से प्राप्त हुए राजा यशोधर्मन् अथवा विष्णुधर्मन् के मालव (विक्रम) संवत् **५८९** (सन् ५३२) के शिला-लेख के वे तेरह संकेत यहाँ चित्र ८:६ में दिखाए गए हैं जो इन पंक्तियों के लेखक के मतानुसार नागरी

की ओर विकासमान हैं । चित्र की प्रथम पंक्ति में सरल ब्राह्मी के, द्वितीय पंक्ति में
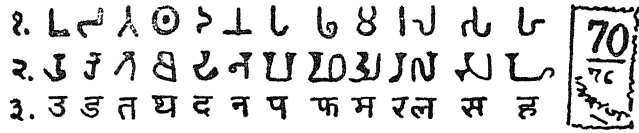
चित्र ८:६

मंदसोर-लेख के तथा तृतीय पंक्ति में नागरी के संकेत रखे गये हैं, ताकि उनके आकृति विकास को सरलता से पहचाना सके ।

गौ० ही० ओझा ने बिना कुछ कारण दिए, मंदसोर-लेख के उ, च, ड, ढ, त, द, न, प, म, य, र, ल, ष. स, ह, – इन पंद्रह संकेतों को नागरी के निकट गिनाया है । [33] बूलर और दानी इस संगर्भ में केवल अक्षरों के परिवर्तन (अर्थात्— अक्षरों की आकृतियों के परिवर्तन) की बात करते हैं जो एक-एक संकेत की आकृति से संबद्ध न होने के कारण विशिष्ट विवेचन के योग्य नहीं है ।

ऊपर चित्र ८:६ में दिखाए गए संकेतों में नागरी की ओर विकास मानने के कारण नीचे एक-एक संकेत के क्रम से दिये जा रहे हैं —

उ

नीचे की दाहिनी रेखा समाप्त होने से पूर्व झुककर नया मोड़ लेने लगी है । बूलर ने इसे 'उ' की 'दुम' कहा है ।[34] यही 'दुम' कालांतर में 'उ' का निचला भाग बन गई ।

ड

इसमें भी स्पष्टतः दो भाग बनने लगे हैं—ऊपर का और नीचे का । कालांतर में 'ड' और 'उ' का समापन रेखा का जो भाग समान आकृति का बन गया, उस निचले भाग का प्रारम्भ इस मंदसोर-लेख के 'ड' में देखा जा सकता है ।

त

'त' के दाहिने की खड़ी रेखा अपेक्षाकृत सीधी और लम्बी होने लगी है । यह नागरी की 'पाई' की ओर विकास है ।

थ

इसका पाई वाला अक्षर हो जाना और बाएँ भाग में दो वृत्त बना लेना महत्वपूर्ण विकास है । गौ० ही० ओझा द्वारा इस लेख के 'नागरी के समान' गिनाए गए संकेतों की सूची में 'थ' का न होना[35] विचित्र प्रतीत होता है । दूसरी ओर बूलर ने इसे 'थ का खाँचेदार रूप' संज्ञा देते हुए माना है कि आधुनिक नागरी 'थ' का उद्भव इसी खाँचेदार रूप से हुआ है ।[36] ओझा की सूची में 'थ' के इस रूप का अभाव इसलिए विशेष रूप से खटकता है कि स्वयं ओझा ने ही जो नागरी वर्णों के क्रमिक विकास दिखाने वाला लिपि पत्र तैयार किया उसमें खाँचेदार थ विद्यमान है ।[37]

द

इस लेख के 'द' के नीचे के छोर पर जो मोटाई या बन्द करने का निशान है, इसे बूलर 'शोश'[३८] कहता है और उसने इससे आधुनिक 'द' की दुम का उद्भव माना है।[३९] 'उ' की मात्रा लगाते समय तो यह तथाकथित दुम इस लेख में भी दिखाई दे जाती है।

न

इस संकेत में पाई विकसित हो चुकी है, शिरोरेखा बन गई है। इस प्रकार इसमें प्रायः वे सभी अंग विद्यमान हैं, जो आधुनिक नागरी के 'न' में हैं, केवल शिरोरेखा पूरी नहीं है।

प

इसके दो शीर्ष बन गए हैं, पाई भी विकसित हो चुकी है। वस्तुतः यह संकेत नागरी 'प' के बहुत निकट पहुँच चुका है।

फ

इसके दाहिने की अन्तिम रेखा घूमकर मध्य में आ मिली है, जो कालांतर में आधुनिक 'फ' के मध्य की खड़ी रेखा बनी है। इसके पश्चात् लिखने की दिशा में परिवर्तन होने के कारण 'फ' की आकृति में बहुत बड़ा परिवर्तन आया। चित्र ८:७
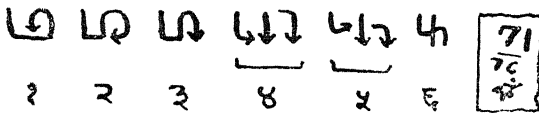
चित्र ८:७

में दिखाए गए संकेतों में से प्रथम मन्दसोर-लेख की स्थिति दिखाता है और शेष चारों संकेत दिशा-परिवर्तन के परिणामस्वरूप संभावित आकृति-परिवर्तन को क्रमिक विकास के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

म

इस संकेताकृति में दो महत्त्वपूर्ण विकास हो चुके हैं—(१) दाहिनी ओर खड़ी पाई जैसी रेखा का विकास हो चुका है, जो कालांतर में आधुनिक नागरी 'म' की पाई के उद्भव का कारण बनी (२) बाईं ओर की खड़ी रेखा कुछ वक्रता लेकर
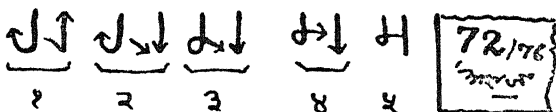
चित्र ८:८

निचले छोर पर बाईं ओर मुड़ जाती है, जिसके कारण उसके निचले छोर पर कुछ

अंश खड़ी रेखा की अपेक्षा बाहर बाएँ को निकल जाता है। कालांतर में यही अंश आधुनिक 'म' की गाँठ के विकास का कारण बना। यहाँ चित्र ८:८ में दिखाए गए संकेत **दिशा-परिवर्तन** से आधुनिक 'म' के बनने की क्रमिक प्रक्रिया दिखाते हैं। बूलर भी मानते हैं कि इसी काल के 'म' के कारण 'आठवीं' शती से घसीट लेखन के कारण 'म' में बाईं ओर एक घसीट फंदा बनने लगता है।[४०]

र

इसमें निचले छोर पर पाई को बाएँ मोड़ने और कुछ मोटा करने का प्रभाव बाद की 'र' की अन्तिम अतिरिक्त तिरछी रेखा के उद्भव के रूप में दिखाई देता है।

ल

इसमें पाई तो ब्राह्मी के कोणीय लेखन से ही प्रारम्भ हो गई थी, छठी-सातवीं शताब्दी का विशेष विकास बाईं चाप के अन्तिम सिरे का अधिक लटक जाना है जो बाद में नागरी में स्थायी हो गया।

स

इस संकेत के बाएँ भाग में बढ़े हुए तिरछे दंड के अन्त में जो 'बंद' (या शिवमंगल सिंह के अनुसार 'शोशा') लगाया जाने लगा, वह बाद में नागरी के 'स' के 'र' भाग का कारण बना।

ह

'ल' के विपरीत इसके दाहिने भाग में चाप अधिक लटकने लगा है। कालांतर में यही भाग थोड़ा नीचे झुककर बाएँ को मुड़ा और वर्तमान नागरी 'ह' का ऊपरी भाग बना।
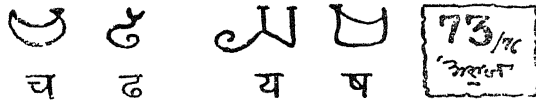
चित्र ८:९

गौ० ही० ओझा ने चित्र ८:९ में दिखाए गए मंदसोर-लेख के च, ढ, य, ष को 'वर्तमान नागरी के उक्त अक्षरों से मिलते जुलते' बताया है।[४१] ओझा ने इन संकेतों को नागरी की ओर विकासमान ठहराने का कारण नहीं दिया। इनकी वास्तविक स्थिति का नागरी-केंद्रित दृष्टि के अनुसार मूल्यांकन निम्नलिखित है—

च

नागरी का 'च' पाई वाला संकेत है। चित्र ८:९ का संकत १ नागरी के 'च' से दूर जा रहा है, क्योंकि उसकी पाई गोल होती जा रही है। अशोककालीन ब्राह्मी का 'च' पाईवाला होने के कारण चित्र ८:९ के 'च' की अपेक्षा नागरी के अधिक निकट था।

ढ

चित्र ८:९ के 'ढ' में कोई नया विकास नहीं हुआ। वह इसी रूप में ईसा-पूर्व पहली शताब्दी ई० से चला आ रहा है।[४२] शिलालेखों की ही तुलना की जाए तो कनिष्क के मथुरा-शिलालेख[४३] का 'ढ' भी ठीक ऐसा ही है जैसा चित्र ८:९ में दिखाया गया सन् ५३२ के मंदसोर-लेख का है।

य

मंदसोर-लेख का यह 'य' 'दाहिना कोणीय और बायाँ आन्तरिक फन्देवाला' रूप है। यह 'य' नागरी 'य' की ओर विकास का कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं करता। बाएँ आन्तरिक फन्दे के छोटे होते-होते समाप्त हो जाने की कल्पना की जा सकती है, किन्तु वह उपलब्ध लेखों के 'य' के विकास के साथ मेल नहीं खाता। वास्तव में मंदसोर-लेख का 'य' नागरी की ओर विकासमान नहीं है। स्वयं ओझा ने भी वर्ण-माला का विकास दिखाते हुए मंदसोर-लेख के 'दाहिने कोणीय और बाएँ आन्तरिक फन्दे वाले' य के रूप को प्रयुक्त नहीं किया।[४४]

ष

इस संकेत का पभोसा और अयोध्या-लेखों में प्रथम शताब्दी का रूप[४५] चित्र ८:९ में दिखाए गए सन् ५३२ के **मंदसोर-लेख** के 'ष' के रूप से बहुत कुछ समानता रखता है। प्रथम शताब्दी के **मथुरा-लेख**[४६] का 'ष' तो ठीक मंदसोर-लेख के 'ष' के ही समान है। अतः यहाँ उसमें कोई नया विकास मानना असंगत है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नागरी की ओर नया विकास दिखाने वाले संकेतों को गिनाते समय इन चारों संकेतों को छोड़ देना ही युक्ति-संगत है, क्योंकि या तो इनमें नागरी की ओर विकास है ही नहीं या पहले से चला आ रहा है।

८:३:४:२ : **होर्युजी-पांडुलिपि** : होर्युजी-मठ (जापान) में प्राप्त 'उष्णीष-विजयधारणी' पुस्तक की ताड़पत्र की पांडुलिपि से संकेतों की आकृतियों को उतारने
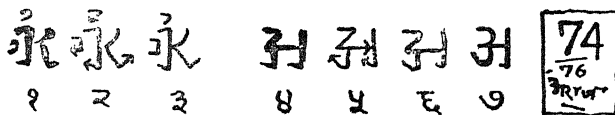
चित्र ८:१०

और उनका विश्लेषण करने के लिए विशेष विधि अपनाना आवश्यक है। भारत में तूलिका (ब्रश) से लिखने का प्रचलन नहीं था, जबकि चीन-जापान में तूलिका से ही लिखने का रिवाज रहा है। आज भी जापान का आदर्श लेखन तूलिका से होता है और भारत का (नागरी का) आदर्श-लेखन सरकंडे की ४५° पर कटी मोटी लेखनी से। इन दोनों विधियों का **'मध्यमान'** लिपिक के मन में बैठी रेखाओं की कल्पना होती है। ये रेखाएँ विशेष दिशा में चलती हैं।

इस नियम को स्पष्ट करने के लिए यहाँ चित्र ८:१० में दो संकेतों का विश्लेषण किया गया है। संकेत १ से ३ तक जापानी 'ऐई' अक्षर का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं और संकेत ४ से ७ तक नागरी की ओर विकासमान होर्युज़ी-पांडुलिपि के 'अ' का।

संकेत १ जापानी लिपि 'कंजी' का 'ऐई' अक्षर है, जिसमें जापानी-लेखन की पूरी विधि आ जाती है।[४७] इस संकेत में तूलिका चलाने की दिशा के साथ-साथ यह भी स्पष्ट दिखाई देता है कि कहाँ तूलिका पर अधिक दबाव है और कहाँ कम। संकेत २ में तूलिका चलाने की दिशा दिखाई गई। तीरों की नोकें दिशा को स्पष्टतः संकेतित कर रही हैं। इस संकेत की रेखाएँ ब्रुश का दबाव नहीं दिखातीं। संकेत ३ में वे कल्पित रेखाएँ हैं जो इस 'ऐई' संकेत की **मानक आकृति** प्रस्तुत करती हैं। स्पष्टतः मानक आकृति रेखीय आकृति है और सिद्धान्ततः उसकी सभी रेखाएँ सर्वदा एक समान मोटी रहती हैं।

होर्युज़ी की पांडुलिपि भी भारतीय लिपि-संकेतों को तूलिका से जापानी विधि से लिखे रूप में प्रस्तुत करती है। अतः उनसे तत्कालीन भारतीय लिपि-संकेतों की आकृतियों का अनुमान लगाने के लिए आवश्यक है कि उनकी मानक आकृतियाँ स्थिर की जाएँ। चित्र ८:१०का संकेत ४ होर्युज़ी-पांडुलिपि का 'अ' है।[४८] संकेत ५ उसकी तूलिका-संचालन की दिशा दिखाता है। संकेत ६ वह कल्पित रेखा-संकेत है, जो जापानी पांडुलिपि के लिपिक के मन में रहा है और जिसकी अनुकृति करने के लिए उसने तूलिका से संकेत ४ का लेखन किया है। भारतीय लेखन और जापानी अनुकृति-करण के मध्य के अन्तराल को भारतीय लिपियों की संकेताकृतियों और जापानी लिपियों की संकेताकृतियों के तुलनात्मक अध्ययन से सहज ही अनुमानित किया जा सकता है। इसी आधार पर तैयार किया गया संकेत ७ परिणाम-सूचक आकृति प्रस्तुत करता है। संकेत ४, ५ और ६ की प्रक्रिया वही है जो संकेत १, २ और ३ की है। संकेत ६ में 'ऐई' की कोणात्मकता कम कर देने से और भारतीय वर्ग की लिपियों में छठी-सातवीं शताब्दी में प्रचलित गोलाई और लेखन-दिशा लाने से यह अनुमान लगाया गया है कि होर्युज़ी मठ में प्राप्त पांडुलिपि के जापानी लिपिक ने भारत में प्रचलित जिस 'अ' को देखा होगा, वह लगभग वैसा होगा जैसा संकेत ७ में दिखाया गया है। उसे जापानी लिपिक ने अपनी लिपि की प्रकृति के अनुकूल संकेत ६ की मानक आकृति का समझा और संकेत ५ में दिखाई गई दिशाओं के अनुसार तूलिका चलाकर संकेत ४ जैसा अंकित किया।

गो० ही० ओझा[४९] और डॉ० अहमद हसन दानी[५०] ने इस पांडुलिपि के संकेतों की अपने हाथों से जो अनुकृतियाँ प्रस्तुत की हैं, वे इस विश्लेषण के सिद्धान्त से भिन्न हैं। बूलर ने पांडुलिपि की फोटो लिथो प्रतिलिपियों से अक्षर काटकर जो फलक[५१] तैयार किया है वह प्रामाणिक है। ऊपर प्रस्तुत किए गए मानक-आकृति के सिद्धान्त के अनुसार बूलर के इस फलक से होर्युज़ी-पांडुलिपि के संकेतों से प्राप्त तत्कालीन भारतीय लिपि-संकेत यहाँ चित्र ८:११ में दिखाए गए हैं।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ ॐ

क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ

ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म

य र ल व श ष स ह

होर्युज़ी-पांडुलिपि से अराज द्वारा मानकीकृत संकेत

चित्र ८:११

इन संकेतों से नागरी की ओर जो विकास दिखाई देता है, वह इस प्रकार है—

अ, आ

नागरी के इस पूर्वी अ (अ) का स्वरूप स्पष्ट होने लगा है, किन्तु 'आ' अभी भिन्न है। उसमें मात्रा पाद-बिन्दु पर लगी है जो आधुनिक नागरी की प्रकृति से मेल नहीं खाती।

इ, ई

'इ' का नीचे का बिन्दु 'उ' की मात्रा-जैसा हो गया है। यह निःसन्देह नागरी की ओर विकास है। 'ई' में 'इ' पर अतिरिक्त बिन्दु पहली बार दिखाई दिया है। यह अतिरिक्त बिन्दु ही बाद में छत्र बन गया है।

उ, ऊ

'उ' में मंदसोर-लेख की स्थिति है। 'ऊ' में अतिरिक्त रेखा आज के 'ऊ' के दाहिने बाजू का श्रीगणेश है।

ऋ, ॠ

ये दोनों स्वर पहली बार दिखाई दिए और वे भी 'अ' से मिलते-जुलते। यही स्थिति बाद में नागरी में भी है।

ऌ ॡ

ऌ के दोनों रूप—ह्रस्व और दीर्घ—नागरी की संकेताकृतियों से संबंधित नहीं हैं।

ए, ऐ

'ऐ' की ऊपर की मात्रा नागरी की ओर विकास है।

ओ, औ

'उ' से आकृति-साम्य वाले ये ओ, औ के रूप कुछ काल के पश्चात् विलुप्त हो गए। अब नागरी में 'अ' या 'अ' में मात्राएँ लगाकर ओ, औ के संकेत बनाने का ही प्रचलन है। अतः चित्र ८:११ के ओ, औ का सम्बन्ध नागरी से नहीं है।

व्यंजन

क, ख, ग, घ, च, त, थ, न, प, म, य, ल, व, श, ष, स—इन सब में पाई का विकास हुआ है, अतः इनकी आकृतियाँ नागरी की ओर बढ़ी हैं। क, ख, म, य, ल — इन पाँचों में तो वर्तमान नागरी के इन संकेतों के सभी अंग उत्पन्न हो चुके हैं, इनके नागरी-संकेत बनने में कुछ सैद्धान्तिक अन्तर ही शेष हैं।

'ङ' संकेत में ऊपरी दाहिने सिरे पर जुड़ी अतिरिक्त रेखा कालांतर में 'ड' के दाहिने लगाया जाने वाला बिन्दु बनी है, अतः 'ङ' में नागरी की ओर विकास हुआ है।

'च' और 'छ' अभी नागरी से बहुत दूर हैं। 'च' में पाई पहले से चली आ रही है, अतः वह नया विकास नहीं है।

'ज' में दाहिने को लटकती भुजा नागरी 'ज' की पाई बनने की ओर अग्रसर है।

'झ' में मराठी 'झ' का पूर्व-रूप झलकता है।

'ञ' के इस चित्र के संकेत का वर्तमान नागरी-संकेत के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

'ट' में शीर्ष के दाहिने कोने पर जुड़ी अतिरिक्त रेखा नागरी से दूर जा रही है।

'ड' और 'ढ' मंदसोर-लेख की भाँति नागरी की ओर पूर्ववत् अग्रसर हैं।

'ण' में शीर्षरेखा के दाहिने छोर से लटकी रेखा कालांतर में नागरी 'ण' की पाई बन गई, अतः यह महत्त्वपूर्ण विकास है।

'द' के निचले छोर पर 'दुम' लटक गई है जो अब तक नागरी— 'द' में विद्यमान है। अतः यह महत्त्वपूर्ण विकास है।

'फ' और 'ह' के संकेतों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना अपेक्षित है। पीछे चित्र ८:७ में 'फ' के प्राचीन रूप में दिशा-परिवर्तन के कारण हुए आकृतिगत परिवर्तन की जो कल्पना की गई थी, उसका प्रमाण होर्युजी-पांडुलिपि का 'फ'—संकेत प्रस्तुत करता है। अतः चित्र ८:११ का 'फ' वर्तमान नागरी - 'फ' की ओर महत्त्वपूर्ण विकास है। 'ह' के संकेत को 'फ' के संकेत के साथ मिलाने से ज्ञात होता है कि इन दोनों की आकृतियों में पर्याप्त समता आ गई है। यद्यपि इस पांडुलिपि के 'ह' का अन्तिम भाग अधिक झुका होने के कारण 'फ' से भिन्न पहचाना जाता है, तथापि आकृतियों के इतने अधिक साम्य के कारण लिपिक की थोडी-सी असावधानी इन संकेतों में एक-दूसरे का भ्रम उत्पन्न कर सकती है। कालांतर में 'ह' में चरण-संकेत स्थायी रूप से जोड़ दिया गया और उसमें बाएँ भाग में लटकती रेखा की वृद्धि हुई। यह आवश्यकता संभवतः 'फ' और 'ह' के आकृति-साम्य के कारण ही उत्पन्न हुई।

'व' और 'व' में अन्तर नहीं है। मध्यकालीन् भारतीय आर्य-भाषाओं के ध्वनि विकास को देखते हुए यही माना जा सकता है कि इस काल की लिपि में 'व' को भी 'ब' ही पढ़ा जाता था। अतः होर्युजी की पांडुलिपि में 'ब' का संकेत उपलब्ध नहीं है।

'स' और 'ऋ' के संकेतों में इतना आकृति-साम्य है कि इनमें कई स्थानों पर भ्रम हो सकता है। जहाँ-जहाँ लिपिक ने स्पष्टता लाने का प्रयत्न किया है, वहाँ 'स' की बाईं लटकती रेखा छोटी रखी है और 'ऋ' की बड़ी। इस तथ्य का नागरी की ओर विकास से कोई संबंध नहीं है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि होर्युजी-पांडुलिपि के संकेत प्रायः नागरी की ओर विकासमान हैं।

८:३:८:३ : **बोधगया-लेख** : इस लेख के दो संकेत[२२]—'य' और 'हलंत'—विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। यहाँ चित्र ८:१२ में दो प्रकार का 'य' और हलंत-संकेत-

चित्र ८:१२
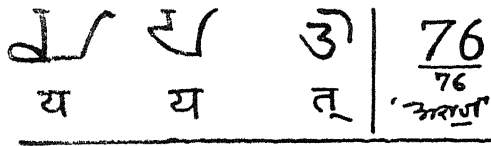
सहित त दिखाया गया है। इन संकेतों की विशेषताएँ नीचे दी जा रही हैं—

य

इसमें मध्य की खड़ी रेखा लिखकर कलम उठाई नहीं गई, वरन् उसी रेखा से बाएँ को फंदा बनाकर दाहिने मोड़ दिया गया है जिससे तल-रेखा बाएँ से दाहिने को लिखी गई है। यही रेखा (बिना कलम उठाए) दाहिने छोर से ऊपर को उठकर थोड़ी वक्र पाई का रूप धारण कर लेती है। दोनों संकेत (चित्र ८:१२ का संकेत १ तथा संकेत २) एक-एक रेखा से उपरि-वर्णित दिशाओं को कलम चलाकर लिखे जा सकते हैं। ऐसे एक ही बार कलम चलाकर लिखे जा सकने वाले संकेत को **'एक-रेखीय'** संकेत कहना चाहिए। उक्त चित्र के 'य' के दोनों रूप एक-रेखीय हो सकते हैं। यदि दाहिनी ओर की पाई ऊपर से नीचे को लिखी जाए तो ये संकेत **द्वि-रेखीय** होंगे। चाहे दोनों संकेतों को एक-रेखीय विधि से लिखा जाए, चाहे द्वि-रेखीय विधि से, लेखन की दिशा दोनों रूपों में समान रहेगी। प्रथम संकेत में मध्य की पाई लम्बी होकर आधार-रेखा को छू लेती है, किन्तु द्वितीय संकेत में मध्य की पाई छोटी रह गई है। यही दोनों में अन्तर है। संकेत १ से संकेत २ का विकास सम्भव है। इस क्रम में वह नागरी के वर्तमान 'य' की ओर विकासमान है :

(१) संकेत १, एक-रेखीय
(२) संकेत २, एक-रेखीय

(३) संकेत २, द्वि-रेखीय
प्रत्येक दशा में शीर्ष का अंश प्रारम्भ में या अन्त में अलग से बनेगा !

त्

इसमें हलंत-संकेत 'त' के शीर्ष से प्रारम्भ होकर नीचे तक लटक गया है। मंदसोर लेख मे 'म्' का हलंत-संकेत भी प्रारम्भ तो शीर्ष से होता है, दाहिने को झुकता भी है, किन्तु वहाँ वह इतना अधिक लटकता नहीं। छठी शताब्दी के विभिन्न लेख यह स्पष्ट कर देते हैं कि उत्तरी भारत की लिपियों की संकेत-सूची में 'हलंत' नाम का नया संकेत जुड़ अवश्य गया। वह अभी रूप ढूँढ़ रहा है।

८:३:४:४ : **लखामंडल-लेख** : लगभग ६०० ई० के इस लेख में होर्युजी-पांडुलिपि की संकेताकृतियों से प्रचुर साम्य दिखाई देता है। अ, इ, ए, ऐ, ग, घ, च, ज, ट, ण, थ, द, प, म, र, ल, व, श, ह —इनकी स्थिति होर्युजी-पांडुलिपि के समान ही है। केवल 'क', 'य' और 'स' के संकेत विशेष रूप से द्रष्टव्य होने के कारण उन्हें यहाँ

= क, = य, = स

चित्र ८:१३

चित्र ८:१३ में[५३] दिखाया गया है। लखामंडल के 'क' और होर्युजी-पांडुलिपि के 'क' (चित्र ८:११) की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि होर्युजी-पांडुलिपि के 'क' में दाहिने भाग में लटकती आधी खड़ी पाई विद्यमान है, जबकि लखामंडल के 'क' में वह नहीं। होर्युजी-पांडुलिपि का 'क' नागरी के 'क' से अधिक साम्य रखता है। निष्कर्षतः नागरी-केन्द्रित दृष्टि से होर्युजी-पांडुलिपि का 'क' अधिक विकसित है और लखामंडल-लेख का 'क' उसकी तुलना में अविकसित या पिछड़ा हुआ है। लखामंडल-लेख का 'य' (चित्र ८:१३) बोधगया-लेख के 'य' (चित्र ८:१२) की अपेक्षा नागरी की ओर अधिक विकसित कहा जा सकता है, क्योंकि बोधगया-लेख के 'य' में ब्राह्मी—'य' की **मध्यक-पाई** अधिक दृढ़ता से विद्यमान है जबकि लखामंडल-'य' में वह पाई बहुत छोटी होकर वर्तमान नागरी के 'य' के वामांग के ऊपरी वक्र छोर का रूप धारण करती जा रही है। अब वह मध्यक पाई तो नहीं रही, विशेष लम्बोदर शीर्ष रह गई है। लखामंडल-लेख के 'स'-संकेत में 'र' जैसा वाम भाग उत्पन्न होने का कारण दिखाई देने लगा है। ब्राह्मी-'स' के वामांग से लटकती सरल रेखा यहाँ **'भरी त्रिकोण'** हो गई है। यही त्रिकोण कालांतर में **'एक रेखा और एक बंद'** होती हुई **'स' के 'र'**-जैसे वामांग का रूप धारण करती है।

८:३:४:५ : **अंशुवर्मा का अभिलेख** : सन् ६३५ के इस लेखन में भी प्रायः वही आकृतियाँ हैं जो लखामंडल-लेख में हैं। कुछ विशेष द्रष्टव्य संकेत यहाँ चित्र ८:१४ में[५४] दिखाए गए हैं।

चित्र ८:१४

इस लेख के 'ख' (चित्र ८:१४, संकेत १) में 'र' और 'व' का संयुक्त रूप स्पष्टतः विकसित हो गया है। इस पर पूरे अक्षर पर फैली शिरोरेखा भी विद्यमान है। नागरी के सैद्धांतिक विकास से निरपेक्ष केवल आकृतिगत विकास के आधार पर निर्णय दिया जाए तो कहा जा सकता है कि अंशुवर्मा के अभिलेख में 'ख' का उद्भव मानना चाहिए।

इस चित्र के संकेत २ में 'ऐ' की मात्रा द्रष्टव्य है। इस मात्रा की तुलना चित्र ८:५ के 'जै' अक्षर की मात्रा से करने पर स्पष्ट होता है कि अंशुवर्मा के अभिलेख में मात्राओं का अलंकरण कम हुआ है। कालांतर में सरलीकरण बढ़ा है और अलंकरण कम होता गया है। अतः अंशुवर्मा के अभिलेख की सरलीकरण की प्रवृत्ति नागरी की ओर विकासमान है।

चित्र के संकेत ३ ('धः') में 'ध' में वामांग के मोड़ वर्तमान ध की आकृति का विकास कर रहे हैं।

चित्र के अन्तिम दोनों संकेतों क 'ब' और 'वृ' के संकेतों से 'ब' और 'व' का स्पष्ट अन्तर लक्षित होता है। होर्युजी-पांडुलिपि में व-ब की एकरूपता के विपरीत यहाँ इनकी भिन्नता इन दोनों व्यंजन-ध्वनियों के पृथक्-पृथक् समझे बोले जाने (इनके ध्वनिग्राम के रूप में जीवित रहने) का प्रमाण है।

८:३:४:६ : **अफसड-प्रशस्ति :** सातवीं शताब्दी ईस्वी की आदित्यसेन की अफसड-प्रशस्ति के लेख में अधिकांश संकेताकृतियाँ उपरिविवेचित पाँच लेखों के

चित्र ८:१५

समान ही हैं। कुछ विशेष दृष्टव्य संकेत[५५] चित्र ८:१५ में दिखाए गए हैं। इनकी विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—

'इ' में नीचे के बिन्दु का 'ऊ' की मात्रा-जैसा रूप वर्तमान 'इ' के निचले भाग का पूर्वरूप है।

क' का संकेत मानक आकृति के रूप में होर्युज़ी-पांडुलिपि के संकेत के समान ही है। अफसड-प्रशस्ति में इसका अलंकृत-लिपि का प्रतिनिधि रूप देखा जा सकता है।

'घ' की अफसड-प्रशस्ति की संकेताकृति और 'य' की लखामंडल-लेख की संकेताकृति (चित्र ८:१३) की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि अफसड-प्रशस्ति में 'घ' की आकृति में भी पाई के निचले सिरे से बाईं ओर ४५ अंश के कोण पर टेढ़ी उठी हुई रेखा है, जैसे लखामंडल-लेख के 'य' में है। लखामंडल के 'य' में यह अंश संकेत के शेष भाग के साथ जुड़ा हुआ है जो एक-रेखीय से भी और द्वि-रेखीय लेखन से भी संभव है। इसकी तुलना में अफसड प्रशस्ति के 'घ' का यह अंश पृथक् है जो स्पष्टतः द्वि-रेखीय लेखन के कारण सम्भव हुआ है। अंशुवर्मा के अभिलेख के 'घ' (चित्र ८:१४) में वामांग में जो वक्रता थी, वह अफसड प्रशस्ति के 'घ' के द्विरेखीय रूप के कारण वृत्त के भीतर को नोक के अनिवार्य अस्तित्व का कारण सिद्ध हुई। अतः यह आकृति 'घ' के उद्भव में सहायक हुई।

चित्र ८:१५ के 'न' में पूरी शिरोरेखा तो प्रत्यक्षतः नागरी की ओर विकास है ही, मध्य रेखा के वाम छोर पर खोखला शून्य 'न' की गाँठ की स्वीकृति का द्योतक है।

'ल' के बाएँ भाग के मध्य की गाँठ नया विकास है जिसने कालांतर में नगरी के 'ल' के मध्य नीचे को निकली नोक को अनिवार्य बना दिया।

'स' की बाईं पाई के निचले छोर पर बना फंदा नागरी की ओर विकास है। यही फंदा भर जाने पर 'स' के 'र' भाग के निर्माण में सहायक हुआ।

'श्री' संकेत में 'ई' की मात्रा विशेष रूप से द्रष्टव्य है। इस मात्रा का पूरा लटक जाना नागरी की 'ई' की मात्रा के उद्भव में सहायक हुआ। इसके पश्चात् कई शताब्दियों तक 'ई' की मात्रा बिना शिरोरेखा के लिखी जाती रही है।

८:४ : छठी और सातवीं शताब्दी की उपलब्धियाँ : छठी और सातवीं शताब्दी के उन महत्वपूर्ण लेखों का, जिन्हें नागरी के उद्भव में सहायक माना जाता है, विवेचन करने से स्पष्ट हुआ कि इन दोनों शताब्दियों में उत्तरी भारत की शैलियाँ नागरी लिपि की ओर अग्रसर हुई हैं। नागरी की ओर हुए विकास में लगभग समस्त उत्तर भारत ने योगदान दिया है।

इन शैलियों से नागरी की ओर हुए महत्त्वपूर्ण विकास निम्नलिखित हैं : —

(१) **पाईवाले संकेत** : अनेक संकेतों में पाई का विकास हुआ है। स्वरों में से अ और ऋ तथा व्यंजनों में से ख, ग, घ, च, थ, न, प, म, य, ल, व, श, ष और स में पाई का विकास पूर्ण हो चुका है। क की मध्यक पाई पूर्णतः विकसित हो चुकी है। अभी ज, झ, ञ, ण और त के दाहिने अंग की पाई का और फ की मध्यम पाई का विकास नहीं हुआ।

(२) **पाई रहित संकेत** : पाई रहित संकेत में से 'ङ' क दाहिने छोर पर तिरछा चिन्ह बिन्दु का पूर्ववर्ती अंग है और ट, ड, ढ, द, र, फ और ह अपेक्षाकृत नागरी के निकटतर पहुँचे हैं। इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ—इन स्वरों की आकृतियाँ भी नागरी के निकट पहुँची हैं।

(३) **मात्राएँ** : आ, इ, ई, उ, ऋ, ए, ऐ और ओ की मात्राएँ नागरी के बहुत निकट पहुँची हैं। 'ऊ' और 'औ' की मात्राओं में अभी बहुत विकास अपेक्षित है। मात्राओं के कई-कई रूपों का प्रचलन है। इनमें **एकरूपता** आना शेष है।

(४) **शिरोरेखा** : ए, ऐ, ख, ग, न, ल और श में पूर्ण शिरोरेखा का विकाश हो चुका है, शेप अनेक व्यंजनों पर अर्ध-शिरोरेखा लगने लगी है। इ, ई, पर शिरो-रेखा का पूर्णत: अभाव है।

(५) **पुराने रूप** : लृ (ह्रस्व और दीर्घ), ओ, औ, छ, ञ और भ के वे पुराने रूप चल रहे हैं जो बाद में लुप्त हो गए और आधुनिक नागरी में इनके स्थान पर नए रूपों का प्रचलन हुआ।

---

१. पिछले अध्याय में 'संतुलित ब्राह्मी' नाम से विवेचित।
२. भा० प्रा० लि०, पृ० ६२
३. भा० पु० शा०, पृ० १०१
४. वही, पृ० १०८ से ११६ तक
५. इं० पे० (दा०), पृ० १०८ से २०४ तक
६. वही, पृ० ११०
७. ये संकेत क्रमशः इन स्रोतों से है—संकेत १,४ : बौद्ध गया के महानामन के लेख से; गु० इं० (फ्ली०); पृ० २७६-७७; सकेत २,५ : समुद्रगुप्त के गया के ताम्रपट्ट-लेख से; गु० इं० (फ्ली०); पृ० २५६-५७; संकेत ३,६ आधुनिक नागरी के हैं।
८. भा० प्रा० लि०, पृ० ६२ पर पाद टिप्पणी ३
९. भा० पु० शा०, पृ० १०२
१०. अनुच्छेद ७:७ में 'न' की व्याख्या में इसी चरण-सकेत का संदर्भ दिया गया है।
११. भा० प्रा० लि०, पृ० ६२
१२. भा० पु० शा०. पृ० १०२
१३, भा० प्रा० लि०, पृ० ६२, पाद-टिप्पणी ३
१४. इस चित्र में दिखाई गई लिपियों का क्रम निम्नलिखित है—

१. नागरी	२. शारदा	३. टाकरी	४. गुरुमुखी
५. कैथी	६. बगला	७. मैथिल	८. उड़िया
९. गुजराती	१०. मोडी	११. तेलुगु	१२. कनड़ी
१३. मलयालम्	१४. तुड़ु	१५. तमिष्	

विस्तृत परिचय के लिए भा० प्रा० लि० के लिपिपत्र ७७ से ८२ तक देखे जा सकते हैं।
१५. तमिल के अ, ण, प, य और व पाई वाले संकेत हैं। नागरी के इन संकेतों में भी पाई है। तमिल का 'य' इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।
१६. देखिए तमिल वर्णमाला भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र का तीसरा खंड।

१७. देखिए इसी प्रबन्ध का अनुच्छेद ३:४ और उसी अनुच्छेद में चित्र ३:१९
१८. चित्र ८:३ के संकेत क्रमशः जिन स्रोतों से संकलित हैं, वे इस प्रकार हैं—
संकेत-१ : सिंधु-लिपि, इं० डि०, पृ० ४९
संकेत-२ : सरल ब्राह्मी, भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १
संकेत-३ : उत्तरी भारत के सिक्के, इं० पे० (दा०), प्लेट ५ तथा ६
संकेत-४ : उत्तरी भारत के अनेक लेख, इं० पे० (दा०), प्लेट ८
संकेत-५ : महानामन का बोध गया का शिलालेख, इं० पे० (दा०), प्लेट १०
संकेत-६ : समुद्रगुप्त का गया-ताम्रपत्र-लेख, इं० पे० (दा०), प्लेट १०
संकेत-७ : भोजदेव का बरह-ताम्रपत्र-लेख, इं० पे० (दा०), प्लेट १३
संकेत-८ : 'अशौचनिर्णय' (पांडुलिपि), संवत् १६९० (सन् १६३३), पां० संख्या-३४६५।१०३, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, प्रयाग के पुस्तकालय में रखी पांडुलिपि।
१९. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र ५, इं० पे० (बू०), फलक १, इं० पे० (दा०), प्लेट ८, में ऐसे उदाहरण देखे जा सकते हैं।
२०. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र २२
२१. 'सो' और 'सा' के संकेत सातवीं-आठवीं शताब्दी के हैं। इन्हें ए० इं०, जि० १९, पृ० ५८ के पास के प्लेट (कोटा का लेख) से संकलित किया गया है। 'का' का संकेत आठवीं शती का है। यह भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र २२ से संकलित किया गया है।
२२. ए० इं०, जि० ८, प्लेट ४, लेख संख्या १०
२३. इं० पे० (बू०), प्लेट ६
२४. ना, कि, की, दु, रु, ने, जे, तो, तू—ये सब अक्षर-संकेत यशोधर्मन् के मंदसोर-लेख (५३२ ई०) से लिए गए हैं। द्रष्टव्य—इं० पे० (दा०), प्लेट १३, पंक्ति ७ तथा भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १८

म् तथा यन्—महानामन् के बोध गया-शिलालेख से, समय ५८८-८९ ई०, द्रष्टव्य—भा० पु० शा०, फलक ४ तथा इं० पे० (दा०), प्लेट १०

कु—मेवाड़ के अपराजित के समय (६६१ ई०) के कुण्डेश्वर-लेख से।

२५. कुछ वैयाकरण इसे 'हल्' संकेत कहते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी के अइउण् इत्यादि माहेश्वर सूत्रों से 'आदिरंत्येन सहेता। १।१।७१।' सूत्र से जिस 'हल्' प्रत्याहार की सिद्धि होती है, वह लिपि-संकेतों का नहीं, वरन् उच्चारण संबंधी पारिभाषिक शब्द है। 'हल्' उच्चारण के उस व्यंजन-समूह का नाम है जिसे संस्कृत में प्रयुक्त ध्वनिग्रामों की सूची कहा जा सकता है। भाषित के लोकव्यवहार एवं अर्थ-भेदक दृष्टि से बनाए गए इन लघुतम अंशों को ही लिपि के संकेत निर्माण का भी आधार होना चाहिए था (जैसे उर्दू की 'वर्णमाला' के व्यंजनों में या रोमन के 'अल्फाबिट' के व्यंजनों में स्वर नहीं होता), उस दशा में लिपिसंकेतों के इस वर्ग को 'हल्' कहा जा सकता था। किंतु भारतीय लिपि-वर्ग में व्यजनों के लिपि-संकेतों के मूलरूपों में 'अ' सम्मिलित होता है और उन्हें स्वर-रहित रूप देने के लिए उन्हें 'विकृत' करना पड़ता है। यहाँ विवेच्य 'हलत' संकेत व्यंजन के मूल रूप में विकार उत्पन्न करके उसे 'स्वररहित व्यंजन' बनाने का एक साधन है। जब व्यंजन के अंत में कोई स्वर नहीं होता अथवा स्वयं व्यंजन ही अंत में होता है, तब वह 'हलन्त' रूप में लिखा जाता है। 'म्, न्, त्' इत्यादि 'म, न, त' इत्यादि के विकृत हलंत रूप हैं। उच्चारण के हलंत रूप को जिस संकेत द्वारा प्रकट किया जाए उसे 'हलंत करने वाला संकेत' या 'हलंत बनाने वाला संकेत' कहना चाहिए और मध्यपद लोपी समास से इसका समस्तपद रूप 'हलंत-संकेत' होता है। 'हलंत-संकेत' शब्द को ही संक्षेप में 'हलंत' कहते हैं।

२६. इं० पे० (दा०), पृ० १२१
२७. गु० इं० (फ्ली०), प्लेट २२
२८. भा० पु० शा०, फलक ६
२९. गु० इं० (फ्ली०), पृ० २७४
३० इ० पे० (दा०), प्लेट ४
३१ भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र २१
३२ इं० पे० (दा०), प्लेट ४
३३. भा० प्रा० लि, पृ० ६४
३४ भा० पु० शा०, पृ० ११०
३५. भा० प्रा० लि,० पृ० ६४
३६. भा० पु० शा०, प० ११३
३७. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र ८२, 'थ' का तीसरा और चौथा रूप।
३८. बूलर की पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद में 'serf' शब्द का प्रयोग किया गया था जिसका अर्थ है : 'रेखा को बन्द करने के लिए उसके अन्त में लगाई गई छोटी-सी रेखा, जो रेखा की मोटाई से बाहर निकल कर अंतिम छोर दिखाए'। मंगलनाथसिंह ने इसके हिन्दी अनुवाद (भा० पु० शा०) में 'शोशा' शब्द प्रयुक्त किया है। इस प्रबंध में इसी भाव के लिए 'बंद' शब्द का भी प्रयोग हुआ है।
३९. भा० पु० शा०, पृ० ११३
४०. वही, पृ० ११४
४१. भा० प्रा० लि०, पृ० ६४
४२. इं० पे० (दा०), प्लेट ५, पंक्ति ११, ईसापूर्व प्रथम शताब्दी के सिक्कों का 'ढ';
४३. वही, प्लेट ८, पंक्ति ३
४४. भा० प्रा० लि०. लिपिपत्र ८२
४५. इं० पे० (दा०). प्लेट ६, पंक्ति ५
४६. इं० पे० (दा०), प्लेट ८, पंक्ति ८
४७. स्टे० कं०, प्रस्तावना पृ० ९
४८. भा० पु० शा०, फलक ६. स्तम्भ ५, पंक्ति १
४९. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १९
५०. इ० पे० (दा०), फलक १२, पंक्ति १२
५१. इ० पे० (बू०), फलक ६, स्तम्भ ५, ६
५२. इन संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—

य-१ : भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १९, महानामन् संकेत- ४,
भा० पु० शा०, फलक ४, स्तम्भ १३, पं० ३२,

य-२ : भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र १९, महानामन्-संकेत ३
भा० पु० शा०, फलक ४, स्तम्भ १४, पं० ३२,

त् : भा० प्रा० लि०, फलक १९, महानामन्-संकेत ५,
भा० पु० शा० फलक ४, स्तम्भ १४, पं० २२,

५३. भा० पु० शा०, फलक ४, स्तम्भ १५, पं० ७, ३२, ३८
५४. भा० पु० शा०, फलक ४, स्तम्भ १७, पं० ८, २२, २५, २९, ३५
५५. भा० पु० शा०, फलक ४, स्तम्भ १८, पं० ३, ७, २५, २६, ३४, ३८, ४२ से

९ | उद्भवकाल की अनुसन्धान विधि

९:१ : **नागरी के उद्भवकाल पर विचार :** नागरी लिपि के उद्भव-काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ मत तो बहुत स्पष्ट भी नहीं। उनमें से गौ० ही० ओझा और जी० बूलर के मत मौलिक होने के कारण महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। इनके पश्चात् नागरी का अथवा भारतीय पुरालिपियों का विश्लेषण करने वाले विद्वानों ने इन्हीं मतों में से किसी का पोषण या स्पष्टीकरण किया है। अतः इन दो महत्त्वपूर्ण मतों का निष्कर्ष नीचे दिया जा रहा है।

९:१:१ : **गौ० ही० ओझा का मत :** ओझा जी का मत अपेक्षाकृत स्पष्टतर है। उनके मतानुसार नागरी लिपि दसवीं शताब्दी ईस्वी से चल रही है। नागरी लिपि के शीर्षक के साथ भी यही वाक्य दिया है।[1] इसकी तुलना में कुछ अन्य वाक्य भी इसी प्रसंग में दिए गए हैं। वे निम्नलिखित हैं :

(क) "उत्तरी भारत में नागरी का प्रयोग ई० स० की १०वीं शताब्दी के प्रारम्भ के आस-पास से मिलता है और यह पहिले-पहिल कन्नौज के प्रतिहार-वंशी राजा महेन्द्रपाल (प्रथम) के दिघ्वादबौली से मिले हुए वि० सं० ९५५ के दानपत्र में मिलता है।"[2]

(ख) "ई० स० की १०वीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की नांई अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अंशों में मिलते हैं, परन्तु ११वीं शताब्दी से ये दोनों अंश मिलकर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना लम्बा रहता है, जितनी कि अक्षर की चौड़ाई होती है। ११वीं शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती ही है और बारहवीं शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है।"[3]

(ग) '१२ वीं शताब्दी की नागरी और वर्तमान नागरी में इ, ध की आकृतियों

में तथा ए, ऐ, ओ, औ की मात्राओं की आकृतियों में अन्तर है।'[४]

(घ) 'ई० स० की बारहवीं शताब्दी से लगाकर अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आती है तो भी लेखन-शैली और देश-भेद से कुछ अन्तर रह ही जाता है जैसे जैन लेखकों के इ, उ, छ, झ, ठ, ड, ल और क्ष अक्षर और दक्षिण वालों के अ, झ, ण, भ और क्ष अक्षर नागरी के उन अक्षरों से अब भी भिन्न हैं।'[५]

(ङ) 'दक्षिण में वर्तमान नागरी से अधिक मिलती हुई लिपि उत्तरी भारतवर्ष की अपेक्षा पहिले, अर्थात् ई० स० की आठवीं शताब्दी से मिलती है। पहिले पहिल वह राष्ट्रकूट (राठौड़) वंश के राजा दंतिदुर्ग के सामनगढ़ से मिले हुए शक संवत् ६७५ (ई० स० ७५४) के दानपत्र में···पाई जाती है···'[६]

(च) 'इस प्रकार नागरी लिपि ई० स० की आठवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से विस्तृत रूप में लिखी हुई मिलती है परन्तु उससे पहिले भी उसका व्यवहार होना चाहिये क्योंकि गुजरात के गूर्जर वंशी राजा जयभट (तीसरे) के कलचुरि संवत् ४५६ (ई० स० ७०६) के दक्षिणी शैली की पश्चिमी लिपि के दानपत्र में उक्त राजा के हस्ताक्षर 'स्वहस्तो मम श्रीजयभटस्य' नागरी लिपि में ही हैं।'[७]

इस प्रकार ओझा जी नागरी का उत्पत्ति काल दक्षिणी भारत में आठवीं ई० से और उत्तरी भारत में दसवीं शताब्दी ई० से प्रारम्भ करते हैं और बारहवीं शताब्दी तक नागरी के उद्भव काल की संभावना का उल्लेख करते हैं।

९:१:२ : **जी० बूलर का मत** : नागरी के उद्भव काल पर बूलर का मत ओझा के मत से थोड़ा भिन्न है। वह ओझा के मत की भांति स्पष्ट भी नहीं है। उस मत के वाक्य यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। नागरी के उद्भवकाल से संबंधित बूलर के वाक्य नीचे उद्धृत किए जा रहे हैं—

(क) 'नागरी, जिसके अक्षर लम्बे और दुमदार होते हैं। इनके सिरों पर लंबी लकीरें होती हैं। सबसे पहले सातवीं शती में इसका पता मिलता है।'[८]

(ख) 'बरूनी का साक्ष्य मान लिया जाए तो लगभग १०३० ई० में मालवा में नागरी लिपि थी'···'पर बरूनी की उक्ति अति संक्षिप्त और अस्पष्ट है। इससे इस प्रश्न का कोई निश्चित हल नहीं निकलता।'[९]

(ग) 'आठवीं-दसवीं शती में न्यूनकोणीय या सिद्धमातृका लिपि धीरे-धीरे विकसित होती-होती अपनी उत्तराधिकारिणी नागरी लिपि की ओर चली जाती है। नागरी के पुराने भारतीय रूप और इसमें फ़र्क सिर्फ़ यही है कि नागरी में खड़ी लकीरों के सिरों पर **कीलों** के स्थान पर **आड़ी रेखाएँ** बनाते हैं। ऐसे भी लेख मिलते है जिनमें कुछ अक्षरों में कीलशीर्ष हैं और कुछ में **आड़ी शिरोरेखाएँ**। इसलिए कभी-कभी तो अभिलेखों के सही वर्गीकरण में भी कठिनाई होने लगती है।'[१०]

(घ) 'न्यूनकोणीय और नागरी लिपियों के बीच एक माध्यमिक स्थिति भी है जो लगभग सन् ९०० ई० की पहोवा-प्रशस्ति, सन् ९९२ या ९९३ ई० की देवल-

प्रशस्ति और परमार राजा वाक्पतिराज द्वितीय के सन् ९७४ ई० के ताम्रपट्ट के अक्षरों में मिलती है।'[११] इनके दो गुण द्रष्टव्य हैं—

(१) इनकी शीर्ष के त्रिकोण इतने चौड़े हैं कि शिरोरेखाओं का भ्रम उत्पन्न करते हैं।

(२) अ, आ, घ, प इत्यादि के सिर खुले नहीं हैं, वरन् नागरी की तरह बंद हैं।

(ङ) नागरी-अक्षरों वाले सबसे पुराने और वास्तविक नमूने सन् ६२८ से सन् ७३६ तक के गुर्जर राजाओं के चार ताम्रपट्ट हैं, जिन पर 'इबारत दक्षिणी लिपि मैं है। पहले के तीन (ताम्र पट्टों पर) हस्ताक्षरों में नागरी अक्षर अल्पांश में हैं। अधिकांश अक्षर प्राक्तर उत्तरी या दक्षिणी रूपों में हैं। चौथे (सन् ७३६ के कावी ताम्रपट्ट में) हस्ताक्षर में ही सभी चिह्नों के नागरी रूप हैं और ये पूरी तरह विकसित रूप हैं। किन्तु सबसे प्राचीन प्रलेख जिसमें सर्वत्र नागरी रूप हों राष्ट्रकूट राजा दंतिदुर्ग का सन् ७५४ ई० का सामन गड़ दानपत्र ही है।'[१२]

(च) 'सामनगड़ और कण्हेरी के अभिलखों और ९ वीं शती के कुछ दूसरे लेखों में दक्षिणी नागरी का पुरागत विभेद मिलता है।'[१३]

(छ) 'उत्तर और मध्य भारत में नागरी सबसे पहले महोदय के महाराज विनायक पाल के ताम्रपट्टों में मिलती है जो संभवतः सन् ७९४ ई० के हैं। इनमें कुछ प्राचीनता है···।'[१४]

(ज) 'इससे यही संभव प्रतीत होता है कि कम-से-कम ८वीं शती के शुरू से ही उत्तरी नागरी इस्तेमाल में थी। अगली शती में उत्तरी-नागरी के अभिलेखों की संख्या अत्यल्प है। पर ९५० ई० के वाद यह संख्या बढ़ जाती है और ११वीं शती में तो यह लिपि नर्मदा के उत्तर के प्रदेशों में छा जाती है।'[१५]

बूलर के अनुसार नागरी के उद्भव का काल उसके कथन '(क)' के अनुसार सातवीं शती, कथन '(ङ)', '(च)' और '(ज)' के अनुसार आठवीं शती और '(ग)' तथा '(घ)' के अनुसार दसवीं शती ठहरता है। कुल मिलाकर यह काल ७वीं से १०वीं शती तक फैला है। कथन '(ज)' के अनुसार बूलर का ही निष्कर्ष माना जाए तो नागरी का उद्भवकाल 'कम-से-कम आठवीं शती' (ई०) मानना चाहिए।

९:२ : **परीक्षण** : इन मतों का परीक्षण करने से निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं—

(क) **काल की अनिश्चितता** : दोनों मतों में नागरी का निश्चित उद्भवकाल नहीं दिया गया। ओझा के मतानुसार वह दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं या आठवीं शताब्दी ईस्वी हो सकता है। कभी उनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि नागरी का उद्भव बीसवीं शताब्दी में हुआ है। बूलर के मतानुसार भी नागरी का उद्भवकाल सातवीं से दशवीं शताब्दी के मध्य झूलता है।

(ख) **नागरी के रूप की अनिश्चितता** : काल निर्णय में अनिश्चितता का सबसे बड़ा कारण यह है कि नागरी के विभिन्न रूपों की कल्पना करके उनके उद्भव के

विभिन्न काल दिए गए हैं। ओझा ने दक्षिणी नागरी (नंदि नागरी) को तथा उत्तरी नागरी (वास्तविक नागरी) को 'नागरी' की ही दो शाखाएँ मानकर दोनों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न कालों में मानते हुए नागरी के उद्‌भवकाल को अनिर्णीत-सी स्थिति में छोड़ दिया। बूलर ने भी जिसे एक बार नागरी कहा, दूसरी बार उसे ही 'दक्षिणी लिपि' कहकर पृथक् कर दिया और निष्कर्ष में उसे भी नागरी में सम्मिलित कर लिया अतः नागरी के मूल रूप का अनिश्चय होने के कारण उसका निश्चित उद्‌भवकाल नहीं दिया जा सका।

६:३ : **उचिति-विधि** : जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, लिपि का विकास सहज रूप से होता रहता है और ब्राह्मी से नागरी तक का विकास भी इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस धीरे-धीरे हो रहे विकास में से यदि केवल देखकर पहचानने के आधार पर ही उद्‌भव-काल का निर्णय किया जाए, तो दृष्टि-भेद से अनेक निर्णय हो सकते हैं। देखने पर तो दूसरी शताब्दी ई० का 'ढ' (जो वस्तुतः ब्राह्मी का 'ढ' है) नागरी के आधुनिक 'ढ' संकेत से इतना अधिक साम्य रखता है[१६] (देखिए चित्र ६:१ का संकेत १) कि थोड़ी-बहुत नागरी जानने वाला व्यक्ति भी उसे देखते ही पढ़ लेगा। इसकी तुलना में नागरी के वर्तमान 'ड' से लगभग इतना साम्य रखने वाला संकेत पहली बार सन् १२०८ में दिखाई देता है।[१७] तो नागरी का
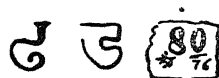
चित्र ६:१

उद्‌भवकाल दूसरी सताब्दी ईस्वी माना जाए या तेरहवीं शताब्दी ईस्वी ? स्पष्ट है कि यह आधार तर्क-संगत नहीं है।

इस समानता देखने के तर्क में संख्या का आधार लेकर समय की मध्यवर्तिता अथवा विकसित संकेतों की संख्या की गणना से क्या स्थिति उत्पन्न होती है, इसे नीचे बहु-प्रचलित मतों के आधार पर ही देखा जा रहा है।

६:३:१ : **समय का मध्यमान** : प्रथम विकसित संकेत 'ढ' का उद्‌भवकाल दूसरी शताब्दी ईस्वी है। (गणित की सरलता के लिए मान लीजिए—२०० ई० है।) अन्तिम विकसित संकेत, मान लीजिए, 'ड' है और उसका उद्‌भवकाल, मान लीजिए १२०० है। (ये सन् २०० तथा १२०० नितांत कल्पित नहीं हैं। नीचे पाद टिप्पणियाँ १६, १७ देखिए।) दोनों संकेतों के उद्‌भवकाल का मध्यमान निकालने के लिए अन्तराल के एक हज़ार वर्ष का आधा, अर्थात् ५०० वर्ष का समय प्रथम संकेत के उद्‌भवकाल में जोड़ दिया। निष्कर्ष यह निकाला गया कि नागरी लिपि का उद्‌भव **'समय के मध्यमान'** के नियम से लगभग सन् ७०० ई० बैठता है।

लगता है ओझा की ही नहीं, बूलर की भी गणना शुद्ध बैठती है। इस गणना

में सौ-पचास वर्ष कम या अधिक होना विशेष महत्त्व नहीं रखता।

किन्तु यह निष्कर्ष नितांत भ्रामक हो सकता है। आवश्यक नहीं कि उस लिपि का वास्तविक स्वरूप तब तक सचमुच बदला ही हो। कोई ऐतिहासिक कारण किसी लिपि में एक ही शताब्दी में बहुत बड़ा परिवर्तन ला सकता है और सम्भव है कि वह कारण सातवीं शताब्दी से बहुत पहले या बहुत बाद में रहा हो। अतः समय का मध्यमान गिनकर 'उद्भवकाल' का 'लगभग समय' निश्चित करना सिद्धांत के रूप में अमान्य है।

९:३:१:१ : **एक उदाहरण** : नागरी के उद्भव को ओझा ने एक ओर '८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से विस्तृत रूप में लिखी हुई मिलती है'[१८] बताया है तो दूसरी ओर नागरी लिपि की उत्पत्ति संकेतों द्वारा दिखाते हुए[१९] जो वास्तविक उदाहरण दिए हैं, उनसे यही सिद्ध होता है कि नागरी की उत्पत्ति ग्याहरवीं शताब्दी में हुई। ओझा की विधि के अनेसार 'ज' की उत्पत्ति संकेतों द्वारा चित्र ९:२ में[२०] दिखाई गई है—
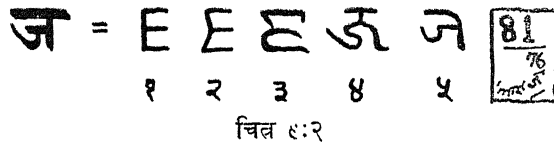
चित्र ९:२

'ज' के इन रूपों की व्याख्या बाएँ से दाहिने को बढ़ते हुए करना चाहें तो प्रारम्भ में दिया गया 'ज' आधुनिक नागरी का है। इसके पश्चात् समानता सूचक गणितीय संकेत है। इसके पश्चात् विभिन्न कालों के पाँच संकेत हैं। प्रत्येक सकेत का ध्वन्यात्मक मूल्य 'ज' ही है। ये पाँचों संकेत कहाँ-कहाँ से लिए गए हैं, इसकी व्याख्या देते हुए[२१] ओझा ने लिखा है कि—

संकेत १—अशोककालीन ब्राह्मी (समय ईसापूर्व ३री श०)
संकेत २—लि० पत्र ७, नासिक का लेख (दूसरी श० ईस्वी)
संकेत ३—लि० पत्र २१, झालरापाटन का लेख (सातवीं श० ईस्वी)
संकेत ४— लि० पत्र २५, उज्जैन का लेख (ग्यारहवीं श० ईस्वी)
संकेत ५— वर्तमान नागरी (उन्नीसवीं श० का अन्तिम छोर)

इन संकेतों से 'ज' का उद्भव-काल निश्चित किया जाए तो कहना होगा कि आधुनिक 'ज' का उद्भव चौथे संकेत के पश्चात् कभी हुआ है। क्योंकि ग्यारहवीं शती का 'ज' (चौथा संकेत) आधुनिक 'ज' नहीं है, अतः उसके पश्चात् ही उद्भव-काल माना जा सकता है। आधुनिक 'ज' पहली बार कब प्रयुक्त हुआ, इसका संकेत किसी ने नहीं दिया। ओझा के नागरी विकास के इस लिपि पत्र में प्रत्येक वर्ण के विकास का अन्तिम संकेत 'आधुनिक' संकेत है। ओझा ने यह लिपिपत्र उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में बनाया था, अतः ये अन्तिम संकेत तत्कालीन (सन् १८९४ के) माने जा सकते हैं।

ओझा की इस तालिका से सब वर्णों के अन्तिम संकेत 'आधुनिक' होने के कारण और उनका **प्रथम प्रयोग** अज्ञात होने के कारण, उन्हें छोड़कर उससे पूर्व के संकेत को (जैसे ऊपर चित्र ६:२ के चौथे संकेत को) नागरी के उद्भवकाल से पूर्व का समय माना जा सकता है। नागरी का उद्भवकाल **'अन्तिम से पूर्व' वाले संकेत** के समय के पश्चात् ही सम्भव है।

नीचे ओझा जी की उस तालिका से प्रत्येक वर्ण के उद्भव से पूर्व के संकेत का समय[२३] दिया जा रहा है—

१. अ—संकेत ५, लि० प० २७, चीरवा-लेख —तेरहवीं श० ई०
२. इ—कल्पित संकेत हैं। — —
३. उ—संकेत ५, लि० प० २५, कूर्मशतक पांडुलिपि—ग्यारहवीं श०ई०
४. ए—संकेत ५, लि० प० २५, कूर्मशतक पांडुलिपि—ग्यारहवीं श०ई०
५. क—संकेत ५, लि० प० २३, जोधपुर —नवीं श० ई०
६. ख—संकेत ४, लि० प० २६, जाजल्लदेव का लेख—बारहवीं श० ई०
७. ग—संकेत ४, लि० प० १६ होर्युजी-पांडुलिपि —छठी श० ई०
८. घ—संकेत ५, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —ग्यारहवीं श०ई०
६. ङ संकेत ३, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —ग्यारहवीं श०ई०
१०. च—संकेत ३, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —ग्यारहवीं श०ई०
११. छ—संकेत ३/४, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —ग्यारहवीं श०ई०
१२. ज-संकेत ४, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —ग्यारहवीं श०ई०
१३. झ—पांडुलिपियों से, समय नहीं दिया — —
१४. ञ—पृथक् नहीं मिला — —
१५. ट—संकेत ३, लि० पत्र २१, झालरापाटन-लेख —७वीं श० ई०
१६. ठ—संकेत ३, लि० पत्र २५, उज्जैन-लेख —११वीं श० ई०
१७. ड—संकेत ४, लि० प० २७, ओरिआ-लेख —१३वीं श० ई०
१८. ढ—ब्राह्मी का ही रूप —ई० पूर्व ३री श०
१६. ण—संकेत ५, लि० प० १६, होर्युजी-पां० लि० —६ठी श० ई०
२०. त—संकेत ३, लि० प० २७, ओरिआ-लेख —१३वीं श० ई०
२१. थ—संकेत ४, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —११वीं श० ई०
२२. द—संकेत ६, लि० प० १६, होर्युजी-पां० लि० —६ठी श० ई०
२३. ध—संकेत ४, लि० प० २७, ओरिआ-लेख —१३वीं श० ई०
२४. न—संकेत ३, लि० प० २०, कुंडेश्वर-लेख —७वीं श० ई०
२५. प—संकेत ३, लि० प० १६, इलाहबाद-स्तंभ-लेख—४थी श० ई०
२६. फ निश्चित समय नहीं दिया — —
२७. ब निश्चित समय नहीं दिया (संभवतः १०६३ ई०) —
२८. भ—संकेत ५, लि० प० २६, जाजल्लदेव-लेख —१२वीं श० ई०

२६. म—पृथक् नहीं दिया गया, केवल विकृत रूप दिया है — —
३०. य—संकेत ४, लि० प० १६, बोधगया-लेख —६ठी श० ई०
३१. र—संकेत ४, लि० प० २३, जोधपुर-लेख —६वीं श० ई०
३२. ल—संकेत ४, लि० प० २७, ओरिआ लेख —१३वीं श० ई०
३३. व—संकेत ५, लि० प० २४, मोरबी-लेख —१०वीं श० ई०
३४. श—संकेत ५, लि० प० २०, कुंडेश्वर-लेख —७वीं श० ई०
३५. ष—निश्चित समय नहीं दिया — —
३६. स—संकेत ५, लि० प० १६, होर्युज़ी-पां० लि० —६ठी श० ई०
३७. ह—संकेत ५, लि० प० २५, उज्जैन-लेख —११वीं श० ई०

ओझा की तालिका को उसी की मान्यता के अनुसार देखा जाए तो काल-निर्णय निम्नलिखित रूप में सामने आते हैं—

(क) **अज्ञात समय**—इ, ञ, ञा, फ, ब, म, ष—इनका समय ओझा ने स्पष्ट नहीं लिखा, अतः इन सात संकेतों पर विचार सम्भव नहीं है।

(ख) **ज्ञात समय**—ईसापूर्व तीसरी शताब्दी—ढ (एक)
४थी श० ई०—प (एक)
छठी श० ई०—ग, ण, द, य, स (पाँच)
सातवीं श० ई०—ट, न, श, (तीन)
नवीं श० ई०—क, र (दो)
दसवीं श० ई०—व (एक)
ग्यारहवीं श० ई०—उ, ए, घ, ङ, च, छ, ज, ठ, थ, ह (दस)
बारहवीं श० ई०—ख, भ (दो)
तेरहवीं श० ई०—अ, ड, त, ध, ल (पाँच)

ये काल उन संकेतों के हैं, जो नागरी के नहीं वरन् नागरी-संकेतों के पूर्वज थे। नागरी के संकेत इनसे विकसित हुए, अतः नागरी के संकेतों का उद्‌भव इनके समय के पश्चात् होना चाहिए।

डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा के निष्कर्ष भी ओझा के निष्कर्षों के समान ही भ्रांतिपूर्ण हैं एवं भ्रामक हैं। एक ओर उनका निर्णय है—

'नागरी का विकास ईस्वी सन् की सातवीं शताब्दी में हुआ। आठवीं सदी के आरम्भ में नागरी स्वतंत्र रूप ग्रहण करने लगी और इसी सदी के उत्तरार्द्ध में उसका स्पष्ट पृथक् रूप सामने आ गया।'[23]

स्पष्ट है कि वर्मा के इस कथन के अनुसार नागरी का उद्‌भव-काल सन् ८०० ई० से पहले ही होना चाहिए। इस निर्णय के पश्चात् जब डॉ० वर्मा ने नागरी के

प्रत्येक संकेत की उत्पत्ति दिखाई[२४] तब संकेतों के उद्भव-काल इस प्रकार सिद्ध हुए—

अनिर्णीत	—	आ, प, ब	—३
ब्राह्मी काल	—	ढ	—१
५वीं श० ई०	—	ठ, ष	—२
६ठी श० ई०	—	अ, ऊ, न, र, स	—५
७वीं श० ई०	—	अनुस्वार, ऋ-मात्रा, ट, ल, हलंत	—५
८वीं श० ई०	—	इ-ई-उ-मात्राएँ, क, ख, व	—६
		योग =	२२

९वीं श० ई०	—आ-मात्रा विसर्ग, ङ, ड, त, थ, म, य, रेफ	—९
१०वीं श० ई०	—ई, ओ-मात्रा, ग, ह	—४
११वीं श० ई०	—अ, ऋ, ऐ, ऊ-मात्रा, ज, ञ, द	—७
१२वीं श० ई०	—ओ, औ, छ, ण, फ	—५
१३वीं श० ई०	—ए-ऐ-औ-मात्राएँ, घ, भ, ज्ञ	—६
१४वीं श० ई०	—ह, उ, ए, च, ध, श, क्ष	—७
१५वीं श० ई०	—ज	—१
१६वीं श० ई०	—ड़, ढ़	—२
	आठवीं शती के बाद · योग=	४१

स्पष्ट है कि

(क) अधिकांश नागरी-संकेतों के उद्भव दसवीं शताब्दी के बाद ही हुआ है।

(ख) आठवीं शताब्दी के बाद ओझा के अनुसार केवल दस नागरी-संकेतों के 'पूर्वज-संकेत' उपलब्ध हैं शेष में से अधिकांश के 'पूर्वज'-संकेत आठवीं शती के पश्चात् ही उपलब्ध होते हैं, सात की स्थिति अज्ञात में है। डॉ० वर्मा की गणना में स्रोत एवं कारण नहीं दिए गए अतः उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। उस पर विश्वास कर भी लिया जाए तो भी आठवीं शताब्दी तक २२ नागरी-संकेतों का और ८वीं श० के बाद ४१ नागरी संकेतों का विकास हुआ।

(ग) उक्त स्थिति में नागरी का उद्भव आठवीं शती में घोषित करना नितांत असंगत है।

९:३:१:२ : **परिणाम** : उक्त विवेचन के परिणाम-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि समय के मध्यमान के आधार पर किसी लिपि के उद्भव-काल की घोषणा अवैज्ञानिक होती है। नागरी के उद्भव-काल के विषय में भी यही सत्य है।

९:३:२ : **अधिकांश संकेतों का पूर्ण विकास-काल** : यदि किसी लिपि की संकेत-सूची में सौ संकेत हों, तो ५१ संकेत 'अधिकांश' बना सकते हैं। जिस समय तक ५१

संकेतों का पूर्ण विकास हो चुका हो, उस समय को उस लिपि का उद्भव-काल घोषित कर दिया जाए। अब तक प्रायः यही परिपाटी अपनाई जाती रही है।

इस विधि से जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं, वे 'समय का मध्यमान' जैसे भ्रामक तो नहीं होते, फिर भी सिद्धांततः यह विधि अवैज्ञानिक है। बूलर ने नागरी के उद्भव-काल की चर्चा में एक वाक्य इस प्रकार लिखा है—

'...सबसे प्राचीन प्रलेख जिसमें सर्वत्र नागरी रूप हों राष्ट्रकूट राजा दंति-दुर्ग का सन् ७५४ ई० का सामनगढ़-दानपत्र ही है।'[25]

इस वाक्य को पढ़ने से ऐसा लगता है कि बूलर ने नागरी का उद्भव-काल पूर्णतया निश्चित कर दिया है—सन् ७५४ ई०; किन्तु इस लेख का परीक्षण करने पर बूलर महोदय का निष्कर्ष तर्क-सम्मत नहीं प्रतीत होता। परीक्षण नीचे प्रस्तुत है।

६:३:२:१ : **उदाहरण** : बूलर ने जिस सामनगढ़-दानपत्र को 'सर्वत्र नागरी रूपों' वाला माना है, उसके कुछ अक्षर नीचे चित्र ६:३ में दिए गए हैं।[26] ऊपर की

अ आ इ उ ए कृ खो घा ङ्गि च जो गु

टां ठः ड णा ति था दू धि नां पू फ

भु म यै रु ल वी स ष सं हा ण्य

चित्र ६:३

पंक्ति में सामनगढ़-दानपत्र के अक्षर हैं और नीचे की पंक्ति में नागरी द्वारा उन अक्षरों का उच्चारण दिखाया गया है। बूलर ने सामनगढ़-दानपत्र की लिपि को नागरी मानने का कारण नहीं लिखा। इसके विपरीत बूलर ने ही अन्यत्र नागरी के उद्भव की चर्चा करते हुए निम्नलिखित वाक्य भी लिखा है—

'उत्तर और मध्य भारत में नागरी सबसे पहले महोदय के महाराज विनायक पाल के ताम्रपट्टों में मिलती है जो संभवतः सन् ७६४ ई० के हैं।'[27]

इस वाक्य में जिस लिपि को नागरी माना गया है, उसके अक्षर[28] नीचे चित्र ६:४ में दिखाए गए हैं। उक्त ताम्रपट्टों के अक्षरों के नीचे नागरी में उनके उच्चारण दिये गए हैं।

यहाँ दिए गए चित्र ६:३ तथा चित्र ६:४ निःसंदेह नागरी से कुछ मिलते-जुलते संकेत प्रस्तुत करते हैं। अतः वे नागरी की ओर अग्रसर तो हैं, किन्तु इसका क्या

प्रमाण है कि वे नागरी के ही संकेत हैं ? इनसे केवल यही आभास मिलता है कि बूलर महोदय को ये अभिलेख आधुनिक नागरी से मिलते-जुलते प्रतीत हुए, अतः उन्होंने इन्हें नागरी के प्रथम लेख घोषित कर दिया।

अ आ इ उ क खि गा ङ्ग च ज ञा टा णा ती

य दि धे नौ प भू मु य रि ल वै श ष सि ह्

ध्या त्र र्भू छ ष्ण ह्पा (ह्पा चाहिए)

चित्र ९:४

जब तक हमारे पास कोई ऐसा मापदंड न हो, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि ये संकेत नागरी के हैं या नहीं, तब तक अवैज्ञानिक निर्णय के हो जाने की आशंका बनी रहेगी। 'मिलते-जुलते'—जैसे शब्द के आधार पर निर्णय देना इसीलिए असंगत है। मिलने को तो ब्राह्मी ही क्या सिंधु-लिपि भी नागरी से मिलती-जुलती है। तब नागरी का उद्‌भव-काल ३५०० ईसा पूर्व ही क्यों न मान लिया जाए ?

प्रत्येक लिपि में कुछ ऐसी विशेषताएँ होती हैं, जो उसे अन्य लिपियों से पृथक् करती हैं। जब तक लिपि-विशेष में वे विशेषताएँ न दिखाई दें, तब तक संकेतों की आकृति का साम्य कोई महत्त्व नहीं रखता। सिन्धु-लिपि से ब्राह्मी-लिपि की उत्पत्ति के विश्लेषण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों लिपियों के अनेक संकेतों में आकृति-साम्य है किन्तु दोनों में आकृति का आधार-तत्त्व नितांत भिन्न है। उदाहरणार्थ, 'जोड़' का संकेत (+) सिंधु-लिपि में मनुष्य के चित्र का प्रतीक होने के कारण 'क' अभिव्यक्ति देता है, जबकि ब्राह्मी में ये खड़ी और पड़ी निश्चित रेखाएँ 'क' की अभिव्यक्ति देती है, उसमें मनुष्य का चित्र 'क' नहीं होता। दोनों लिपियों की विशिष्ट प्रकृति के आधार पर ब्राह्मी का उद्‌भव-काल वैज्ञानिक विधि से निश्चित किया जा सकता है। इस आधार पर कहना चाहिए कि ब्राह्मी लिपि का उद्‌भव तब हुआ, जब चित्र-प्रतीक की भावना समाप्त हुई और रेखा-प्रतीक की भावना स्थापित हुई।

९:३:२:२ : **निष्कर्ष** : उक्त परीक्षण के आधार पर मेरा विनम्र सुझाव है कि—

(१) केवल आकृति-साम्य के आधार पर लिपि-विशेष का उद्‌भव-काल स्थिर करना अवैज्ञानिक पद्धति होने के कारण त्याज्य है।

(२) वैज्ञानिक विधि अपनाने के लिए लिपि-विशेष के वे विशिष्ट गुण निश्चित किए जाने चाहिएँ जो उसे अन्य लिपियों से भिन्न सिद्ध करते हों।

और

(३) प्रामाणिक लेखों में उपलब्ध सामग्री के आधार पर वह काल निश्चित किया जाना चाहिए, जब उस लिपि में वे विशिष्ट गुण उत्पन्न हुए।

इन विशिष्टताओं के उद्भव के काल को ही उस लिपि का उद्भव-काल माना जाना चाहिए। तब तक उस लिपि के कितने संकेतों में बाद की संकेताकृति से साम्य आ चुका था और कितने संकेतों की आकृतियों में बाद में साम्य आया, यह तथ्य उद्भव-काल के निर्णय में बाधक नहीं होना चाहिए। लिपि का विकास कभी नहीं रुकता। इन पंक्तियों को लिखने के समय प्रचलित नागरी-रूप कुछ वर्षों बाद बदल जाए और यह रूप भी 'प्राचीन' हो जाए, तो आश्चर्य नहीं होगा। अतः उद्भवकाल के बाद का परिवर्तन 'विकास' में दिखाया जा सकता है।

इसी विधि को अपनाते हुए आगे नागरी की विशिष्टताएँ निश्चित की जा रही हैं और उन्हीं के आधार पर नागरी के उद्भव-काल का संधान किया जा रहा है।

९:४ : नागरी की विशिष्टताएँ : संसार की लिपियों से भारत की लिपियों को पृथक् करते समय हम देख चुके हैं कि भारतीय लिपिवर्ग में निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं—

(१) अकार-सहित व्यंजन का एक मूल संकेत होता है।

(२) स्वर के दो रूप होते हैं; मूल संकेत तथा मात्रा-संकेत।

(३) अकार-सहित व्यंजन में स्वर की मात्रा संयोजित होती है।

तभी हमने देखा था सिंधु लिपि में प्रथम गुण पूर्णतः विद्यमान है और शेष दो गुणों का प्रादुर्भाव होने लगा है। ब्राह्मी में तीनों गुण पूर्णतः प्रतिष्ठित हैं। ये विशिष्टताएँ भारत की सभी लिपियों में ब्राह्मी काल से चली आ रही हैं।

ब्राह्मी की उत्तरी शाखा की लिपियों और दक्षिणी शाखा की लिपियों में दो प्रमुख अन्तर हैं—

(१) उत्तरी लिपियों पर छोटी या बड़ी शिरोरेखा है। दक्षिणी लिपियों में शिरोरेखा नहीं है। (यहाँ 'शिरोरेखा' में 'शीर्ष' भी सम्मिलित है।)

(२) उत्तरी लिपियों में अधिकांश व्यंजन-संकेतों में पाई है, दक्षिणी लिपियों में पाई नहीं है।

उत्तरी लिपियों में से भी नागरी को पृथक् किया जाए तो नागरी में निम्नलिखित विशिष्टताएँ दिखाई देती हैं—

(१) **सरलीकरण**—नागरी लिपि की मात्राएँ तथा स्वर-व्यंजनों की मूल आकृतियाँ यथासंभव अधिक टेढ़ी-मेढ़ी नहीं हैं। उनको अनावश्यक विस्तार भी नहीं दिया गया है। (तुलना के लिए चित्र ८:१ में अलंकृत लिपि के 'नौ' और नागरी के 'नौ' को देखिए।)

(२) **पूर्ण शिरोरेखा**—नागरी के अधिकांश ध्वनि-संकेतों पर शिरोरेखा है। अनुस्वार और विसर्ग ही ऐसे संकेत हैं, जिन पर शिरोरेखा नहीं है। शेष सब ध्वनि संकेतों पर पूर्ण या अपूर्ण शिरोरेखा अवश्य है। सिद्धान्ततः 'ध' और 'भ' पर अपूर्ण शिरोरेखा है। इनकी शिरोरेखा दो खंडों में विभक्त है। दोनों खंडों के मध्य रिक्त स्थान रखना अनिवार्य है, ताकि ध-घ में और भ-म में स्पष्ट अन्तर दिखाई दे। 'अ' (तथा इससे बनने वाले आ, ओ, औ) तथा 'थ' की शिरोरेखा सिद्धांततः पूर्ण है किन्तु व्यवहार में यह देखा जाता है कि 'अ' और 'थ' की शिरोरेखा को भी 'ध' और 'भ' की शिरोरेखा की भांति अपूर्ण रखा जाता है। लेखन में ध, भ पर पूर्ण शिरोरेखा होने पर उन्हें अशुद्ध माना जाता है किन्तु अ, थ पर पूर्ण शिरोरेखा को अशुद्ध नहीं माना जाता। यह शिरोरेखा आज भी 'एक अक्षर' पर पूर्ण होती है। लेखन में अक्षर या शब्द—कोई एक इकाई शिरोरेखा के नीचे हो सकती है, किन्तु जब तक हम 'टाइप' जोड़कर मुद्रण कर रहे हैं, सिद्धांततः एक अक्षर पर ही पूर्ण शिरोरेखा मान सकते हैं।

(३) **सीधी खड़ी पाई**—गुजराती की पाई नीचे के छोर पर विशेष मोड़ के साथ समाप्त होती है, शेष उत्तर भारतीय लिपियों में (इनमें नागरी भी सम्मिलित है) पाई सीधी खड़ी होती है।

(४) **हलंत-संकेत**—गुरुमुखी लिपि के अकार-सहित व्यंजन के संकेत में से 'अ' निकालकर अकेला 'स्वर-रहित' या 'शुद्ध' व्यंजन लिखने की कोई विधि नहीं है। नागरी में शुद्ध व्यंजन लिखने के लिए अकार-सहित व्यंजन-संकेत के नीचे हलंत-संकेत लगाया जाता है।

(५) **संक्षिप्त-व्यंजन-संकेत**—नागरी में व्यंजनों को अन्य व्यंजनों से संयोजित करते समय निम्नलिखित विधियों से संक्षिप्त किया जाता है—

(क) दाहिने पाई वाले व्यंजनों की पाई हटा दी जाती है। जैसे 'शस्य' के 'स' की पाई हटाकर उसे **संक्षिप्त रूप** दिया गया है।

(ख) मध्य पाई वाले व्यंजनों के पाई से दाहिने भाग का लटकता भाग काट कर उन्हें संक्षिप्त रूप दिया जाता है। जैसे 'शुक्ल' में 'क' को संक्षिप्त रूप दिया गया है।

(ग) दाहिने पाई वाले व्यंजन को अन्य व्यंजन की पाई या पाई-जैसे भाग के साथ ऐसे जोड़ दिया जाता है जैसे ऊपर '(क)' भाग के 'स्' को 'शस्य' में संक्षिप्त किया गया है। उदाहरण के लिए 'गन्ना' में एक 'न' तो पाई वाला है, दूसरे 'न' में पाई नहीं है। वह संक्षिप्त रूप में है। 'व्रत' में 'व्र' की भी यही स्थिति है। इसमें '्र' (र) की पाई विद्यमान है, हालांकि 'र' का यह रूप ('्र') अब प्रचलित नहीं है।

(६) **समान मात्राएँ**—नागरी में एक मात्रा का एक रूप होता है जो सब व्यंजनों के साथ एक ही विधि से संयोजित होता है। केवल 'रु-रू' में इसका अपवाद विद्यमान है। नागरी में वह भी अब तो विकल्प-मात्र रह गया है। अब 'रु रू' भी लिखे जाते हैं। टंकण-यंत्र में तो यही टंकित होते हैं।

उद्भव-काल का अनुसंधान : पिछले पृष्ठों पर हम सातवीं शताब्दी तक की भारतीय लिपियों के विभिन्न स्वरूपों को देख चुके हैं। उनमें से कुछ आकृतियाँ ऐसी उपलब्ध हुई हैं, जिन्हें नागरी-संकेतों की आकृतियों के समीप कहा जा सकता है। नागरी की विशिष्टताओं के अनुसार सातवीं शती ई० तक की लिपियों को परखा जाए तो निम्नलिखित परिणाम उपलब्ध होते हैं —

(१) **सरलीकरण**—अभी सरलीकरण बहुत कम हुआ है।

(२) **पूर्ण शिरोरेखा**— सातवीं शताब्दी तक की लिपियों में त्रिकोण शीर्ष ही प्रचलित है, अतः उन्हें नागरी नहीं कहा जा सकता।

(३) **सीधी खड़ी पाई**—सातवीं शती ई० तक की लिपियों में पाई तो है किंतु न्यून कोण बनाती हुई। अतः उन्हें नागरी नहीं कहा जा सकता।

(४) **हलंत-संकेत**— हलंत-संकेत का जन्म हो चुका है। अतः नागरी का एक गुण पूरा हो गया है।

(५) **संक्षिप्त व्यंजन संकेत**— अभी तक दाहिने पाई वाले व्यंजनों की पाई हटाने की और मध्य पाई वाले व्यंजनों के दाहिने भाग की दुम छोटी करने की कल्पना नहीं की गई। एक ही समान पाई के साथ एकाधिक व्यंजन जोड़ने की कल्पना भी नहीं की गई।

(६) **समान मात्राएँ**— अभी मात्राओं में एकरूपता नहीं आई।

अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सातवीं शताब्दी ईस्वी तक नागरी का उद्भव नहीं हुआ था। नागरी का उद्भव-काल सातवीं शताब्दी ई० के बाद ही कभी होना चाहिए। स्पष्ट है कि नागरी के उद्भव-काल के अनुसंधान के लिए सातवीं शताब्दी के बाद की लिपियों को इस दृष्टि से परखने की आवश्यकता है कि नागरी के विशिष्ट गुण उनमें से किसमें, कब और कहाँ उत्पन्न हुए। आगे के पृष्ठों पर इसी आधार पर लिपियों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. भा० प्रा० लि०, पृ० ६८

२. वही, पृ० ६६, संदर्भित ताम्रफलक की छाप इं० ऐ०, जि० १५, पृ० ११२ के सामने की प्लेट है।

३. भा० प्रा० लि०, पृ० ६९-७०

४. वही, पृ० ७०

५. वही, पृ० ७०। इस कथन में अब यह संशोधन संभव है कि यह अंतर बीसवीं शताब्दी के सात दशकों तक चलता रहा है, तत्पश्चात् केन्द्रीय हिंदी निदेशालय के प्रयत्नों से नागरी संकेतों में एकरूपता आने लगी है।

६. भा० प्रा० लि०, पृ०। सामनगढ़-दानपत्र की छाप का फोटो-लिथो-प्रिंट इं०ऐ०, जि० ११, पृ० ११० के आगे के प्लेटों पर देखा जा सकता है।

पु० शा०, पृ० ७०। जयभट (तृतीय) के दानपत्र की छाप का फ़ोटो-लिथो-प्रिंट इं० ऐ०, २, पृ० २५८ के प्लेट पर देखा जा सकता है।

८. भा० पु० शा०, पृ० ६४
९. वही, पृ० १०२, विशेष व्याख्यार्थ द्रष्टव्य—इंडिया, १, पृ० १८३
१०. भा० पु० शा०, पृ० १०३, १०४
११ भा० पु० शा०; पृ० १०४, बूलर ने फलक ५ के ३रे, ८वें और १०वें स्तम्भों में इन लेखों के अक्षर संकलित किए हैं।
१२. भा० पु० शा० पृ० १०५, ('सामन गढ़' अधिक प्रचलित वर्तनी है)।
१३. वही, पृ० १०५, १०६
१४. भा० पु० शा०, पृ० १०६, इन ताम्रपट्टों की फोटो-लिथो-प्रिंट इं० ऐ०, जि० १५, पृ० १४० पर मूल रूप में देखी जा सकती है। इसके अक्षरों का संकलन बूलर के फलक ४, स्तम्भ २३ में दिया गया है।
१५. भा० पु० शा०, पृ० १०६-१०७
१६. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र ८, यहाँ चित्र ६:१ का संकेत १
१७. वही, लिपिपत्र २७, ओरिया-लेख, यहाँ चित्र ६:१ का संकेत २
१८. भा० प्रा० लि०, पृ० ७०
१९. वही, लिपिपत्र ८२
२०. वही, लिपिपत्र ८२
२१. वही, पृ० १३४, १३५
२२. संकेतों का विकास दिखाने वाला लि० पत्र-८२ है, उसके संकेतों के स्रोत भा० प्रा० लि० के पृष्ठ १३४, १३५ पर दिए गए हैं और उस स्रोत का समय सम्बद्ध लिपिपत्र पर दिया है।
२३. दे० लि० (व०), पृ० १४५
२४. वही, पृ० २२६-२६४
२५. भा० पु० शा०, पृ० १०५
२६. ये संकेत कई स्रोतों से सकलित किए गए हैं। वे स्रोत इस प्रकार हैं—इं० ऐ०, जि० ११, पृ० १०५; बूलर के फलक, फल० ४, स्तं० २२
२७. भा० पु० शा०, पृ० १०६
२८, स्रात—इं० ऐ०, जि० १५, पृ० १४० तथा भा० पु० शा०, फल० ४, स्तं २३

१० संक्रांतिकालीन लिपियाँ और नागरी का उद्भवकाल

१०:१ : संक्रांतिकालीन लिपियाँ : पहले यह सिद्ध किया जा चुका है कि सातवीं शताब्दी तक की लिपियों में वे विशिष्टताएँ उत्पन्न नहीं हुई थीं, जिनके कारण नागरी लिपि को अन्य लिपियों से भिन्न माना जाता है । पिछले विवेचन से हमें यह भी आभास मिला है कि नागरी के वे गुण कब तक उत्पन्न हो चुके थे, यह सीमा सातवीं शती से तेरहवी शताब्दी तक भी हो सकती है और इससे कम या अधिक भी ।

कोई निश्चित उद्भव-काल स्थिर करने से पूर्व सातवीं शती के पश्चात् के उन लेखों का परीक्षण करना होगा, जिन्हें नागरी के लेख माना जाता है । जिस काल के लेखों में पूर्व विवेचित नागरी की विशिष्टताएँ उपलब्ध हो जाएँ, उसे नागरी का उद्भव-काल स्वीकार किया जा सकता है ।

छठी-सातवीं शताब्दी की लिपि का नाम 'अलंकृत लिपि' रखा गया था । सातवीं शताब्दी के पश्चात् उस काल तक की लिपियाँ, जिसमें नागरी का उद्भव हुआ, नागरी की ओर बढ़ते हुए इसी लिपि के भेद हैं । इन्हें ही गूर्जर लिपि, आदि नागरी, नागरी का 'प्रोटो-टाइप' (प्रथम अनगढ़ रूप), पश्चिमी गुप्त लिपि, पश्चिमी गुप्त लिपि का पूर्वी रूप, इत्यादि अनेक नामों से बताया जाता रहा है और उनकी सूक्ष्मताओं का विवेचन विभिन्न विधियों से किया जाता रहा है । नागरी के उद्भव में तत्कालीन लिपि की अनेक स्थानों की शैलियों ने सहायता की है । उन सब के भिन्न-भिन्न शैली-नाम देने से विषय उलझ तो सकता है, नागरी तक पहुँचने के लिपि के क्रम को स्पष्ट करने में सहायता नहीं मिलती । अतः सातवीं शताब्दी ईस्वी के पश्चात् के नागरी की ओर विकास में सहायक होने वाले सभी लेखों को एक ही नाम से विवेचित किया जा रहा है । क्योंकि वे लेख विभिन्न स्थानों और शैलियों के हैं, अतः उन्हें 'लिपि' न कह-कर 'लिपियाँ' कहना उचित है । क्योंकि वे 'अलंकृत-लिपि' से 'नागरी लिपि' तक लिपि-परिवर्तन का कार्य करते हैं और जन-सामान्य में 'कुटिल' के पश्चात् 'नागरी'

नाम ही सम्माननीय रहा है। अतः इन मध्यकालीन शैलियों को 'संक्रांति-कालीन' लिपियाँ कहना ही उचित प्रतीत होता है। हमारा इन लिपियों को शैलियों के अनुसार बाँटने से कोई प्रयोजन नहीं। हमें केवल इनका नागरी की ओर विकास ही देखना है। अतः एक-एक लेख को काल-क्रम से नीचे विवेचित किया जा रहा है।

१०:२ : **आठवीं शताब्दी के लेख** : आठवीं शताब्दी ई० के निम्नलिखित लेखों को नागरी के उद्भव के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता रहा है—

(१) सामनगढ़-दानपत्र (सन् ७५४)

(२) विनायकपाल के ताम्रपट्ट (सम्भवतः सन् ७९४)

निम्नलिखित कारणों से इन्हें आठवीं शती ई० के उन लेखों का प्रतिनिधि माना जा सकता है, जिनसे नागरी के उद्भव को खोजा जा सके—

(१) पहला लेख राजस्थान का होने के कारण राजस्थानी शैली का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा उत्तरी भारत की शैली का। यही दो क्षेत्र हैं जहाँ नागरी के उद्भव की मान्यताएँ चली आ रही हैं। इन दो क्षेत्रों में से किसको नागरी का उद्भव स्थान माना जाए, इस पर विद्वानों में मतभेद रहा है।[1]

(२) ये लेख आठवीं शती के उत्तरार्द्ध को पूरी तरह प्रस्तुत कर सकते हैं।

नीचे क्रमशः इन दोनों लेखों से नागरी की ओर विकास को स्पष्ट किया जा रहा है।

१०:२:१ : **सामनगढ़-दानपत्र** : इस लेख के चुने हुए कुछ अक्षर पहले चित्र ९:३ में दिखाए जा चुके हैं। उनके आधार पर निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(क) **अलंकरण-सरलीकरण** : कुटिल-लिपि में अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक थी। नागरी में सरलीकरण की प्रवृत्ति अलंकृत लिपि की अपेक्षा अधिक है। नागरी में केवल संतुलित अलंकरण ही शेष रहे हैं। सामनगढ़-दानपत्र का लेख सरलीकरण की ओर बढ़ा है। उसकी मात्राओं को अनावश्यक घुमाव और फैलाव से मुक्त रखा गया है। केवल एकार की मात्रा में नागरी से अधिक विस्तार दिखाई देता है, वह भी सर्वत्र नहीं। (देखिए—चित्र ९:३ का 'खो' और 'ये'।) इस दृष्टि से यह लिपि नागरी के निकट आई है।

(ख) **शिरोरेखा**— निःसंदेह शिरोरेखा त्रिकोण न होकर सरल रेखा में है। वह आ, क, ख, ग, घ ज, प, म, य, श, ष, स—इन बारह संकेतों पर 'पूर्ण' कही जा सकती है; किंतु अभी तक यह सिद्धान्त स्वीकृत नहीं हुआ कि नागरी का प्रत्येक अक्षर शिरोरेखा से ढका होता है। (१) कई व्यंजनों पर मात्र शीर्ष बनाने के लिए 'अर्द्ध' शिरोरेखा लगाना तथा (२) एक ही व्यंजन पर कभी अर्द्ध शिरोरेखा लगाना, कभी इ, ई, ऐ की मात्रा लगाने के लिए उसे दाहिने या बाएँ लम्बा कर देना यह सिद्ध करता है कि तत्कालीन लिपिक शिरोरेखा बनाना अनिवार्य नहीं समझता। उसे केवल शीर्ष-स्थान दिखाना अपेक्षित है।

आ, ख, घ, प, म, य, श, ष एवं स की शिरोरेखाएँ उनके आकृति-विकास के कारण आई हैं, शिरोरेखा के सिद्धान्त के कारण नहीं।

नागरी के लिए शिरोरेखा का सिद्धान्त अनिवार्य निकष का कार्य करता है, अतः इस लेख को 'नागरी' नहीं कहा जा सकता।

(ग) **खड़ी पाई**—इस लेख के संकेतों में से अ, ख, ग, थ, ध, प, म, य, ल, श, ष और स—इन बारह संकेतों में 'पाई' दिखाई देने लगी है किन्तु वह सीधी खड़ी नहीं है। उसमें बाएँ को कूबड़ और निचले छोर पर दाहिने को हल्का-सा मोड़ अब भी है। इसे ही बूलर कुटिल लिपि की बहुत बड़ी विशेषता कहता है। इसी के कारण वह इसे 'न्यूनकोण वाली' लिपि कहता है।[२]

खड़ी पाई भी नागरी का अनिवार्य निकष है। अतः यह लेख 'नागरी' लिपि का नहीं है।

(घ) **संक्षिप्त व्यंजन**—दाहिने से पाई हटाकर संक्षिप्त व्यंजन को पृथक् लिखने का कोई उदाहरण इस लेख में नहीं है। मध्य पाई अभी विकसित नहीं हुई। 'क' में मध्य पाई होते हुए भी उसे इस रूप में ग्रहण करके उससे संक्षिप्त रूप नहीं बनाया गया। 'ण्य'—जैसा '**समान पाई का प्रयोग**' उपलब्ध होता है; किन्तु वह नागरी के संक्षिप्त व्यंजन के विकास का केवल हल्का सा आभास देता है, क्योंकि स्वयं 'ण' में पाई का विकास नहीं हुआ।

स्पष्ट है कि इस लेख तक संक्षिप्त व्यंजन के लेखन का प्रारम्भ नहीं माना जा सकता। अतः यह लेख नागरी लिपि का नहीं है।

(ङ) **समान मात्राएँ**— इस लेख में मात्राएँ एक रूप में नहीं हैं। उदाहरणार्थ 'खो' और 'जो' में ओकार की मात्रा में; 'घा', 'टां' और 'नां' में आकार की मात्रा में तथा 'दू' और 'पू' की ऊकार की मात्रा में स्पष्ट अन्तर है (देखिए चित्र ९:३)। अतः यह लेख नागरी लिपि का नहीं है।

१०:२:२ : **विनायकपाल के ताम्रपट्ट : इन** लेखों से चुने हुए संकेत चित्र ९:४ में दिखाए गए हैं। उनके आधार पर निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(क) **सरलीकरण**—इस दृष्टि से इन लेखों की शैली नागरी की ओर विकास-मान तो है, किन्तु पूर्णतः नागरी के अनुरूप सरलीकरण नहीं हुआ। अतः यह नागरी नहीं है।

(ख) **शिरोरेखा**—केवल अ, ग, प, म, य, ष और स—इन सात संकेतों में आकृति-विकास के कारण पूर्ण शिरोरेखा दिखाई देती है। सिद्धान्ततः इन लेखों का लिपिक मात्र 'शीर्ष' ही बनाता है और वह भी फैले हुए त्रिकोण के रूप में। सातवीं शताब्दी की शैलियों में त्रिकोण शीर्ष प्रायः समबाहु त्रिभुज के रूप में था, अब उसकी ऊपर की रेखा दाएँ बाएँ अधिक फैल गई है। है वह अब भी त्रिकोण ही। अतः ये लेख नागरी लिपि के नहीं हैं।

(ग) **खड़ी पाई** – इनकी पाई भी सामनगढ़-दानपत्र के लेख के समान ही 'न्यूनकोण वाली' है, अतः यह नागरी के लेख नहीं हैं।

(घ) **संक्षिप्त व्यंजन**—'ध्या', 'प्र', 'र्भू' तथा 'ष्ठा' अक्षरों में समान पाई प्रयोग करने के उदाहरण तो हैं ही 'ध्या' और 'र्भू' में 'ध्' और 'ब्' पाई हटाकर संक्षिप्त बनाए गए प्रतीत होते हैं। ऊपर रेफ का रूप भी 'र' न रह कर नया रूप हो गया है। अतः यहाँ संक्षिप्त-व्यंजन के नागरी-सिद्धान्त का यर्पाप्त विकास हो चुका है। केवल मध्य पाई का संक्षेप अभी नहीं हुआ। अतः इस आधार पर इन लेखों को नागरी के निकट आया समझा जा सकता है, किन्तु सभी सिद्धान्तों का पूरा विकास न होने के कारण, इस लेख को 'नागरी' नहीं माना जा सकता।

(ङ) **समान मात्राएँ** – एक ही मात्रा भिन्न-भिन्न व्यंजनों के साथ भिन्न-भिन्न रूप से लगाई जाती है। उदाहणार्थ 'गा', 'ज्ञा' और 'टा' में 'आ' की मात्रा भिन्न-भिन्न रूप में है (दे० चित्र ६:४)।

१०:२.३ : **आठवीं शताब्दी के अन्य अभिलेख**—इसी शताब्दी के अन्य कई अभिलेख तुलनार्थ विवेचित किए जाते हैं।

(क) गांगेय प्रदेश का **यशोवर्मन् का नालंदा-पाषाणलेख**[३] त्रिकोण शीर्ष, न्यून-कोणीय पाई, असमान मात्राएँ एवं प्राचीन व्यंजन-संयोजन-पद्धति के कारण नागरी से बहुत दूर है। उसे अलंकृत लिपि का ही उदाहरण माना जा सकता है।

(ख) पूर्वी भारत में **धर्मपाल का खलीमपुर-ताम्रपट्ट**[४] तथा **देवपाल का मुंगेर-ताम्रपट्ट**[५] भी उक्त नालंदा-पाषाणलेख वाले गुणों से विभूषित है। इनमें अलंकरण में इतनी कमी अवश्य है कि नालंदा-लेख में मात्राओं को मोटी-पतली अधिक अनुपात में किया गया है, जबकि खलीमपुर और मैनामती की प्लेटों में मात्राएँ तथा अन्य रेखाएँ प्रायः समान मोटाई की ही रहती हैं, केवल त्रिकोण-शीर्ष ही मोटे हैं। यह अन्तर पाषाण और धातु के धरातल के कारण और उन पर अंकित करने की विधि के कारण भी है। सैद्धान्तिक धरातल पर ये पूर्वी भारत के लेख भी त्रिकोण शीर्ष, टेढ़ी पाई, मात्राओं में विविधता, अलंकरण और व्यंजनों के ऊपर-नीचे संयोजन के अलंकृत लिपि के गुणों को ही पूरा करते हैं।

(ग) मध्य भारत में **णण्णप्प का शिलालेख**[६] चर्चित रहा है। उसके संकेत निःसंदेह अलंकृत लिपि के हैं, क्योंकि उनमें त्रिकोण शीर्ष, टेढ़ी पाई, भिन्नता-पूर्ण एवं अलंकृत मात्राएँ, व्यंजनों का ऊपर-नीचे संयोजन के गुण ही प्रमुख हैं। इस लेख में पाई का अपेक्षाकृत सीधी होना भले ही नागरी की ओर विकास मान लिया जाए, सभी विशेषताओं की तुलना करने पर वह अलंकृत लिपि ही सिद्ध होती है।

(घ) राजस्थान का मेवाड़ के राजा **अपराजित का शिलालेख**[७] भी त्रिकोण शीर्ष, अलकृत एवं विभिन्न प्रकार की मात्राएँ, ऊपर-नीचे के व्यंजन-संयोग एवं मोटी-पतली रेखाएँ लिए हुए है, अतः यह भी अलंकृत-लिपि का ही लेख है। इसमें ग, घ,

प, म, य, ल, व, श, ष और स व्यंजनों की पाई सीधी खड़ी है। यह नागरी की ओर विकास है। शेष गुण कुटिल लिपि के ही हैं।

१०:३ : **आठवीं शताब्दी में विकास :** उक्त विवेचन के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि अलंकृत लिपि के स्थान-स्थान के भेदों से ऐसी कौन-कौन-सी प्रवृत्तियों का विकास हुआ जिन्हें नागरी की ओर हुए विकास के अन्तर्गत माना जाए—

(क) **अलंकरण-सरलीकरण** : आठवीं शताब्दी का लिपिक प्रायः अलंकृत लिपि के अति-अलंकरण से मुक्त नहीं है। कहीं-कहीं रेखाओं को मोटा-पतला करने का अनुपात कम हुआ है और रेखाएँ समान मोटाई रखने की प्रवृत्ति की ओर बढ़ी हैं। मात्राएँ अनावश्यक अंगों को तो छोड़ रही हैं किन्तु उनका दो-दो अक्षरों तक विस्तार अभी शेष है। उनमें घुमाव भी आवश्यकता से अधिक हैं। अतः अलंकरण अभी भी बहुत कुछ शेष है। उसमें इतना ही सरलीकरण हुआ है कि अस्पष्टता न आ जाए।

(ख) **पाई** : आठवीं शताब्दी के अधिकांश लेखों में पाई अब भी न्यूनकोंण वाली है। उसके बाईं ओर निकले कूबड़ में कुछ कमी आ गई है। पाई के पैर का झुकाव भी कम हुआ है। कहीं-कहीं (विशेष रूप से ताम्रपट्टों में) किसी-किसी संकेत की पाई सीधी खड़ी भी दिखाई दे जाती है। आठवीं शताब्दी के लेखों में पाई को सिद्धान्त के रूप में 'अ' की प्रतिनिधि रेखा नहीं माना गया। ख, ग, प, म इत्यादि में पाई का पूर्ण विकास **मात्र आकृतिक-गत विकास** है। उसकी सिद्धान्त के रूप में स्वीकृति बहुत बाद में आई।

(ग) **शिरोरेखा** : आठवीं शताब्दी के अधिकांश लेख त्रिकोण-शीर्ष ही प्रस्तुत करते हैं। कुछ लिपिकों ने उनके बदले **अर्ध-शिरोरेखा** का प्रयोग किया है। वह त्रिकोण-शीर्ष का सरली करण होते हुए भी सिद्धान्ततः 'शीर्ष' ही है, शिरोरेखा नहीं।

जिन अभिलेखों को 'नागरी' बताया जाता है, उनमें कुछ संकेतों में पूर्ण शिरो-रेखा दिखाई देती है किन्तु वह मात्र आकृति-विकास है। 'ख' या 'ग' का आकृतिगत विकास का इतिहास उनके ऊपरी भाग के प्रारम्भ से मिले होने के कारण शिरोरेखा में परिवर्तित होने को नितान्त स्वाभाविक सिद्ध करता है। ऐसे अक्षरों के सहारे पूरी लिपि में शिरोरेखा का सिद्धान्त मानना नितान्त असंगत है।

अन्य संकेतों के शीर्ष सिद्ध करते हैं कि आठवीं शती ई० तक शिरोरेखा को लिपि का आवश्यक सिद्धान्त नहीं माना गया था।

(घ) **मात्राओं की एक-रूपता** : आठवीं शताब्दी की सभी शैलियों में मात्राओं में **अनेक-रूपता** है। 'आ', 'ऊ', 'ऐ', 'ओ' और 'औ' की मात्राएँ तो तीन-तीन रूपों में प्रयुक्त हो रही हैं।

(ङ) **संक्षिप्त व्यंजन** : आठवीं शताब्दी का लिपिक भी व्यंजन को ऊपर-नीचे लिखकर संयोजित करने की ब्राह्मी की विधि को ही प्रमुखता देता है। उसने एक नई

प्रवृत्ति दिखाई है—व्यंजनों को दाहिने-बाएँ रखकर संयोजित करना। 'य' के पूर्व स्वर-रहित व्यंजन प्राय: इसी प्रकार संयोजित होने लगा है। यह महत्त्वपूर्ण विकास है। इसी के कारण बाद में खड़ी पाई को 'अ' का प्रतिनिधित्व मिला और पाई हटाकर संक्षिप्त व्यंजन बनाने का क्रम प्रारम्भ हुआ। आठवीं शताब्दी तक हलन्त-संकेत तो लगने लगा है, किन्तु पाई हटाकर संक्षिप्त व्यंजन को अकेला लिख देने की प्रवृत्ति प्रारम्भ नहीं हुई।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आठवीं शताब्दी की शैलियाँ अलंकृत लिपि से हल्की-सी ही दूर हुई हैं। अभी उनमें नागरी की प्रमुख विशेषताएँ उत्पन्न नहीं हुईं, अत: आठवीं शताब्दी को नागरी लिपि का उद्भव-काल नहीं कहा जा सकता। नागरी का उद्भव इसके बाद ही हुआ है।

१०:४ : **नवीं शताब्दी के लेख :** नवीं शताब्दी के अनेक अभिलेखों की चर्चा यत्र-तत्र हुई है। उनमें से तीन लेखों को विशेष रूप से नागरी का प्रतिनिधि माना जाता है—

(१) **बुचकला लेख** (नागभट का बुचकला शिलालेख; विक्रम संवत् ८७२, अर्थात् सन् ८१५ ई०)[८]

(२) **बरह-लेख** (भोजदेव का बरह-ताम्रपट्ट; विक्रम संवत् ८९३, अर्थात् सन् ८३६ ई०)[९]

(३) **जोधपुर-लेख** (प्रतिहार बाउक का जोधपुर का लेख, विक्रमी संवत् ८९४, अर्थात् सन् ८३७ ई०)[१०]

उक्त तीनों लेखों में विद्वानों को नागरी की ओर विकास के महत्त्वपूर्ण लक्षण दिखाई दिए हैं। दानी ने **कणस्वा-शिलालेख** के साथ बुचकता-लेख और बरह-लेख को एक ही प्रवृत्ति के लेख मानकर निर्णय दिया है कि इनमें 'कुटिल लिपि' की श्रृंगार प्रधान शैली के विपरीत सरलीकरण की प्रवृत्ति अपनाई गयी है।[११] यदि यह तथ्य सिद्ध हो जाए तो नि:सादेह यह नागरी की ओर विकास होगा। ओझा ने अनेक नागरी संकेतों के विकास का अन्तिम चरण जोधपुर-लेख में से ही खोजा है।[१२] नवीं शताब्दी ईस्वी के प्रतिनिधि लेख के रूप में भी उसने जोधपुर-लेख ही चुना है।[१३] बुचकला और बरह-लेख के महत्त्व को भी ओझा जी स्वीकार करते हैं। बुचकला के कुछ विशिष्ट संकेतों को वे विभिन्नता के कारण उद्धृत करते हैं।[१४] बरह-लेख भोजदेव की लिपि प्रस्तुत करता है। इस पर टिप्पणी करते हुए ओझा ने लिखा है, "प्रतिहार-वंशी राजा भोज के लेखों तथा उसके पीछे के महेन्द्रपाल (प्रथम), महीपाल आदि के लेखों की लिपियों में कोई स्पष्ट अन्तर नहीं है तो भी लिपियों के विभागों के कल्पित समय के अनुसार भोजदेव (प्रथम) तक के लेखों की लिपि की गणना कुटिल-लिपि में करनी पड़ी है।"[१५] भोजदेव के बरह के ताम्रपत्र-लेख को डा० शिवशंकर प्रसाद वर्मा नवीं शती की प्रतिनिधि नागरी के रूप में प्रस्तुत करते हैं।[१६]

स्पष्ट है कि इन तीन लेखों को नवीं शती के उन लेखों का प्रतिनिधि माना

जा सकता है, जिन्हें नागरी या नागरी की ओर विकासमान लिपि समझा जाता है। अतः इनका विस्तार से परीक्षण किया जा रहा है।

अ आ इ उ क खा गो घ चै ज ती डु दे

धा नु पा ब भु म मे(१) मे(२) ॐ थे रा

रो ली वे शु ष सि ह्रा ट्टा ई श्री

चित्र १०:१

१०:४:१ : **बुचकला-लेख** : इस लेख के कुछ चुने हुए अक्षर[१७] यहाँ ऊपर चित्र १०:१ में दिखाए गए हैं। इन संकेतों से नागरी की ओर विकास निम्नलिखित रूप में दिखाई देता है—

(क) **सरलीकरण** : केवल सीमित सरलीकरण के दर्शन होते हैं। 'मे' (२) 'चै', 'गो' के ऊपर की मात्राएँ 'रा' में 'आ' और 'ली' तथा 'श्री' में 'ई' की मात्राएँ सीधी नहीं हैं, अलंकृत लिपि की भांति वक्र ही हैं। अतः इस सरलीकरण को हल्का-सा विकास ही कहा जा सकता है। वह नागरी की सरलता से बहुत दूर है।

(ख) **शिरोरेखा** : इस लेख में त्रिकोण-शीर्ष ही प्रचलित है। 'खा' तथा 'ग' की शिरोरेखा अथवा 'दे', 'हा' जैसे अक्षरों में मात्रा के कारण शिरोरेखा, नागरी के शिरोरेखा के सिद्धान्त से सम्बन्धित नहीं है। अतः यह लेख नागरी से दूर है और अलंकृत लिपि का ही उदाहरण है।

(ग) **खड़ी पाई** : इस लेख के अ, क (मध्य), ख, ग, घ, ध, न, ल, व और स—इन दस संकेतों में प्रायः पाई सीधी खड़ी दिखायी देती है, किन्तु वह विकल्प से न्यूनकोणीय भी दिखाई देती है। मात्राओं की पाई तो सर्वत्र टेढ़ी है (देखिए 'तो', 'ली', 'सि', 'श्री')। पाई अपनी वक्रता छोड़ने की ओर अग्रसर कही जा सकती है, अभी वह मान्य सिद्धान्त नहीं है। अतः यह लेख नागरी की ओर विकास करती लिपि का है, नागरी का नहीं।

(घ) **संक्षिप्त व्यंजन** : इस लेख में किसी व्यंजन को अकेले संक्षिप्त रूप में नहीं लिखा गया। संयुक्त व्यंजन के लिए भी ऊपर-नीचे संयोजन की विधि ही प्रधान है (देखिए, 'द्ध', 'श्व', 'श्री)। 'प्त' में दाहिने-बाएँ व्यंजन प्रतीत होते हैं, किन्तु 'त' की पाई दाहिने के बदले बाएँ रखी गई है, अतः 'समान पाई' का सिद्धान्त भी लागू

नहीं हो सकता। 'म्याम्' में 'य' से पूर्व 'म्' पाई-रहित प्रतीत होता है। केवल 'य' के साथ ऐसा संयोजन चल निकला प्रतीत होता है। संक्षिप्त-व्यंजन के सिद्धान्त पर भी यह लेख नागरी का नहीं है।

(ङ) **समान मात्राएँ :** मात्राओं में एकरूपता नहीं है। 'खा' और 'हा' में 'आ' की मात्रा तथा 'रा' में 'आ' की मात्रा भिन्न-भिन्न प्रकार की है। 'ट्टा' में 'आ' की मात्रा नितान्त भिन्न है। इसी प्रकार 'मे' के दो रूपों में 'ए' की मात्रा के दो भिन्न प्रकार देखे जा सकते हैं। इस निकष के अनुसार भी यह लेख नागरी का नहीं है।

ऊपर किए गए परीक्षण से यह सिद्ध होता है कि प्रतिहार राजा नागभट के वुचकला के सन ८१५ ई० के लेख को नागरी का लेख नहीं माना जा सकता। वह प्रधानतया कुटिल लिपि का लेख है। उससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि—

(क) अ, उ, क, ख, ग, घ, द, न, प, म, य, र, ल, व, ष—इन पन्द्रह संकेतों की आकृतियाँ नागरी की ओर विकास कर रही हैं।

(ख) 'आ' की मात्रा का एक विकल्प नागरी की ओर बढ़ रहा । इ, ई, उ की मात्राएँ नागरी के बहुत निकट पहुँच रही हैं। ए, ऐ की मात्राओं में भी पर्याप्त साम्य आने लगा है।

सैद्धांतिक स्तर पर कुटिल लिपि के सिद्धान्त ही अभी तक मान्य चले आ रहे हैं। नागरी के सिद्धान्त का उद्भव नहीं हुआ।

चित्र १०:२

१०:४: २ : बरह-लेख : राजा भोजदेव के विक्रम संवत् ८९३ (अर्थात् सन्

८३६ ई०) के बरह (कानपुर जिला) से प्राप्त ताम्रपट्ट से चुने हुए कुछ अक्षर[१८] चित्र १०:२ (पृ० १७७) में दिखाए गए हैं। इसकी चित्र १०:१ के साथ तुलना की जाए तो यह लेख उससे विशेष भिन्न नहीं दिखाई देता। विशेष रूप से द्रष्टव्य अन्तर निम्नलिखित हैं—

अ दूसरी प्रकार का है। बुचकला-लेख का अ'उ' से बना 'आ' है और बरह-लेख का 'प' से बना 'श्र' है। इस काल से 'अ' के ये दो संकेत प्रचलित होते हैं।

उ—बरह लेख के 'उ' पर शीर्ष नहीं है।

क -'कु' में 'क' ब्राह्मी के पुराने संकेत का स्मरण दिलाता है।

ज—निचले बाएँ भाग की गोलाई बढ़ी है।

त – इसमें पहली बार पाई दिखाई दी है।

थ—आज की नागरी में 'य' के बाएँ ऊपरी भाग में वृत्त मिलाने से 'थ' बनता है। यह 'वृत्त' निचली गोलाई से छोटा होता है। पहली बार यह वृत्त इसी नागरी-प्रवृत्ति के अनुकूल दिखाई दिया है।

भ—'भ' का बाएँ भाग के निचले अंश का फंदा बरह-लेख में खुल गया है यह नागरी से भिन्न दिशा को विकास है।

म—पाई अधिक स्थिर एवं शेप भाग के साथ पृथक् रूप से जोड़ी गई प्रतीत होती है।

ल—इसकी पाई अधिक टेढ़ी है।

स—नागरी की अपेक्षा बंगला की ओर बढ़ा है।

नागरी के निकषों की दृष्टि से इस लेख की स्थिति निम्नलिखित है—

(क) **सरलीकरण**—बुचकला लेख की अपेक्षा अधिक सरलीकरण हुआ है।

(ख) **शिरोरेखा**—शिरोरेखा का सिद्धान्त तो यहाँ भी नहीं है। शीर्ष त्रिकोण न रहकर प्राय: सरल रेखा में बदले हैं, किन्तु वे इतने छोटे हैं कि अक्षर का तिहाई भर भी कठिनता से ही ढक पाते हैं। लिपिक को मात्र शीर्ष दिखाना ही अभीष्ट है।

(ग) **खड़ी पाई**—आ की मात्रा की पाई कुछ लम्बी और सीधी हुई है। शेष मात्राओं और व्यंजनों में बुचकला-लेख की तुलना में पाई अधिक टेढ़ी हुई है। इस दृष्टि से इसमें नागरी के निकट आने की अपेक्षा दूर जाने का ही आभास मिलता है।

(घ) **संक्षिप्त व्यंजन**—ऊपर-नीचे व्यंजनों के संयोजन का सिद्धान्त ही मान्य है। 'य' के पूर्व दाहिने-बाएँ संयोजन पूर्ववत् है। नया विकास कुछ नहीं।

(ङ) **समान मात्राएँ**—'ट' में 'आ' भिन्न रूप में संयोजित होता आ रहा था। इस लेख में 'ट' में 'आ' अन्य व्यंजनों की भांति ही संयोजित हुआ है, किन्तु 'ज्ञा' में अब भी विकल्प रूप प्रचलित है। 'भो' और 'नौ' की मात्राएँ एकार की मात्रा के बाएँ सरकने की भूमिका बना रही हैं। यह विधि बाद में नागरी में भी प्रचलित रहा है। बंगला में तो आज तक चल ही रही है।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि बरह-लेख को भी अलंकृत लिपि के ही निकट

माना जा सकता है। उससे नागरी के कुछ संकेतों की आकृति का विकास तो खोजा जा सकता है, किन्तु जिन विशिष्टताओं के आधार पर नागरी को शेष लिपियों से पृथक् किया जाता है, वे इस लेख की लिपि में नहीं हैं। सरलीकरण, पूरी शिरोरेखा, खड़ी पाई, समान मात्राएँ और संक्षिप्त व्यंजन – ये पाँच अनिवार्य विशेषताएँ प्राप्त किए बिना किसी लेख को नागरी नहीं कहा जा सकता और बरह लेख में इनमें से सरलीकरण का ही मुख्य रूप से विकास हुआ है, शेष सिद्धान्त प्रायः उसी अवस्था में हैं, जिसमें बुचकला-लेख में थे।

निष्कर्षतः यह लेख नागरी का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

१०:४:३ : **जोधपुर-लेख** : प्रतिहार राजा बाउक के विक्रमी संवत् ८९४ (अर्थात् सन् ८३७ ई०) के जोधपुर के लेख से चुने हुए कुछ विशेष अक्षर यहाँ चित्र १०:३ में दिखाए गए हैं।[19] इनकी तुलना चित्र १०:१ में दिखाए गए बुचकला-लेख के और चित्र १०:२ में दिखाए गए बरह-लेख के अक्षरों से की जा सकती है। नागरी की विशिष्टताओं के निकष पर इस लेख की स्थिति निम्नलिखित है—

(क) **सरलीकरण** – यह लेख पूर्व विवेचित दोनों लेखों से अधिक अलंकृत है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सरलीकरण का जो स्वरूप नागरी में दिखाई देता है, वह नवीं शताब्दी में मान्य नहीं था। डॉ० दानी राजस्थानी शैली से ही नागरी का उद्‌भव मानते हैं।[20] इसी शैली का नवीं शताब्दी के मध्य का यह लेख इतना अलंकृत है कि नागरी की सरलीकरण की विशेषता का आभास भी इसमें नहीं मिलता।

चित्र १०:३

(ख) **शिरोरेखा**—त्रिकोण-शीर्ष 'अ', 'उ', 'च', 'छ' इत्यादि अनेक संकेतों

पर देखे जा सकते हैं। यही सिद्धांततः इस लिपि को अलंकृत वर्ग की लिपि सिद्ध करते हैं। ख, ग, ज, ट, ण, थ और ब व्यंजनों पर आकृति-विकास के कारण जो शिरोरेखा बनने लगी है, वह नया सिद्धांत तो स्थापित नहीं कर पाई, शीर्ष के सिद्धांत को तोड़ने के प्रयत्न कर रही है। 'ट' और 'ज' का विकास विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। त्रिकोण-शीर्ष की बहुलता यही सिद्ध करती है कि यह नागरी लिपि का लेख नहीं है।

(ग) **खड़ी पाई**—इसी शताब्दी के अन्य लेखों में कई व्यंजनों में निःसंदेह खड़ी पाई दिखाई देती है (देखिए चित्र १०:१ तथा चित्र १०:२); किन्तु इस लेख में वहाँ भी प्रायः टेढ़ी या लहराती हुई पाई लगा कर उसे अलंकृत करने का प्रयत्न किया गया है। यदि इसे लिपिक की रुचि मानकर पाई का रूप ही मान लिया जाए तो भी केवल 'ण' का नया रूप ही ऐसा है, जिसने पाई अर्जित की है। इस प्रकार पाई के निकष पर भी यह लेख पूर्व-विवेचित लेखों के समान ही अलंकृत लिपि का लेख है।

(घ) **संक्षिप्त व्यंजन** - इस लेख का लिपिक भी व्यंजनों को ऊपर-नीचे संयोजित करने का ही सिद्धान्त मानता है। (देखिए—'ङ् श', 'न्ती', 'ष्ण'); किन्तु इस प्रयास में 'श्य' के य-पूर्व-संयोजन के प्रचलन के अतिरिक्त 'स्मि' जैसे रूप का दिखाई देना नागरी की ओर विकास कहा जा सकता है। इस अक्षर में नागरी के संक्षिप्त व्यंजन के सभी नियमों का पालन हुआ है। इसकी व्याख्या निम्नलिखित हैं—

'स' में पाई है। उसे हटाकर उसका संक्षिप्त रूप बन सकता है। 'स्' और 'म' को एक अक्षर माना जाता है। 'म' में 'इ' की मात्रा संयोजित करने के लिए पूरे अक्षर के बाएँ 'इ' की मात्रा लगाई जाती है।

आज हम नागरी में इन सभी नियमों का पालन करते हैं और यही नियम इस 'स्मि' में भी दिखाई देते हैं। एक कमी रह गई है। वह यह कि 'स' को 'म' से पृथक् नहीं लिखा गया। फिर भी यह नागरी की ओर बहुत बड़ा विकास है। क्योंकि इसे पृथक् नहीं लिखा गया, अतः यह मानने का आधार नहीं है कि पाई हटा कर संक्षिप्त व्यंजन बनने लगा है। इसीलिए इसे नागरी के बहुत निकट मानते हुए भी नागरी नहीं कहा जा सकता।

(ङ) **हलंत**—इस लेख में 'न्' (यहाँ चित्र में दिखाया गया है) तथा 'त्' में हलंत का संकेत नागरी जैसा है और व्यंजन के नीचे लगा है। नागरी का यह सिद्धांत यहाँ पूर्ण रूप से विकसित हो चुका है।

(च) **समान मात्राएँ**—इस निकष पर इस लेख में अभी कमी दिखाई देती है। 'को' और 'मो' में 'ओ' की मात्रा एक जैसी नहीं है। 'वे' और 'ते' में 'ए' की मात्रा भिन्न-भिन्न है। 'णा' और 'पा' में 'आ' के मात्रा समान नहीं है। अलंकृत-लिपि की भिन्न-मात्रा की प्रवृत्ति अभी शेष है।

उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है, बाउक का जोधपुर-लेख भी नागरी का नहीं वरन् अलंकृत लिपि का लेख है। (१) उसमें कुछ नागरी संकेतों

का आकृति-गत विकास अवश्य खोजा जा सकता है, (२) उसमें हलंत का प्रयोग हुआ है और (३) पाई वाले व्यंजन को बाद के व्यंजन के पाई जैसे भाग के साथ बाएँ-दाहिने संयोजित किया गया है—इन तीनों तथ्यों को नागरी की ओर सैद्धांतिक विकास माना जा सकता है; किन्तु नागरी के जो विशिष्ट गुण उसे अन्य लिपियों से भिन्न करते हैं, उन सबकी तुलना में यह थोड़ी-सी समीपता इस लेख को नागरी नहीं बना सकती। अतः यह लेख भी नागरी का नहीं, अलंकृत लिपि का ही है।

१०:४:४ : अन्य लेख : नवीं शताब्दी के उत्तर भारत तथा मध्य भारत के लेख प्रायः उपरिविवेचित तीनों लेखों जैसे ही हैं। फिर भी जिन लेखों में कोई विशेष परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, उसे स्पष्ट किया जा रहा है—

१०:४:४:१ : बैजनाथ प्रशस्ति : (सन् ८०४ ई०)—बूलर ने इसे शारदा लिपि का सबसे पहला लेख माना है।[२१] इस लेख के अक्षर अनगढ़ होते हुए भी
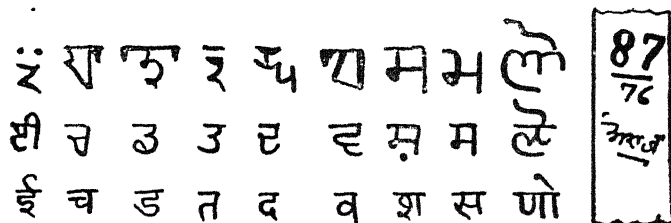
चित्र १०:४

शारदा और गुरुमुखी की ओर विकास अवश्य प्रदर्शित करते हैं। यहाँ चित्र १०:४ में पंक्ति १ में बैजनाथ प्रशस्ति के अक्षर दिखाए गए हैं। पंक्ति २ में उनके समान उच्चारण वाले गुरुमुखी-अक्षर तथा पंक्ति ३ में नागरी अक्षर हैं। तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि बैजनाथ प्रशस्ति के अक्षरों की आकृति में गुरुमुखी के च, ड, त, श, स तथा ण की ओर विकास हुआ है। 'णो' पर लगी मात्रा भी गुरुमुखी की मात्रा के उद्भव का कारण बनी है। अतः यह लेख कुटिल लिपि के विभाजनकाल का द्योतक है।

१०:४:४:२ : कण्हेरी-अभिलेख (सन् ८३१ तथा ८७७ ई०)—सन् ८३१ का
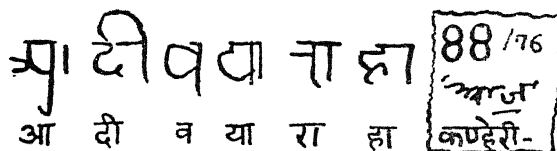
चित्र १०:५

कण्हेरी अभिलेख (संख्या १५)[२२] तथा सन् ८७७ ई० का कण्हेरी-अभिलेख (संख्या ४३)[२३] मुख्य रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि उनमें कई अक्षरों में पाई सीधी खड़ी

है जो नागरी की ओर विकास है। इन लेखों के कुछ महत्त्वपूर्ण अक्षर चित्र १०:५ में दिखाए गए हैं। 'आ' में शीर्ष के साथ मात्रा जोड़ी गई है। अन्यत्र पाई के निचले छोर पर मात्रा लगाई जाती थी। 'य' और 'ह' की आकृतियाँ नागरी से मेल खाने लगी हैं। 'ह' में बाएँ भाग में नीचे पैर जोड़ा गया है, यह महत्त्वपूर्ण विकास है। अन्यत्र 'ह' में इस बाएँ पैर की न्यूनता रहती थी। देखिए चित्र ८:११ का 'ह', चित्र ६:४ का 'हे', चित्र १०:२ का 'हो'। स्पष्ट है कि कण्हेरी के ये अभिलेख नागरी के खड़ी पाई के विकास, 'आ' की मात्रा और 'य-ह' की आकृतियों के विकास के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

१०:४:४:३ : **घटिआला-लेख** (सन् ८६१ ई०)—प्रतिहार कक्कुट के घटिआला के लेख[२४] को ओझा ने नवीं शताब्दी के विशेष लेख के रूप में प्रस्तुत किया है किन्तु उसके केवल दो अक्षर ('ऊ' और 'ण') ऐसे हैं, जिनसे नागरी के अक्षरों की आकृति का विकास ज्ञात होता है। वे अक्षर यहाँ चित्र १०:६ में दिखाए गए हैं। 'ऊ'

ऊ ण

89/76 'भारज' घटिआला

चित्र १०:६

को 'उ' के दाहिने **आधी पाई**[२५] जोड़कर बनाया गया है। आज भी नागरी में यही विधि प्रचलित है। आज के 'ण' का आद्य रूप इस लेख में उपलब्ध है। वह बैजनाथ-प्रशस्ति के (देखिए चित्र १०:४) से अधिक विकसित है। अन्य निकषों पर कसा जाए तो यह लेख नागरी से बहुत दूर है।

१०:४:४:४ : **पहोवा-प्रशस्ति** (लगभग ६०० ई०) बूलर का मत है—'न्यून कोणीय और नागरी लिपियों के बीच एक माध्यमिक स्थिति भी है जो लगभग ६०० ई० की पहोवा प्रशस्ति, सन् ६६२ या ६६३ ई० की देवल प्रशस्ति और परमार राजा वाक्पति राज द्वितीय के सन् ६७४ ई० के ताम्रपट्ट के अक्षरों में मिलती है।'[२६] इस कथन में उल्लिखित तीन लेखों में से एक (पहोवा प्रशस्ति) ही नवीं शताब्दी का है।

अ इ गु ङ्गा टा ढ णो ती थैः ए

ख फू भो रु ञ्चै ष्ठ कृ ह्रा

90/76 'भारज' पिहोवा
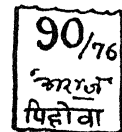
चित्र १०:७

शेष दोनों दसवीं शताब्दी के हैं। अतः यहाँ इस लेख का विश्लेषण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। इस लेख से चुने हुए कुछ महत्त्वपूर्ण संकेत यहाँ चित्र १०:७ में दिखाए गए हैं। प्रत्येक संकेत से जो स्थिति उपलब्ध होती है, उसे नीचे क्रमशः दिया जा रहा है—

अ—नागरी के उत्तरी 'अ' का यह स्वरूप पाई के नीचे लगे चरण-संकेत के कारण महत्त्वपूर्ण है। इस **चरण-संकेत** को 'इ', 'ङ्घा' के 'घ', 'ढ', 'त', उसकी मात्रा 'थ', 'ए', 'भ', 'र', 'च' और 'ह' में भी देखा जा सकता है। बाद में नागरी के संकेतों में से 'र' और 'ह' की मुख्य रूप से और सामान्यतः सभी पाई वाले व्यंजनों की आकृति के विकास में यह **'पैर'** बहुत सहायक हुआ है।

इ—यह शारदा की 'इ' की ओर विकास है। (चित्र १०:४ की 'ई' से मिलाइए)।

गु—यहाँ पैर का संकेत (चरण-संकेत) उकार की मात्रा हो गया है। यह नागरी से दूर जाने की प्रवृत्ति है। सम्भव है गुरुमुखी की '-' ऐसी पड़ी रेखा जैसी उकार की मात्रा का प्रारम्भ इसी संकेत में छिपा हो।

ङ्घा—'आ' की पुरानी मात्रा प्रचलित है जो नागरी से भिन्न है।

टा—'आ' की पुरानी मात्रा द्रष्टव्य है। बाद में शारदा ने यही मात्रा अपनाई।

ढ—नीचे जोड़ा गया पैर उसे नागरी के 'द' जैसी आकृति दे रहा है। इसके कारण 'ढ' की आकृति नागरी के 'ढ' से दूर हो गई है।

णो—यहाँ मात्रा में स्पष्टतः नागरी से दूर हटने की प्रवृत्ति है। चित्र १०:४ के 'णो' (बैजनाथ-प्रशस्ति) से तुलना करने पर ज्ञात होता है कि 'ण' की आकृति तो नागरी के निकट आई है किन्तु ओकार की मात्रा में से 'आ' की मात्रा का अंश विलुप्त हो गया है। यह स्पष्टतः शारदा-गुरुमुखी की ओर विकास है। जिला कुरुक्षेत्र के पिहोवा में सन् ९०० में आधुनिक गुरुमुखी की ओकार की मात्रा का सैद्धान्तिक विकास पूर्ण हो गया है।

ती—'ई' की मात्रा का प्रारम्भ विशेष अलंकरण से हुआ है जो नागरी की प्रकृति के विरुद्ध है।

थैः—ऐकार की मात्रा का यह रूप बंगला में प्रचलित मात्रा-रूप का पूर्वरूप कहा जा सकता है।

ए—पैर के संकेत के कारण नागरी की ओर विकास दिखाई देता है।

ख—बाएँ भाग में 'र' का स्वरूप स्पष्ट हो गया है।

फू—'ऊ' की मात्रा नागरी के समान बनती जा रही है।

भो—ओकार की मात्रा सिद्धान्ततः नागरी की ओर अग्रसर है।

रु—उकार की मात्रा; 'र' में उ, ऊ की मात्राएँ मध्य में जोड़ने की प्रवृत्ति नागरी की विशेषता है। (अब टंकण की सुविधा के लिए ये मात्राएँ 'र' के नीचे लगने लगी हैं।) अतः यह नागरी की ओर विकास है।

न्चै – मात्रा नागरी के अनुकूल है। व्यंजनों का ऊपर-नीचे संयोजन अलंकृत लिपि के अनुकूल है।

ष्ठ – व्यंजनों का ब्राह्मी-परंपरा के अनुसार ऊपर-नीचे का संयोजन है।

क्र—पुराना 'क' नागरी से दूर है, किन्तु मात्रा-रूप नागरी के अनुकूल है।

हा—'आ' की मात्रा नागरी के बहुत निकट है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ अन्तिम नौ संकेतों में नागरी से कुछ साम्य है, वहाँ पहले नौ संकेतों में नागरी से भिन्न, शारदा-गुरुमुखी की दिशा में विकास भी दृष्टिगोचर होता है। बूलर के वाक्य का यह अंश कि यह लेख 'न्यूनकोणीय और नागरी लिपियों के बीच एक माध्यमिक स्थिति' का उदाहरण है, भ्रामक है। इस लेख के आधार पर जो स्थिति स्पष्ट होती है, वह यह है कि अलंकृत लिपि धीरे-धीरे अनेक दिशाओं की ओर विकसित हो रही है। यह लेख उस विभाजन की मात्र एक दिशा का उदाहरण है। इसे अलंकृत-लिपि और शारदा-लिपि के मध्य की स्थिति का द्योतक कहा जा सकता है।

१०:४:५ : **नवीं शताब्दी में विकास :** नवीं शताब्दी के जिन लेखों को नागरी का प्रतिनिधि कहा जाता रहा है, ऊपर उनके विश्लेषण द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि घटिआला-लेख और बैजनाथ-प्रशस्ति को नागरी का प्रतिनिधि नहीं कहा जा सकता। शेष लेखों से नागरी की ओर विकास तो दिखाई देता है, किन्तु उनमें नागरी की सभी अनिवार्य विशिष्टताओं तक विकास दिखाई नहीं देता। इन लेखों के आधार पर इस शताब्दी का नागरी की ओर विकास निम्नलिखित सीमाओं तक दृष्टिगोचर होता है—

(क) **सरलीकरण** - नवीं शताब्दी में अलंकृत लिपि की अलंकारिकता में किंचित् कमी आई है। यद्यपि इनमें से बरह-लेख को सरलतम कहा जा सकता है, किंतु वह भी नागरी की सरलता से दूर और 'कुटिल लिपि' की अलंकारिकता के निकट ही है।

(ख) **शिरोरेखा**—इस शताब्दी में त्रिकोण-शीर्ष ही मान्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित है। कण्हेरी-लेख इस दृष्टि से सबसे अधिक विकसित हैं। उनमें शीर्ष त्रिकोण न होकर **अर्धशिरोरेखा** का रूप धारण कर चुका है। वह अब भी 'शीर्ष' का ही द्योतक है जो इस बात की ओर संकेत करता है कि तत्कालीन लिपिक को शिरोरेखा का सिद्धांत मान्य नहीं है।

(ग) **पाई**—यों नवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही (बुचकला-लेख; अनुच्छेद १०:४:१, सन् ८१५ का विवरण देखिए) पाई अपनी वक्रता कम करने लगती है और कण्हेरी-अभिलेखों (संख्या १५, सन् ८३१ का और संख्या ४३, सन् ८७७ का) में नितांत सीधी खड़ी पाई विद्यमान है, किंतु अभी तक इस पाई को हटाकर व्यंजन का **संक्षिप्त रूप** बनाने का प्रयत्न नहीं हुआ। अतः नागरी की ओर **अपूर्ण विकास** की ही सूचक है। पहोवा प्रशस्ति (सन् ९००) में चरण-संकेत जोड़ने का प्रचलन दिखाई देता है।

(घ) **संक्षिप्त व्यंजन**—संक्षिप्त व्यंजन का नागरी-संबंधी सिद्धान्त अभी प्रारम्भ नहीं हुआ है। केवल जोधपुर-लेख (सन् ८३७) का 'स्मि'-जैसा प्रयोग कुछ नई संभावनाएँ अवश्य दिखा रहा है।

(ङ) **मात्राएँ**—कण्हेरी-लेखों में 'आ' की मात्रा में एकरूपता आई है। अन्यत्र मात्राओं में एकरूपता नहीं है। 'ए' 'ऐ', 'ओ' और 'औ' की मात्राओं का एक अंग व्यंजन के बाएँ लटकने लगा है, यह नितान्त नया विकास है जो **बंगला-वर्ग** की लिपियों के उद्भव की भूमि तैयार करता-सा लग रहा है। दूसरी ओर **शारदा-गुरुमुखी-वर्ग** की मात्राओं की भूमिका बैजनाथ-प्रशस्ति (सन् ८०४) से तैयार होती दिखाई देती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि नवीं शताब्दी में अलंकृत लिपि की शाखाएँ नागरी, शारदा और बंगला लिपियों की ओर अग्रसर हैं, अतः इस काल को अलंकृत-लिपि का विभाजन-काल कहा जा सकता है। क्योंकि अभी नागरी का उद्भव नहीं हुआ, अतः नवीं शताब्दी ई० को संक्रान्तिकाल में रखना ही अधिक वैज्ञानिक है।

१०:५ : **दसवीं शताब्दी के लेख** : ओझा ने[२७] दसवीं शताब्दी के लेखन के प्रतिनिधित्व के लिए निम्नलिखित चार लेखों को चुना है—

(१) **मोरबी-लेख** (सन् ९०४)

(इसे न केवल 'वर्णमाला' दिखाने के लिए, अपितु इस लेख का उद्धरण देकर दसवीं शताब्दी का लेखन दिखाने के लिए भी चुना गया है। अतः ओझा की दृष्टि से यह लेख विशेष महत्त्व रखता है।)

(२) **अलवर-लेख** (सन् ९३९)
(३) **नेपाल-पांडुलिपि** (दसवीं शताब्दी के आस-पास)
(४) **देवल-प्रशस्ति** (सन् ९९२)

(इसी लेख में इसकी लिपि को 'कुटिलाक्षराणि' कहा गया है[२८], किन्तु बूलर ने इन 'कुटिल अक्षरों' का अर्थ लिपि-विशेष नहीं लिया। इसे वे 'कूट-लिपि'[२९] का समानार्थक मानते हैं।[३०])

बूलर ने[३१] निम्नलिखित लेखों को उत्तरी शैलियों का प्रतिनिधि मानकर उनकी तुलनात्मक संकेत-तालिकाएँ दी हैं—

(१) **वाक्पति द्वितीय का लेख** (सन् ९७४)
(२) **हर्ष-लेख** (सन् ९७४)
(३) **मूलराज-लेख** (सन् ९८६)
(४) **देवल-प्रशस्ति** (सन् ९९२)

डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा ने निम्नलिखित लेख को 'देवनागरी' लिपि के दसवीं शताब्दी के प्रतिनिधि लेख के रूप में प्रस्तुत किया है—

(१) मूलराज (प्रथम) के बालेरा के दो धातुपत्र-लेख[३२] (सन् ९९५)

उक्त सूचियों में से ओझा का लेख (४) और बूलर का लेख (४) — देवल प्रशस्ति - एक ही लेख है और नेपाल-पांडुलिपि वास्तव में ९वीं शताब्दी की है ।[33] अतः इन सूचियों से लेखों के काल के क्रमानुसार निम्नलिखित सूची तैयार की जा सकती है—

(१) मोरबी-लेख (सन् ९०४)[34]
(२) अलवर-लेख (सन् ९५९)[35]
(३) वाक्पति-लेख (सन् ९७४)[36]
(४) हर्ष-लेख (सन् ९७५)[37]
(५) मूलराज-लेख (सन् ९८६)[38]
(६) देवल-प्रशस्ति (सन् ९९२)[39]
(७) बालेरा-लेख (सन् ९९५)[40]

उक्त सातों लेख समग्रतः तो नहीं किन्तु अंशतः नागरी की ओर विकास के संकेत अवश्य देते हैं, अतः नीचे इनका विवेचन क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है ।

१०:५:१ : मोरबी-लेख : मोरबी में प्राप्त हुए राजा जाइंकदेव के दानपत्र के लेख से चुने हुए कुछ अक्षर नीचे चित्र १०:८ में दिखाए गए हैं । इन अक्षरों की आकृतियों का तथा उनकी प्रयोग-विधि का विश्लेषण करने पर यह लेख नागरी की ओर
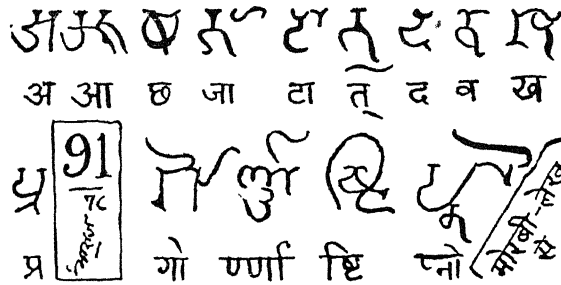
चित्र १०:८

विकास के लिए उपयोगी नहीं सिद्ध होता । सरलीकरण की अपेक्षा रेखाओं की वक्रता के द्वारा अलंकरण ही अधिक दिखाई देता है, शीर्ष कहीं त्रिकोण है तो कहीं सरल या वक्र रेखा, किन्तु वह शीर्ष के समान छोटी होने के कारण शिरोरेखा के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है । पाई में वक्रता है । मात्राओं में असमानता है । 'जा' और 'पू' की मात्राएँ तो नागरी से दूर जा जा रही हैं । व्यंजन-संक्षेप तथा हलन्त नवीं शती के विकास के समान ही है । निष्कर्षतः नागरी के इतिहास में यह लेख महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता ।

१०:५:२ : अलवर-लेख : प्रतिहार राजा विजयपाल के समय के सन् ९५९ के अलवर के लेख में तो स्थिति और भी नागरी के विपरीत है ! नीचे चित्र १०:९ (पृष्ठ

१८७) में दिखाए गए इस लेख के कुछ अक्षर आकृति में अपेक्षाकृत नागरी से साम्य रखते हैं किन्तु वे भी नवीं शताब्दी के नागरी की ओर होने वाले सैद्धान्तिक विकास से

चित्र १०:९

पिछड़े हुए हैं। त्रिकोण-शीर्ष और मात्राओं की विषमता तो स्पष्ट लक्षित होती ही है, अन्य संकेतों की आकृतियाँ भी नागरी से दूर हटी हैं। अत: इसे भी नागरी के इतिहास में सम्मिलित नहीं करना चाहिए।

१०:५:३ : वाक्पति-लेख : परमार राजा वाक्पतिराज द्वितीय के सन् ९७४ ई० के ताम्रपट्ट के कुछ विशेष अक्षर यहाँ चित्र १०:१० में दिखाए गए हैं। इन संकेतों

चित्र १०:१०

से विकास की स्थिति निम्नलिखित रूप से स्पष्ट होती है—

(क) **सरलीकरण**—सरलीकरण नहीं किया गया।

(ख) **शिरोरेखा**—त्रिकोण शीर्ष ही प्रतिष्ठित है, प, म, य, ण, ष जैसे व्यंजनों का आकृति-विकास शिरोरेखा की भूमि तैयार कर रहा है।

(ग) **पाई**—पाई वक्र है, तो भी पूर्ण एवं स्पष्ट होने के कारण विकसित है। नवीं शताब्दी के अन्त में चरण-संकेत प्रारम्भ हो गया था (देखिए—पहोवा-प्रशस्ति; चित्र १०:७)। वह **चरण-संकेत** यहाँ 'श' के 'पू'-भाग में, 'ष' में और 'क्य' के 'य' में तो दिखाई देता ही है; जहाँ कहीं पाई आई है, उसके अन्त में भी अनिवार्य रूप से आया है। इसका 'कुटिल' के 'न्यूनकोणीय' संकेतों से साम्य तो है, किन्तु सिद्धान्तत: यह विकास नया है। 'कुटिल' की न्यूनकोणीय पाई का प्रभाव अन्य संकेतों पर नहीं था, यहाँ सभी संकेतों में समान रूप से चरण-संकेत जुड़ता है।

(घ) **मात्राएँ**—मात्राओं में एकरूपता नहीं है। 'ठे' और 'षैः' की तुलना से ज्ञात होता है कि मात्राएँ नागरी और बंगला दोनों वर्गों की हैं, उनमें एकरूपता नहीं है।

(ङ) **संक्षिप्त व्यंजन**—'क्य' में नया विकास द्रष्टव्य है। मध्य में पाई वाले व्यंजन 'क' का 'य' में ऐसा संयोजन प्रथम बार दिखाई देता है। 'य' पर पूरी शिरोरेखा है, यह भी नागरी के संक्षिप्त-व्यंजन के सिद्धान्त की आधार भूमि तैयार करने में सहायक है।

(च) **हलन्त**—'न्' में हलन्त का संकेत नागरी के ऊ-मात्रा-संकेत के समान है।

उक्त विवेचन के आधार पर यह लेख नागरी की ओर हल्का-सा विकास दिखाता है। पाई और संक्षिप्त व्यंजन में कुछ विकास हुआ है, जिसे 'नागरी के निकट आना' कहा जा सकता है। शेष सिद्धान्तों में कोई विकास नहीं है।

१०:५:४ **हर्ष-लेख** : चाहमान विग्रह (द्वितीय) के सन् ९७१ ई० के हर्ष-अभिलेख को बूलर न्यूनकोणीय और नागरी लिपियों के मध्य की लिपियों के उदाहरण में गिनता है।[४१] उसके अनुसार वह उस शैली का नमूना है, जिसमें 'कीलशीर्ष' और आड़ी शिरोरेखा वाले दोनों प्रकारों के अक्षरों का मेल है।'[४२]

इस लेख के कुछ महत्त्वपूर्ण अक्षर नीचे चित्र १०:११ में दिखाए गए हैं। इनका विश्लेषण नीचे दिया है—

चित्र १०:११

(क) **सरलीकरण**—सरलीकरण नवीं शताब्दी से आगे नहीं बढ़ा है। अलंकरण की प्रवृत्ति बहुत कुछ विद्यमान है। 'घे' और 'यो' की मात्राओं को देखकर यह स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

(ख) **शिरोरेखा**—त्रिकोण-शीर्ष अभी भी सिद्धांत के रूप में विद्यमान है। ऊपर के उदाहरणों में 'ग', 'घ', 'श' और 'य' की शिरोरेखा आकृतिगत विकास है। 'य' की शिरोरेखा नितांत पृथक् रूप से लगाई गई है जो नागरी की प्रवृत्ति के अनुकूल है, किन्तु उसका एकाकी अस्तित्व नागरी प्रवृत्ति के उद्भव को सिद्ध नहीं करता। सन् ८३७ के जोधपुर-लेख के विश्लेषण (१०:४:३) में इस पर विस्तृत विचार किया गया था। 'य' में शिरोरेखा यहाँ उसे 'स' से भिन्न बनाती है।

(ग) **पाई**—'घे' में पाई के नीचे जो चरण-संकेत है, वह अन्य संकेतों में नहीं है। इस लेख में यह संकेत लुप्त होता दिखाई देता है। अ, श, य, स, म—इनमें पाई सीधी दिखाई देती है। 'क्ष्म' में 'म' की पाई सैद्धांतिक अस्तित्व रखती है। इसका

ऊपरी छोर तक उठना इसके सैद्धांतिक अस्तित्व को प्रमाणित करता है। वाक्पति-लेख (चित्र १०:१०) के 'क्य' अक्षर में 'य' की पाई भी इतनी ऊँची उठी थी। वहाँ भी 'य' पर पूर्ण शिरोरेखा थी जो 'प' से 'य' को भिन्न करती है। अतः इस लेख में पाई का सैद्धांतिक विकास दिखाई देता है।

(घ) **मात्राएँ**—'नू' में 'ऊ' की मात्रा नागरी की नहीं है। शेष सभी अक्षरों में मात्राएँ नागरी की हैं और इस लेख में उनमें समानता है। अतः यह लेख मात्राओं के नागरी के सैद्धांतिक स्वरूप के बहुत निकट पड़ता है।

(ङ) **संक्षिप्त व्यंजन**—'स्फु' में 'स्' और 'फ' का संयोजन नागरी से भिन्न है, किन्तु 'क्ष्म' में 'म' का संयोजन नागरी के अनुकूल है। अभी ऐसे संक्षिप्त व्यंजनों का प्रचलन नहीं हुआ, जिनमें पाई हटाकर व्यंजन को संक्षिप्त किया गया हो।

(च) हलंत—पहले से ही विकसित हो चुका है। यहाँ भी है।

स्पष्ट है कि इस लेख के अनुसार यह कहा जा सकता है कि नागरी के हलंत का पूर्ण विकास हो चुका है, मात्राएँ और खड़ी पाई सिद्धांततः स्थिर होने के निकट हैं, संक्षिप्त व्यंजन के पाई रहित रूप और शिरोरेखा का सिद्धांत अभी विकसित नहीं हुआ। इस लेख में अलंकरण विद्यमान है, नागरी को अपेक्षित सरलीकरण अभी दिखाई नहीं देता।

अतः बूलर का यह मत तो तर्क-संगत है कि यह लेख 'कुटिल' और नागरी के मध्य की स्थिति का द्योतक है।[४३] इसके विपरीत उनका यह मत असंगत है कि नागरी का उद्भव सातवीं शताब्दी में हुआ।[४४]

१०:५:५ : **मूलराज-लेख** : बूलर ने गुजरात के प्रथम चालुक्य राजा मूलराज के ताम्रपट्टों के अक्षरो को दसवीं शताब्दी की उत्तरी नागरी के उदाहरण माना है।[४५]

चित्र १०:१२

उसके सन् ९८६ के ताम्रपट्ट से कुछ चुने हुए अक्षर यहाँ चित्र १०:१२ में दिखाए गए हैं। इनसे निम्नलिखित तथ्य प्रमाणित होते हैं—

(क) **सरलीकरण**—नागरी के लिए अपेक्षित सरलीकरण बहुत सीमा तक इस लेख में दिखाई देता है। शीर्ष का त्रिकोण लुप्त हो रहा है, पाई सीधी हो रही है, आकृतियाँ टेढ़ा-मेढ़ापन छोड़ रही हैं। अतः सरलीकरण की दृष्टि से यह लेख नागरी

के बहुत निकट पहुँच गया है। केवल 'णो' में दिखाई गई 'ओ' की मात्रा (और इसी तरह 'ए' की मात्रा) में अलंकृत लिपि का 'कृपाण' की आकृति का भाव बना हुआ है।

(ख) **शिरोरेखा**-- 'लु' में दिखाया गया त्रिकोण शीर्ष किसी-किसी अक्षर पर विकल्प रूप में दिखाई देता है। अधिकांश अक्षरों पर अर्ध-शिरोरेखा है। 'ए' की मात्रा के लिए बाईं ओर, 'आ' की मात्रा के लिए दाहिनी ओर और 'ओ' या 'औ' की मात्रा के लिए दाहिने, बाएँ—दोनों ओर उसका विस्तार हो जाता है। ऐसे अक्षरों में वह पूर्ण शिरोरेखा का रूप धारण कर लेती है। 'घ', 'य', 'म' -- जैसे कुछ व्यंजनों पर शिरोरेखा विकसित हो चुकी है। स्पष्ट है कि शिरोरेखा के सिद्धांतानुसार यह लेख नागरी के बहुत निकट की स्थिति का द्योतक है।

(ग) **पाई**—पाई बहुत कुछ सीधी खड़ी है। 'ए' की मात्रा के बाएँ लटके भाग ने भी 'पाई' का रूप ले लिया है, अतः पाई की बहुलता होने लगी है। इसी प्रवृत्ति के प्रभाव से कालांतर में सीधी खड़ी पाई नागरी का अनिवार्य अंग बन गई। दशमी शताब्दी ईस्वी के अन्तिम छोर के लगभग नागरी की पाई के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिका तैयार हो रही है। पाई के निचले छोर पर अब भी न्यूनकोणीय दाहिने-नीचे को झुकाव है, जिसे **चरण संकेत का आभास** समझा जा सकता है। 'घ' जैसे कुछ संकेतों में जुड़ा चरण-संकेत तत्कालीन लिपिक के मन में जमे चरण-संकेत के मोह को प्रमाणित करता है। अतः पाई के सिद्धांतानुसार यह लेख पूर्णतः नागरी न होते हुए भी नागरी के बहुत निकट है।

(घ) **मात्राएँ**—मात्राओं में एक-रूपता नहीं है। 'ए' की मात्रा का बाएँ लटकना स्थायी होता जा रहा है। वह नागरी की प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं है। 'ज्ञा' में 'आ' की मात्रा नागरी की नहीं है। 'जो' और 'लो' की 'ओ' की मात्राएँ दो भिन्न रूपों की हैं। 'मू' की 'ऊ' की मात्रा नागरी की 'ऊ' की मात्रा से सिद्धांततः भिन्न है। नागरी की मात्रा का गोल भाग घड़ी की सूई की तरह घूमता है, जबकि इस लेख की 'ऊ' की मात्रा का गोल भाग चक्की की तरह (एंटी-क्लाकवाइज़) घूमता है। स्पष्ट है कि मात्राओं की दृष्टि से यह लेख नागरी से दूर है।

(ङ) **संक्षिप्त-व्यंजन** —इस लेख के 'स्था' और 'क्त्' जैसे **ऊपर-नीचे संयोजित व्यंजन** तो प्राचीन पद्धति के चलते रहने को ही प्रमाणित करते हैं। 'ष्ठि' में एक पाई पर दो व्यंजन संयोजित किए गए हैं; किन्तु 'ठ' यहाँ 'मध्य पाई वाला' व्यंजन होकर रह गया है। यह उदाहरण 'ठ' के पुराने, केवल एक वृत्त से बनने वाले, रूप से प्रभावित भी हो सकता है, अतः इससे किसी सैद्धांतिक विकास को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस संकेत से नागरी के संयोजित अक्षर की एक और आकृति का साम्य अवश्य प्रमाणित हुआ है। 'ज्ञा' में 'ज्' और 'ञ्' का संयोजन बहुत पुराना है। अतः इस लेख में संक्षिप्त व्यंजन का कोई नया विकास नहीं हुआ।

(च) **हलंत**—'न्' में स्पष्टतः नागरी का हलंत-संकेत है। वह पहले से ही चला आ रहा है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यह लेख हर्ष-लेख की अपेक्षा नागरी के अधिक निकट है; किन्तु इसमें कुछ ऐसी कमियाँ हैं जिनके रहते इसे 'नागरी' संज्ञा नहीं दी जा सकती। सरलीकरण की थोड़ी न्यूनता और पाई के नीचे रह गई चरण-संकेत की वक्रता उपेक्षित की जा सकती है और साथ ही एकार की मात्रा बाएँ लटकी होने पर भी सर्वत्र उसी रूप में हो तो उसे तत्कालीन 'नागरी' माना जा सकता है किन्तु जब तक चित्र १०:१२ के 'लु' के समान त्रिकोण-शीर्ष का एक भी उदाहरण विद्यमान है तब तक लेख को 'नागरी' के वर्ग में नहीं रखा जा सकता। चित्र १०:१२ के 'घ' के समान कुछ अक्षरों में चरण-संकेत पृथक् रूप से जोड़ा गया है, अतः पाई का नियम खंडित हो रहा है। चित्र १०:१२ के 'जो' और 'णो' या 'ज्ञा' और 'रा' में मात्राओं की अनेकरूपता के उदाहरण विद्यमान हैं, अतः लेख-विशेष को 'नागरी' नहीं कहा जा सकता।

१०:५:९ : **देवल-प्रशस्ति :** सन् ९९२-९३ की देवल-प्रशस्ति को ओझा ने भी प्रतिनिधि लेखन के रूप में प्रस्तुत किया है[४६] और बूलर ने भी।[४७] बूलर ने इसे सन् ९०० की पहोवा-प्रशस्ति[४८] और सन ९७४ ई० के वाक्पति-लेख[४९] के साथ ही वर्गबद्ध करते हुए 'न्यूनकोणीय और नागरी लिपियों के बीच एक माध्यमिक स्थिति' के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[५०] इस लेख के कुछ महत्त्वपूर्ण अक्षर यहाँ चित्र १०:१३

चित्र १०:१३

में दिखाए गए हैं। इन अक्षरों के विश्लेषण के आधार पर इस लेख की लिपि को नागरी के संदर्भ में देखा जाए तो निम्नलिखित परिणाम प्राप्त होते हैं—

(क) **सरलीकरण**—यह लेख उपरि-विवेचित मूलराज-लेख की अपेक्षा अधिक अलंकृत होने के कारण नागरी से दूरतर हो गया है। रि, वी, भू, हे, स्थो तथा यो की मात्राएँ अपेक्षाकृत अधिक वक्र (कुटिल), अधिक लम्बी और कृपाण की आकृति की ओर उन्मुख हैं।

(ख) **शिरोरेखा**—'आ' के 'अ' भाग पर और 'प्ला' के 'प' पर शिरोरेखा पूर्ण हुई है जो नागरी की ओर आकृति-विकास है। क्योंकि सिद्धांत-रूप में इस लेख में 'शीर्ष' दृढ़ता से विद्यमान है जो प्रायः त्रिकोण रहता है और कहीं-कहीं विकल्प से आड़ी

रेखा होकर अर्ध-शिरोरेखा का रूप धारण कर लेता है, अतः इस सिद्धांत के अनुसार यह नागरी नहीं है।

(ग) **पाई**— अकेले व्यंजन में प्रायः पाई सीधी खड़ी रहती है। उसमें सिद्धांततः चरण-संकेत नहीं है। इकार एवं ईकार की मात्राओं का निचला छोर सर्वदा और 'आ' की मात्रा का निचला छोर कभी-कभी न्यूनकोणीय आभास देता है। इसे और 'आ' के 'अ' की पाई के निचले छोर पर लगे चरण-संकेत को पुराने प्रचलन का 'अवशेष' ही कहा जा सकता है। यदि इस लेख के लिपिक को चरण-संकेत अपेक्षित होता तो वह अन्यत्र भी इसका प्रयोग करता। 'अ' में आभासित चरण-संकेत 'अवशेष' होकर भी शेष अक्षरों से मेल नहीं खाता। सम्भवतः इसीलिए बाद के लिपिकों ने इसे 'अ' की तीसरी रेखा के रूप में ग्रहण किया है। अतः 'पाई' के सिद्धांत के अनुसार यह लेख नागरी के लगभग निकट पहुँच गया है।

(घ) **मात्राएँ**—केवल 'भू' में ऊकार की और 'स्थौ' में औकार की मात्राएँ अग्राह्य प्रतीत होती हैं, शेष मात्राओं में एकरूपता और नागरी से समानता है। 'ञा' भी 'डा' के समान ही है। 'स्थौ' की मात्रा में एकार की एक मात्रा 'स्थ' के वाम भाग में है। यह विषमता इसे नागरी कहने में बाधक है।

(ङ) **संक्षिप्त-व्यंजन**—'स्थौ' और 'न्दु' में प्राचीन सिद्धान्त कार्य कर रहे हैं। ये नागरी से मेल नहीं खाते। 'ग्या' में कोई नया विकास नहीं है। वाक्पति-लख का 'क्य' (देखिए—चित्र १०:१०) कहीं अधिक विकसित है, क्योंकि उसमें 'य' पर शिरोरेखा भी है। उसी लेख के 'फ' की देवल-प्रशस्ति के 'फ' के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि देवल-प्रशस्ति (चित्र १०:१३) का 'फ' ब्राह्मी की मूल आकृति की ओर लौटा है। वाक्पति लेख (चित्र १०:१०) का 'फ' तो 'प' में महाप्राणत्त्व का वृत्त शिरोरेखा के साथ जोड़कर बना है, अतः मध्य में पाई होने का नागरी का स्वरूप बनने लगा है, देवल-प्रशस्ति का 'फ' मध्य पाई के सिद्धान्त से दूर है। अतः यहाँ उसकी संक्षिप्त व्यंजन बन सकने की योग्यता का क्षय हुआ है। 'ज्ञ' का संयोजन पूर्व-प्रचलित है। 'स्म' वास्तव में नए विकास का द्योतक है। 'प्ला' में एक पाई के साथ दो पाई वाले व्यंजन लिखने के नागरी के **'साँझी पाई' के सिद्धान्त** के अनुकूल उदाहरण है। अतः **'स्म'** और **'प्ला'** इस लेख के महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। कुल मिलाकर इस सिद्धांत के अनुसार यह लेख नागरी के निकट आने का प्रयत्न कर रहा है, 'नागरी' नहीं बना।

उक्त विवेचन के आधार पर यह लेख नागरी की ओर महत्त्वपूर्ण विकास तो दिखाता हैं किन्तु उनमें सरलीकरण, शिरोरेखा, मात्रा और संक्षिप्त व्यंजन के सिद्धांतों में ऐसी कमियाँ हैं कि इसे 'नागरी' नहीं माना जा सकता।

१०:५:७ : बालेरा-लेख: डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा ने मूलराज प्रथम के बालेरा के दो धातु पत्रों को नागरी के दशमी शताब्दी के प्रतिनिधि लेखन के रूप में

प्रस्तुत किया है।[51] वह इस लिपि को 'नागरी' ही मानता है।[52] बालेरा जिला जोधपुर (राजस्थान) में है। अतः ये धातु-लेख उस स्थान के हैं, जिसे **नागरी की उद्भव भूमि** माना जाता है।[53] इससे पूर्व भी मूलराज के एक अन्य लेख पर चर्चा हो चुकी है (देखिए ऊपर चित्र १०:१२ और उसका विश्लेषण) ये ताम्रपट्ट भी मूल-राज के हैं। मूलराज के पहले लेख का समय सन् ९८६ ई० था और यह लेख सन् ९९५ का है अर्थात् पहले लेख से नौ वर्ष बाद का। समय का अन्तर बहुत कम होते हुए भी इसका विवेचन कर लेना इसलिए संगत प्रतीत होता है, क्योंकि इसकी लेखन-शैली में स्पष्ट रूप से अन्तर है। इस लेख के चुने हुए कुछ विशेष अक्षर यहाँ चित्र १०:१४

चित्र १०:१४

में दिखाए गए हैं। इनके विश्लेषण से प्राप्त लेख की स्थिति-विषयक निष्कर्ष इस प्रकार हैं -

(क) **सरलीकरण**—सरलीकरण उतना ही है, जितना इस शताब्दी के अन्य लेखों में है। सन् ९८६ के मूलराज-लेख (चित्र १०:१२) में अधिक सरलीकरण था।

(ख) **शिरोरेखा**—इस लेख में सर्वथा नयी प्रवृत्ति शिरोरेखा से सम्बन्धित है। अब तक त्रिकोण-शीर्ष को सरलीकरण द्वारा अर्ध-शिरोरेखा में बदलने के प्रयत्न दिखाई दिए थे। इस लेख के लिपिक ने शीर्ष का तीसरा सर्वथा नया प्रकार प्रस्तुत किया है। इसमें शीर्ष से दो रेखाएँ विभिन्न दिशाओं को मुड़ जाती हैं (देखिए चित्र १०:१४ का 'ज' का शीर्ष), अतः इसे **'द्वि-जिह्व-शीर्ष'** कहा जा सकता है। इसे शिरोरेखा कहना इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि इससे पूरा अक्षर नहीं ढँका जाता। यदि लिपिक किसी अक्षर को पूर्णतया आच्छादित करना चाहता है तो वह उसके लिए विशेष प्रयत्न करता है। चित्र १०:१४ के 'मू' अक्षर में ऐसा प्रयत्न देखा जा सकता है। मात्राओं के संयोग में यह आच्छादन विशेष रूप से पूर्ण हो गया है, जैसे 'भो', 'जै', 'ने', (१), 'ने' (२) तथा 'रो' में। मुख्य रूप से लिपिक को 'शीर्ष' दिखाना ही अपे-क्षित है और उसे वह 'द्वि-जिह्व' रूप में ही दिखाता है। यह प्रवृत्ति नागरी से बहुत दूर है। इसकी अपेक्षा ९८६ ई० का मूलराज-लेख (चित्र १०:१२) तथा देवल-प्रशस्ति (चित्र १०:१३) नागरी के निकटतर हैं।

(ग) **पाई**—इस लेख की पाई के तीन अंग हो सकते हैं—शीर्ष, मध्य और चरण। शीर्ष 'द्वि-जिह्व' है। लिपिक प्रायः इस शीर्ष की बाईं वक्र रेखा को पाई के साथ लिखता है और दाहिने को मुड़ी वक्ररेखा बाद में जोड़ता है। इस प्रकार पाई बाई ओर से प्रारम्भ की जाती है। मध्य भाग कुछ सीधा है। चरण में न्यूनकोणीय झुकाव है जो 'हलन्त' का अन्तिम भाग प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रत्येक व्यंजन को हलन्त किया गया हो। मध्य का भाग भी ऊपर और नीचे के मोड़ों के कारण नितान्त सीधा नहीं रहा, वह गोलाई लेकर लहराता-सा दिखाई देता है। यह प्रवृत्ति भी अलंकृत लिपि के निकट है और नागरी से दूर है।

(घ) **मात्राएँ** – आ, इ, ई, उ, ऋ की मात्राएँ नागरी की हैं और सर्वत्र एक-रूप हैं। 'ए' की मात्रा बाएँ भाग में लटकी है। यह नागरी की मात्रा से भिन्न है, किन्तु सर्वत्र एकरूप होने के कारण मान्य हो सकती है। 'ऐ' की मात्रा का प्रयोग दो ताम्र-पट्टों के पूरे लेख में केवल एक बार हुआ है (देखिए 'जै')। उसमें वह नागरी की मात्रा नहीं हैं, अपितु 'ने' की मात्रा के साथ मेल खाती है। 'ओ' की मात्रा में अनेक-रूपता है। चित्र में दिखाए गए 'तो' और 'भो' अक्षर दो विभिन्न मात्रा-रूपों के प्रमाण हैं। 'औ' को मात्रा का भी प्रयोग केवल एक बार हुआ है (देखिए चित्र में दिखाया गया 'रौ' अक्षर) और उसमें वामांग की 'ए' की मात्रा को लहरा कर दो मात्राएँ मान लिया गया है। यह प्रवृत्ति नितान्त नवीन है। इससे सन्देह होता है कि 'ऐ' की मात्रा का भी दूसरा रूप प्रचलित रहा होगा, क्योंकि इस लेख से पूर्व और इसके पश्चात् 'औ' की मात्रा 'ऐ' और 'आ' की मात्रा का संयुक्त रूप ही है। इस लेख से पूर्व देवल-प्रशस्ति (चित्र १०:१३) की मात्राएँ नागरी के निकटतर हैं। यह लेख नागरी से अपेक्षाकृत दूर हटा है।

(ङ) **संक्षिप्त-व्यंजन**—'क्तृ' में पूर्व-प्रचलित संयोजन ही दिखाई देता है, किन्तु 'र्ल', 'त्त', 'स्य', 'स्म' और 'त्प्र' का संयोजन नागरी के अनुकूल है। नीचे इनका विवेचन क्रमशः दिया जा रहा है—

र्ल, त्प्र

'र्ल' में रेफ का स्वरूप ठीक आधुनिक नागरी का है। 'त्प्र' में 'र' का उत्तर संयोजन भी आज की नागरी का ही है। इस प्रकार **'र' का तीन विकृत-रूपों में विभाजन** पूर्ण हो चुका है।

त्त

यद्यपि नागरी के वर्तमान रूप से भिन्न है, किन्तु 'साँझी पाई' के सिद्धान्त के अनुकूल होने तथा प्रथम 'त्' के मात्र एक आड़ी रेखा के रूप में परिवर्तित होने का पूर्व रूप प्रस्तुत करने के कारण यह अक्षर महत्त्वपूर्ण है।

स्य, स्म

यहाँ पहली बार किसी पाई वाले व्यंजन की पाई हटाकर उसे संक्षिप्त व्यंजन

का रूप दिया गया है और उसे इतना पृथक् लिखा गया है कि वह शेष भाग को स्पर्श नहीं करता। **नागरी का संक्षिप्त व्यंजन का सिद्धान्त इन रूपों के प्राप्त होने से पूर्ण हो गया है।**

(च) **हलन्त**—पहले से चला आ रहा।

स्पष्ट है कि वालेरा-लेख को नागरी का प्रतिनिधि लेख नहीं कहा जा सकता। अभी उसमें सरलीकरण, शिरोरेखा, पाई और मात्रा-सिद्धान्त की दृष्टि से न्यूनता है। इस लेख का महत्त्व इस बात में है कि इसमें नागरी के संक्षिप्त-व्यंजन के 'पाई हटाकर संक्षिप्त व्यंजन बनाने का नियम' पहली बार स्पष्टतः युक्त हुआ है।

१०:५:८ : **दसवीं शताब्दी में विकास** : दसवीं शताब्दी के लेखों से ज्ञात हुआ है कि इस शताब्दी में कुटिल लिपि की कई शाखाएँ होने लगीं। कुछ प्रवृत्तियाँ **बंगला-वर्ग** की लिपियों के उद्भव की ओर विकास दिखाती हैं, कुछ **शारदा-गुरुमुखी-वर्ग** की ओर तथा कुछ **नागरी** की ओर।

इसी शताब्दी में नागरी के सिद्धान्तों का विकास धीरे-धीरे हो रहा है। नागरी के अनेक सिद्धान्त पूर्णतया विकसित हो चुके हैं, किन्तु वे एक स्थान पर उपलब्ध नहीं हैं। कालक्रम से जिस-जिस लेख से नागरी के सिद्धान्त-विशेष की स्थापना पहली बार हुई, उसे तालिका के रूप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

लेख का समय (ई०)	लेख का सांकेतिक नाम	सरलीकरण	शिरोरेखा	पाई	समान मात्राएँ	संक्षिप्त व्यंजन	हलंत
९०४	मोरबी	—	—	—	—	—	हलंत (पहले से)
९७४	वाक्पति	—	—	—	—	'क्य'	,,
९७८	हर्ष	—	—	—	हैं (?)	'क्ष्म', स्फु	,,
९८६	मूलराज	है	(?)	(?)	—	'ण्ड'	,,
९९२	देवल	(?)	(?)	है	हैं	'स्म', 'ष्ना'	—
९९५	वालेरा	—	—	—	—	स्मा, स्य, र्ल, त्प्र	,,
प्रारंभ का स्वीकृत समय		९८६ ई० से	—	९९२ ई० से	९९२ ई० से	९९५ ई० से	५८८ से

प्रस्तुत तालिका से स्पष्ट है कि दशवीं शताब्दीं के चौथे पाद में लिपि बड़ी तीव्र गति से नागरी की ओर विकसित हुई है। **दसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में नागरी के केवल शिरोरेखा के सिद्धान्त को छोड़कर शेष सभी सिद्धान्तों का विकास पूर्ण हो चुका है। किन्तु क्योंकि शिरोरेखा नागरी की अन्यतम विशेषता है, अतः नागरी का उद्भव तब तक नहीं माना जा सकता, जब तक शिरोरेखा को सैद्धान्तिक मान्यता**

देने वाला लेख उपलब्ध नहीं होता। परिणामतः दसवीं शताब्दी तक नागरी का उद्भव मानना वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

१०:६ : **ग्यारहवीं शताब्दी के लेख** : ऊपर की पंक्तियों में स्पष्ट हो चुका है कि नागरी का उद्भव-काल निश्चित करने में दसवीं शताब्दी के अन्त में केवल शिरोरेखा के सैद्धान्तिक विकास की कमी है, अतः इसके पश्चात् जिस लेख में नागरी के अनुकूल अक्षरों पर शिरोरेखा लगाने के सिद्धान्त का पालन किया गया हो, उसके काल से नागरी का उद्भव मानना चाहिए।

डॉ० दानी ने शीर्ष का विकास दिखाते समय 'शिरोरेखा' और 'शीर्ष' में भेद नहीं किया[५४], क्योंकि वे केवल नवीं शताब्दी ईस्वी तक की भारतीय पुरालिपियों पर ही विचार करना चाहते थे और तब तक नागरी की शिरोरेखा का सैद्धान्तिक विकास नहीं हुआ था। डॉ० दानी के अनुसार 'शीर्ष' (हैड-मार्क) का विकास जिस क्रम से हुआ, उसे यहाँ चित्र १०:१५ में संकेत १ से ८ तक दिखाया गया है। उसके साथ
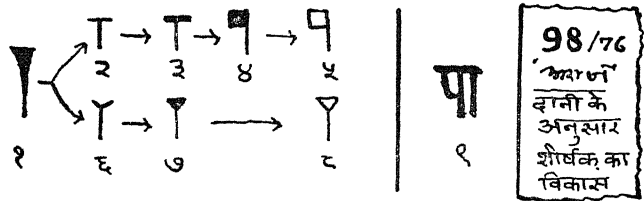
चित्र १०:१५

संकेत ९ में दिखाई गई नागरी की शिरोरेखा डॉ० दानी द्वारा प्रस्तुत चित्र में नहीं थी। संकेत १ से ८ तक सभी 'शीर्ष' हैं। वे पाई का वह छोर निश्चित रूप से स्थिर कर देना चाहते हैं, जो 'रेखा' मानी जाती है। नागरी में 'पा' पर लगी शीर्ष रेखा में दो गुण हैं—

(क) वह अक्षर को पूरी तरह ढँक देने से भी कुछ बड़ी है। दाहिने-बाएँ के फैलाव में वह पूरे अक्षर के समान तो हो सकती है, उससे छोटी नहीं हो सकती।

(ख) पूरे अक्षर को (या शब्द के सब अक्षरों को) लिख चुकने के पश्चात् यह रेखा जोड़ी जाती है।

शिरोमयी ब्राह्मी के शीर्ष और नागरी की शिरोरेखा का स्पष्ट भेदक तत्त्व यह है कि थ, ध, भ और अ को छोड़ कर अन्य सभी अक्षरों के सभी शीर्षों को ढँकने वाली रेखा 'शिरोरेखा' मानी जाती है और इससे न्यून होने पर वह 'शीर्ष' मानी जाती है।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व (जैसे सन् ९९२ की देवल-प्रशस्ति के 'प्ला' अक्षर में) किसी-किसी अक्षर पर ठीक इसी प्रकार की शिरोरेखा दिखाई दे

जाती है, किन्तु उसी लेख में अन्य अक्षरों पर 'शीर्ष' के सिद्धान्त का दृढ़ता से पालन भी होता दिखाई देता है। परिणामतः यही मानना पड़ता है कि वहाँ शिरोरेखा अपवाद के रूप में ही आई है। ग्यारहवीं शताब्दी के लेखों में शिरोरेखा का सिद्धान्त दिखाई देता है। अतः ग्यारहवीं शताब्दी के लेखों को केवल शिरोरेखा के सिद्धान्त के अनुसार परखने की आवश्यकता है। इसी दृष्टि से ग्यारहवीं शताब्दी के चर्चित लेखों का परीक्षण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है—

१०:६:१ : सन् १००९-१० के कौंठम-ताम्रपट्ट[५५]—इसे बूलर दक्षिण नागरी का 'पूर्ण विकसित रूप' मानता है।[५६] ये चालुक्य राजा विक्रमादित्य के शासनकाल में खुदवाए गए थे। इस लेख के चुने हुए अक्षर यहाँ चित्र १०:१६ में दिखाए गए हैं। इस चित्र के अक्षरों में 'इ', 'ओ' तथा 'ध' पर शिरोरेखा नहीं है, अन्य सब अक्षरों पर नागरी की शिरोरेखा स्पष्ट रूप से विद्यमान है। सर्वत्र शिरोरेखा

चित्र १०:१६

अक्षर को पूर्णतः आच्छादित करती है। 'इ' और 'ई' की मात्राएँ शिरोरेखा से बाहर रहती हैं। स्पष्ट है कि लिपिक इ, औ, ध, इ की मात्रा और ई की मात्रा—इन्हें सिद्धान्ततः शिरोरेखा-रहित मानता है। इसीलिए उन पर शिरोरेखा नहीं लगाता। पूरी लिपि के लिए उसने **अक्षर पर पूर्ण शिरोरेखा लगाने का सिद्धान्त** मान लिया है। **अतः यहाँ नागरी के शिरोरेखा के सिद्धान्त का उद्‌भव मानना चाहिए।**

यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि न, भ, फ जैसी आकृतियाँ नागरी से दूर हैं, ए, ऐ और औ की मात्राएँ नागरी से भिन्न हैं, 'हा' पर प्रमादवश शिरोरेखा छोटी रह गई है। किन्तु इस सबसे शिरोरेखा के सिद्धान्त के विकास में अन्तर नहीं पड़ता।

१०:६:२ : सन् १०२९ के भीमदेव (१) के ताम्रपट्ट[५७]—इन ताम्रपट्टों के लेख को बूलर उत्तरी नागरी का नमूना मानता है।[५८] इसके कुछ चुने हुए अक्षर

अ आं इ उ ऐ का खि ग घा च च्छ

टो ज ठ ड णी तु या दे ध न

प बो भी म यं रा ला वा हा

शि षा सू त्रा र्व्वा

100/76
1029 A.D. भीमदेव

चित्र १०:१७

यहाँ चित्र १०:१७ में दिखाए गए हैं। यहाँ भी लिपिक इ, ण और ध को शिरोरेखा रहित अक्षर मानता है, इसीलिए उन पर शिरोरेखा नहीं लगाता। यद्यपि इस ताम्र-पट्ट पर अक्षर खोदने के लिए किसी अच्छे उपकरण का प्रयोग नहीं हुआ तथापि शिल्पी के इस दोष के कारण इस लेख की लिपि में दिखाई देने वाले विकास को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। **सिद्धान्ततः इस लेख का लिपिक शिरोरेखा को अनिवार्य मानता है। वह उससे पूरे अक्षर को आच्छादित करता है। अतः इस लेख में नागरी के शिरोरेखा का सिद्धान्त का पूर्ण विकास दिखाई देता है।**

१०:७ : नागरी लिपि का उद्भव-काल : नागरी की विशिष्टताएँ, जो उसे अन्य भारतीय लिपियों से भिन्न लिपि सिद्ध करती हैं, ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम तीन दशकों के इन लेखों तक पूर्णतया विकसित हो चुकी हैं। इन अन्तिम दो लेखों में आधुनिक नागरी के सभी गुण नहीं हैं, सारे सिद्धान्त भी एक स्थान पर नहीं हैं। अतः इनमें से किसी एक लेख को नागरी का प्रथम लेख घोषित करना उचित नहीं लगता। इन दो लेखों से इतना ही प्रमाणित होता है कि सन् ९९२ (देवल-प्रशस्ति) के पश्चात् और सन् १००९ (कौंठम-लेख) के पूर्व कहीं वह समय है, जब नागरी के सभी सिद्धांतों का उद्भव हो चुका था।

इस दृष्टि से अलंकृत लिपि से नागरी तक के संक्रान्ति-काल का अन्तिम छोर तथा नागरी लिपि का उद्भव लगभग सन् १००० ईस्वी माना जाना चाहिए।

---

१. अध्याय ६ में इस पर विस्तार से लिखा गया है।
२. भा० पु० शा०, पृ० १०२
३. ऐं० इं०, जि० २०, पृ० ४३, ४४ के मध्य का प्लेट
४. ज० ए० सो० बं०, १८६४, पृ० ५३ से ५८ तक
५. ए० इं०, जि० १८, पृ० ३०४ से ३०७ तक
६. ए० इं०, जि० ३२, प्लेट नं० २० (पृ० ११६ के सामने)
७. वही, जि० ४, पृ० ३० के सामने की प्लेट
८. ए० इं०, जि० ६, २०० पृष्ठ के पास का प्लेट, भा० प्रा० लि०, लि० प० २३, इं० पे० (दा०), प्लेट १३, पंक्ति ११
६. ए० इं०, जि० १६, पृ० १७-१८, इं० पे० (दा०), प्लेट १३, पंक्ति १२
१०. ज० रा० ए० सो०, १८६४, भा० प्रा० लि०, लि० प० २३
११. इं० पे० (दा०), पृ० १६१
१२. भा० प्रा० लि०, पृ० १३४-१३६
१३. भा० प्रा० लि०, लि० पत्र २३
१४. वही, लि० पत्र २३
१५ वही, पृ० ६३ की पाद टिप्पणी १४ का अंतिम अंश, (वह अंश पृ० ६४ पर छपा है।)
१६. दे० लि० (शि), पृ० ३५०
१७. ए० इं०, जि० ६, पृ० २०० के निकट प्लेट से
१८ ए० इं०, जि० १६, पृ० १७, १८
१६. ज० रा० ए० सो०, सन् १८६५, पृ० ५१६, भा० प्रा० लि०प०, जि० २३
२०. इं० पे० (दा०), पृ० १११
२१. भा० पु० शा०, फलक ५, स्तम्भ १ तथा व्याख्या पृ० ११६ पर
२२. इं० ऐं०, जि० २३, पृ० २३५
२३ वही, जि० २०, पृ० ४२१
२४. भा० प्रा० लि०, लि० पत्र २३
२५. 'उ' के साथ जोड़े गए अतिरिक्त अंश को प्रायः 'पूँछ' कहा जाता है।
२६. भा० पु० शा०, पृ० १०४
२७. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र २४, २५
२८ वही, पृ० ६२, पाद टिप्पणी २
२६. जिसे सामान्य जन न पढ़ सकें। द्रष्टव्य—भा० स० लि०, अनुच्छेद ३:४
३०. भा० पु० शा०, पृ० १०३, पाद टिप्पणी २२३
३१. वही, फलक ५ के विभिन्न स्तम्भ
३२. दे० लि० (व०), पृ० ३५२-३३५
३३. भा० पु० शा०, प्लेट ६, स्तम्भ ७—केम्ब्रिज हस्त० सं० १०४६, ८४६ ई०
३४. इं० ऐं०, जि० २, पृ० २५८ के पास का प्लेट
३५. ओझा के निजी स्रोतों से उपलब्ध एवं भा० प्रा० लि० के 'लिपिपत्र २४वां' में संकलित
३६. ए० इं०, जि० १, पृ० ७६, इं० ऐं०, जि० ६, पृ०४८

३७. इं ऐं०, जि० १६, पृ० १७४
३८. इं ऐं०, जि० १२, पृ० २५०, २६३
एं० इं०, जि० १, पृ० १२२
ज० ब० रा० ए०, जि० १८, पृ० २३९
३९. एं० इं०, जि० १, पृ० ७६ के पास का प्लेट
४०. वही, जि० १०, पृ० ७८ और ७९ के मध्य का प्लेट
४१. भा० पु० शा०, पृ० १०४
४२. वही, पृ० १०४, १०५
४३. वही, पृ० १०४
४४. वही, पृ० ६४
४५. वही, पृ० १०७, बालेरा-लेख से तुलना अपेक्षित है।
४६. भा० प्रा० लि०, लिपिपत्र २५
४७. भा० पु० शा, फल० ५, स्तंभ ८
४८. देखिए—पीछे चित्र १०:७ तथा उसका विश्लेषण।
४९. देखिए—पीछे चित्र १०:१० तथा उसका विश्लेषण।
५०. भा० पु० शा०, पृ० १०४
५१. दे० लि० (व०), परिशिष्ट १०
५२. वही, पृ० २९८
५३. इं० पे० (दा०), पृ० १११
५४. वही, पृ० ७९-८२
५५. इं० ऐं०, जिल्द १६, पृ० १५
५६. भा० पु० शा०, पृ० १०६
५७. वही, फल० ५, स्तभ १६
५८ वही, पृ० १०७

११ | नागरी लिपि का उद्भव : उपलब्धियाँ

११:१ : नागरी लिपि का उद्भव और विकास : इस विषय को दो खण्डों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) उद्भव

(२) विकास

'नागरी' नामक लिपि की विशिष्टताओं के अनुसार जिस काल तक नागरी की विशिष्टताओं का उद्भव हो चुका था, उसे नागरी का उद्भव-काल मानते हुए उसके पश्चात् नागरी में हुए परिवर्तनों को नागरी का विकास और उद्भव-काल के बाद के समय को विकास-काल कहा जा सकता है।

११:१:१ : नागरी लिपि का उद्भव : पिछले कुछ अध्यायों में भारत की प्राचीन लिपियों के विकास को सैद्धान्तिक स्तर पर परीक्षित करते-करते यह तथ्य उपलब्ध हुआ है कि नागरी के सिद्धान्तों का विकास सन् १००० तक हुआ है, परिणामतः सैद्धान्तिक रूप से नागरी-लिपि का उद्भव लगभग सन् १००० में मानना चाहिए। इस विश्लेषण में नागरी का सैद्धान्तिक विकास जिस क्रम से प्राप्त हुआ, उसे यहाँ संक्षिप्त रूप में एकत्र किया जा रहा है।

११:२ : मूल : सिंधु-लिपि : भारतीय लिपियों का मूल सिंधु-लिपि में है। संसार के विभिन्न लिपि-वर्गों का प्रारम्भ कैसे हुआ—इस प्रश्न का उत्तर निश्चयपूर्वक नहीं दिया जा सकता। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि ३५०० ईसा पूर्व भारत में हड़प्पा इत्यादि स्थानों पर एक लिपि प्रचलित थी जो पर्याप्त विकसित कही जा सकती है। उसी से भारत की लिपियों का विकास हुआ है। उस लिपि को आकृतिमूलक वर्गीकरण[1] में मुख्य रूप से चित्रलिपि कहा जा सकता है किन्तु चित्र तब चित्राभास का रूप लेने लगे थे और स्वर रेखा-लिपि का स्वरूप ग्रहण कर चुके थे। अभिव्यक्तिमूलक वर्गीकरण[2] में वह उच्चारणबोधक लिपि है। नागरी को सिंधु-लिपि

से अनेक आधारभूत नियम मिले हैं। उनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(क) प्रत्येक व्यंजन का एक ऐसा संकेत है, जिसमें 'अ' सम्मिलित है।[३] यदि उसके साथ अन्य स्वर की मात्रा का संयोजन होता है तो वह 'अ' लिखा होने पर भी पढ़ा नहीं जाता।

(ख) प्रत्येक स्वर का पृथक् संकेत भी होता है और वह अन्य छोटे संकेत के रूप में व्यंजन के साथ संयोजित भी होता है।[४]

(ग) व्यंजन के साथ व्यंजन संयोजित होते हैं।[५]

११:३ : **विशुद्ध रेखालिपि : ब्राह्मी** : भारतीय लिपि-वर्ग के वृक्ष में तने के सदृश मूल से रस लेकर शाखाओं को पहुँचाने वाली ब्राह्मी-लिपि आकृतिमूलक वर्गीकरण में विशुद्ध रेखा-लिपि है। वह सरल और वैज्ञानिक है। ब्राह्मी ने स्वर के दो स्वरूप स्थिर कर लिए हैं—(१) स्वर का मूल संकेत जो स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होता है और (२) स्वर का मात्रा रूप जो व्यंजन के साथ निश्चित पद्धति के अनुसार संयोजित होता है। नागरी में पहुँचते-पहुँचते स्वरों में आकृति विकास भले ही बहुत कुछ हुआ हो, स्वर के प्रयोग का सैद्धान्तिक धरातल बीसवीं शताब्दी में भी वही है जो ईसापूर्व पाँचवीं शती की ब्राह्मी में था।

ब्राह्मी ने व्यंजन-संयोजन को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। प्रारम्भ में उसमें परिपक्वता नहीं।[६] यह सिद्धान्त अवश्य स्थिर हो चुका है कि व्यंजन में से 'अ' का लोप करने के लिए निम्नलिखित दो विधियाँ अपनाई जा सकती हैं—

(१) अकेले स्वर-रहित व्यंजन को अपेक्षाकृत छोटे आकार में पंक्ति से कुछ नीचे लिख दिया जाता है।

(२) स्वर-रहित व्यंजन के पश्चात् अन्य व्यंजन आने पर दोनों व्यंजनों को ऊपर-नीचे लिख दिया जाता है। कौन-सा व्यंजन ऊपर रहे और कौन-सा नीचे, इसमें भ्रांति दिखाई देती है।[७] बाद के ब्राह्मी-विकास में यह भ्रांति नहीं रही।

नागरी में स्वर-संयोजन और व्यंजन-संयोजन का यह विकसित सिद्धांत भी ज्यों-का-त्यों पहुँचा है।

११:४ : **ब्राह्मी से नागरी तक लिपि-विकास** : ब्राह्मी का विकास, उसकी तथा कथित गुप्त-लिपि, कुटिल-लिपि इत्यादि शाखाओं में से होते हुए सन् १००० ई० तक-नागरी का उद्‌भव जिस रूप में हुआ उसे कई सैद्धांतिक विकासों में देखा जा सकता है। एक-एक सिद्धांत को लेकर वह विकास निम्नलिखित रहा है—

११:४:१ : सरलीकरण : ब्राह्मी अपने मूल रूप में इतनी सरल है कि भारत की कोई आधुनिक लिपि इतनी सरल नहीं कही जा सकती। इसमें दो बार अलंकरण हुआ, जिसके कारण दोनों बार वह जटिलता की ओर अग्रसर हुई। पहली बार के अलंकरण के कारण एक ओर उसमें 'शीर्ष' का विकास हुआ[८] तो दूसरी ओर तीन-तले

लेखन का।[९] इसी बीच भट्टिप्रोलु के लिपिक ने ब्राह्मी को ऐसा संस्कार दिया, जिसमें भारतीय लिपि-वर्ग का 'अतिरिक्त अकार का दोष' नहीं था,[१०] किन्तु दुर्भाग्यवश वह संस्कार माना नहीं गया और ब्राह्मी का विकास अपने पुराने ढांचे के अनुकूल होता रहा। परिणामत: आज की नागरी में भी (तथा भारत की उन सभी आधुनिक लिपियों में जो ब्राह्मी से विकसित हुई हैं) **'अतिरिक्त अ-कार का दोष'** ज्यों-का-त्यों विद्यमान है।[११] चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० की संतुलित ब्राह्मी ने ब्राह्मी के प्रथम अलंकरण को समेटा। इस सरलीकरण के कारण ब्राह्मी कुछ अधिक संतुलित हो गई। तब से ब्राह्मी की जितनी शाखाएँ फूटीं, उनमें (और परिणामत: नागरी में भी) निम्नलिखित तीन गुण विद्यमान हैं—

(क) शीर्ष दिखाने के लिए पूर्ण या अपूर्ण शिरोरेखा

(ख) तीन-तला लेखन

(ग) संतुलन (अलंकरण एवं सरलीकरण का संतुलित प्रयोग)

ब्राह्मी के उत्तरी वर्ग में दूसरा अलकरण अलंकृत लिपि अथवा तथाकथित कुटिल लिपि के समय में (छठी-सातवीं शताब्दी ई० में) हुआ। इसका प्रभाव कई शताब्दियों तक रहा। इस अलंकरण को समेटने का विशेष उद्योग दसवीं शताब्दी में हुआ। दसवीं शताब्दी के सरलीकरण के कारण उत्तरी वर्ग की लिपियाँ अपेक्षाकृत सरल तो हुई किन्तु उनमें 'कुटिल लिपि' का अलंकरण कई अवशेष छोड़ गया है। इस अलंकरण के विरुद्ध जो सरलीकरण की प्रक्रिया चली, उसका एक और महत्त्वपूर्ण परिणाम पाई के विकास के रूप में उपलब्ध हुआ।

इस प्रकार ब्राह्मी से नागरी तक आते-आते दो बार अलंकरण और दो बार सरलीकरण हुआ है।

११:४:२ : **व्यंजन का सैद्धांतिक विकास :** ब्राह्मी के व्यंजन रेखाओं के ऐसे आकार लिए हुए थे, जिनका कोई अंग 'समान' नहीं कहा जा सकता था। आज भी नागरी के व्यंजनों में ऐसा एक भी अंग नहीं है, जिसे अपवाद-रहित रूप से सभी व्यंजनों में देखा जा सके, तो भी आज नागरी के अधिकांश व्यंजन 'शिरोरेखा' और 'पाई' की समानता के कारण ब्राह्मी की अपेक्षा अच्छी स्थिति में हैं। समय-समय पर लिपिकों ने व्यंजन में कोई समान-अंग रखने का प्रयत्न किया है। सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयत्न ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी के भट्टिप्रोलु के अज्ञात लिपिक का था। यदि वह प्रचलित हो जाता तो आज भारतीय लिपि-वर्ग की दशा नितांत भिन्न हो जाती। उसके पश्चात् 'चरण-संकेत' लगाने का प्रयत्न नवीं शताब्दी में हुआ। उसे अन्य स्वर लगाते समय हटाया नहीं गया, अत: वह अजा-गल-स्तन सिद्ध हुआ। उसके प्रभाव से थ, ह इत्यादि व्यंजनों की आकृति में विकास अवश्य हुआ।

शिरोरेखा को भी समान **अंग** माना जा सकता है, किन्तु वह व्यंजन का नहीं, अक्षर का समान अंग है। उसे सौंदर्य की दृष्टि से नागरी ने अपना लिया है।

दसवीं शताब्दी के अन्त में खड़ी पाई का विकास बड़ी तीव्र गति से हुआ। वह पाई दसवीं शतब्दी के पश्चात् 'अ' का प्रतीक हो गई है। उसे हटाकर व्यंजन को स्वर-रहित (संक्षिप्त) रूप में लिखा जा सकता है। नागरी-व्यंजन में विकसित यह गुण ब्राह्मी के व्यंजन के गुणों से अधिक है।

११:४:३ : **मात्राओं का संयोजन :** सिंधु-लिपि में स्वर का एक ऐसा रूप है जो मात्रा की तरह प्रयुक्त नहीं होता, जैसे 'अ' का,[१२] इसकी तुलना में संख्या पर आधारित एक ऐसा रूप भी है जो स्वतन्त्र रूप से भी और मात्रा-वत् संयोजित रूप से भी प्रयुक्त होता है। ऐसी मात्राओं में चार रेखा तक प्रयुक्त होती हैं। तभी ह्रस्व और दीर्घ के लिए क्रमशः एक और दो रेखाओं का मात्रा-रूप में संयोजन होने लगता है। सिन्धु-लिपि में मात्राओं के संयोजन के वे आधार तो हैं, जो ब्राह्मी में विकसित हुए, किन्तु उनमें व्यवस्था नहीं है।

ब्राह्मी में एक रेखा आ, ह्रस्व इकार, ह्रस्व उकार और एकार की मात्रा बनाती है। व्यंजन में किस स्थान पर उसे लगाया जाए इससे उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर हो जाता है। दो रेखाएँ ईकार, ऊकार तथा ऐकार की मात्राएँ बनाती हैं। 'ओ' को 'ए' तथा 'आ' की मात्राओं के और 'औ' को 'ऐ' तथा 'आ' की मात्राओं के युगपत् प्रयोग से लिखा जाता है। 'ओ' तथा 'औ' की मात्राओं का सिद्धांत नागरी में आज भी वही है जो ब्राह्मी में ५०० ई० पूर्व में था। आज की नागरी तक आते-आते 'आ' की मात्रा दाहिने को लटकती पूर्ण पाई के आकार में आ गई है। यह दसवीं शती का विकास है। इ-ई की मात्राएँ छठी-सातवीं शती में विकसित हुई हैं। उ की मात्रा छठी शती में और ऊ की मात्रा दसवीं शती के अन्त में विकसित हुई। 'ए' तथा 'ऐ' की मात्राओं ने बहुत बार रूप बदले हैं। यद्यपि चौथी-पाँचवीं शती की सन्तुलित ब्राह्मी में नागरी की ए-ऐ की मात्राएँ एक बार प्रचलित हुई,[१३] किन्तु बाद की अलंकृत लिपि ने उन्हें नयी आकृति दे दी। सैद्धांतिक रूप से उनका स्थान नहीं बदला। ग्यारहवीं शताब्दी में दूसरे सरलीकरण के प्रभाव से वे पुनः नागरी की वर्तमान मात्राओं के रूप में आ गईं। 'ऋ' की मात्रा चौथी शताब्दी से नागरी जैसा रूप धारण करने लगती है। सातवीं शताब्दी के अंशुवर्मा के अभिलेख[१४] में उसका विकास पूर्ण हो गया है। अतः नागरी की मात्राओं का स्थिर आधार-सिद्धांत ब्राह्मी से प्रारम्भ होता है और दसवीं शताब्दी के अन्त तक इनका विकास पूर्ण हो पाता है।

११:५ : **नागरी का कुल :** सिन्धु-लिपि की अनेक शैलियों का सरलीकृत रूप ब्राह्मी लिपि में स्थिर हुआ और सारे भारत में उसका प्रसार हुआ। इसके विकास से इसकी अनेक शैलियाँ बनीं। उत्तरी भारत में गुप्तों के शक्तिशाली शासन काल में उत्तरी शैली ने समस्त उत्तर भारत की शैलियों को समीप लाने का कार्य किया। ब्राह्मी का इस सन्तुलित लिपि से छनकर सारे भारत में प्रसरित रूप 'कुटिल-शैली' की अलंकारिकता से नए रूप में ढलने लगा। इससे उत्तरी भारत की लिपियों में विशेष

दुरूहता आई। इसी के निराकरण के लिए एक बार फिर सरलीकरण का प्रयत्न हुआ। इसी दूसरे सरलीकरण के उद्योग का परिणाम नागरी थी। स्पष्ट है कि नागरी को सिंधु, ब्राह्मी, 'सतुलित' और 'अलंकृत' लिपियों के गुण वंश-परम्परा में मिले हैं किन्तु नागरी को किसी एक कुल में बाँधकर सीमित कर पाना कठिन है। नागरी के उद्भव-काल तक में उसके गुणों का विकास सीमाएँ लाँघ कर दक्षिणी आँचल में प्रकट होता है। अतः नागरी के कुल का विचार करने के साथ यह स्मरण रखना आवश्यक है कि नागरी संस्कृत की प्रतिनिधि-लिपि के रूप में समस्त भारत की लिपि थी, अतः उसके विकास में मुख्यतः उत्तरी भारत के गांगेय प्रदेश, मथुरा, राजस्थान एवं मध्य भारत का और सामान्यतः पूरे भारत का योगदान रहा है। कुलों का नाम देना ही चाहें तो कहना चाहिए कि ब्राह्मी की उत्तरी शाखा (सन्तुलित ब्राह्मी) का विकसित रूप अलंकृत लिपि (कुटिल लिपि) के रूप में सारे उत्तरी भारत में दिखाई दिया और उसी से विकसित गांगेय, राजस्थान एवं मध्य देश की शैलियों के सम्मिलित एवं मिश्रित विकास के रूप में नागरी का उद्भव हुआ।

११:६ : **उद्भवकालीन नागरी का स्वरूप** : सन् १००० ईस्वी के लगभग (जब नागरी का उद्भव माना गया है) नागरी का वह रूप नहीं था जो आज है। तब तक नागरी के आधारभूत सिद्धान्तों का ही विकास हो पाया था। सन् एक हजार ई० के बाद अब लगभग एक सहस्र वर्ष और बीत गए हैं। लिपि का विकास तो सहज रूप से स्वयमेव होता रहता है। सन् १००० ई० के पश्चात् नागरी का भी विकास होता रहा है। अतः किसी ग़लतफ़हमी की गुंजाइश न छोड़ना चाहें तो नागरी का उद्भवकालीन स्वरूप स्पष्ट कर लेना चाहिए।

उद्भव-काल के समय नागरी की अनेक शैलियाँ स्थान-भेद एवं लिपियों की रुचि के भेद के अनुसार दिखाई देती हैं। संक्रांतिकालीन लिपियों के अनेक उदाहरण पीछे दिए जा चुके हैं और उनमें स्थान-स्थान पर संकेतित भी किया गया है कि कौन-सा अक्षर नागरी के किस सिद्धान्त का विकास दिखाता है। यहाँ नागरी के उन सिद्धांतों और संकेताकृतियों का संकलित रूप में वर्णन अपेक्षित है जो आधुनित नागरी के निकट पड़ते हैं। इस दृष्टि से **उद्भवकालीन नागरी का स्वरूप** नीचे दिया जा रहा है।

११:६:१ : **संकेत-सूची** : छठी शताब्दी ई० की होर्युज़ी-मठ से प्राप्त उष्णीष विजयधारणी की पाडुलिपि में दी गई संकेत-सूची[१५] के अनुसार मूल-संकेत निम्न लिखित थे—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, ओं (कुल १४ स्वर, २ अयोगवाह, ३३ शुद्ध व्यंजन, १ संयुक्त व्यंजन, १ विशेष संकेत)।

इसमें से अंतिम (ओं) संकेत को भाषा से भिन्न मात्र धार्मिक संकेत मानकर

छोड़ा जा सकता है; संयुक्त व्यंजन (क्ष) में मूल शुद्ध व्यंजन स्पष्ट दिखाई देते हैं, अत: इसे भी छोड़ा जा सकता है। शेष ४९ मूल संकेत तत्कालीन 'वर्णमाला' के संकेत हैं।

इसके पश्चात् ११वीं शताब्दी ई० में उदयादित्य के समय के उज्जैन-लेख के अंत में खुदी हुई पूरी वर्णमाला[१६] प्राप्त होती है। उसमें निम्नलिखित अभिव्यक्तियों के संकेत दिखाए गए हैं—

अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, क से ह तक ३३ व्यंजन (होर्युज़ी-पांडुलिपि के क्रम में)।

इसमें ह के पश्चात् 'क्ष' और 'ओं' नहीं है। 'अं, अः' के स्थान पर केवल अनुस्वार और विसर्ग हैं। व्यंजनों से पूर्व जिह्वामूलीय और उपध्मानीय अतिरिक्त हैं।

होर्युज़ी-पांडुलिपि तथा उज्जैन-लेख की 'वर्णमाला' ही बीसवीं शताब्दी तक पहुँची है। दसवीं शताब्दी में इस वर्णमाला के लिए प्रयुक्त होने वाले संकेतों में आधुनिक नागरी के साथ कितना साम्य था, इसे नीचे क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

११:६:१:१ : स्वर का मूल रूप : 'अ' के दो रूप हैं, 'उ' के समान (दक्षिणी शैली), जैसा चित्र १०:१६ में है और 'प' के समान (उत्तरी शैली), जैसा चित्र १०:१७ में है। 'आ' दोनों रूपों से बनता है। इ, ई के रूप अभी नागरी से दूर हैं। अभी तीन बिन्दु ही 'इ' का मुख्य आधार हैं। निचला बिन्दु 'उ' की मात्रा का स्वरूप धारण करने लगा है। 'ई' में ऊपर कहीं अतिरिक्त बिन्दु और कहीं रेखा आने लगी है। सिद्धान्ततः वह 'इ' से बना हुआ संकेत दिखाई देने लगा है। 'उ' नागरी की आकृति का है। 'ऊ' में 'उ' के साथ ही रेखा जुड़ने लगी है। 'ए' नागरी के निकट है। 'ऐ' सिद्धान्ततः 'ए' से ही बनता आ रहा रहा है। यह प्रवृत्ति ब्राह्मी से चली आ रही है और अब तक सुरक्षित है। इस समय के ओ, औ के संकेत 'उ' के संकेत के साथ साम्य रखते हैं। नागरी के मूल 'ओ', 'औ' अब 'अ' में मात्रा जोड़कर बनाए जाते हैं। सन् १००० तक यह सिद्धान्त प्रारम्भ नहीं हुआ।

इस समय की नागरी स्वर के मूल रूप को उसके मात्रा रूप से भिन्न मानती है इसके किसी अंश का मात्रा बनना आवश्यक नहीं है। इस समय अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए ओ—इन सात को मूल संकेत माना जाता है और इन्हीं से क्रमशः आ, ई, ऊ, ॠ, ॡ, ऐ, औ का निर्माण किया जाता है। (बाद में नागरी ने ओ, औ का निर्माण 'अ' से और ऌ, ॡ, का निर्माण 'ल' से करना प्रारम्भ किया। यह विकास उद्भवकालीन स्थिति के पश्चात् हुआ।)

११:६:१:२ : स्वर का मात्रा रूप : 'औ' के अतिरिक्त सभी स्वरों की मात्राओं के ऐसे रूप विकसित हो चुके हैं जो बाद में नागरी में प्रचलित हुए। इस काल में ए, ऐ, ओ, औ की मात्राओं के वे विकल्प रूप जिनमें एकार की मात्रा व्यंजन के बाएँ पाई की तरह रहती है, प्रायः देखे जाते हैं।[१७] इस काल के पश्चात् नागरी ने उस विकल्प रूप से मुक्ति पाई है।

११:६:१:३ : **व्यंजन का मूल रूप** : अनेक व्यंजन नागरी के आधुनिक व्यंजन-संकेतों जैसे बन चुके हैं, कुछ संकेतों की आकृति में अभी अन्तर है। सभी व्यंजन-संकेत अपने मूल रूप में अतिरिक्त 'अ' से युक्त हैं। 'अ' से भिन्न किसी स्वर की मात्रा लगने पर वह अन्तर्भूत 'अ' नहीं पढ़ा जाता। व्यंजन का यह गुण ब्राह्मी-काल से भारतीय लिपियों में चला आ रहा है। उद्भवकालीन नागरी के व्यंजनों की स्थिति भी इसी प्रकार की है।

बीसवीं शताब्दी में नागरी के **पाई वाले व्यंजनों** में से ख, ग, घ, ण, त, न, प, म, य, ल, व तथा ष —इन बारह के नागरी-स्वरूप पूर्णत: विकसित हो चुके हैं; च, थ, ध, ब, श और स इन छः की आकृतियाँ अर्धविकसित अवस्था में हैं और ज, झ, ञ और भ— इन चार की आकृतियाँ नागरी से दूर हैं। च, थ, ध, ब, श और स को अर्ध-विकसित इसलिए मान लिया गया है, क्योंकि इन छहों में पाई का विकास पूर्ण हो चुका है।[१८] च, थ और ब पर शिरोरेखा भी विकसित हो चुकी है। 'च' की मध्य की आड़ी रेखा पृथक् नहीं हुई, 'थ' का ऊपरी गोला पाई से अलग नहीं हुआ, 'ध' में पाई के वामांग में अर्धवृत्त चिपका है किन्तु ऊपरी आधा भाग अभी विकसित नहीं हुआ, 'ब' के मध्य की टेढ़ी रेखा के बदले अभी केवल एक बिन्दु ही विद्यमान है; 'श' का वाम भाग अभी टेढ़ा और एक अतिरिक्त खड़ी रेखा से युक्त है और 'स' सन् १००० से पूर्व जिस रूप में प्राप्त होता है उसमें 'र' के निचले छोर से ही क्षैतिज रेखा दाहिने बढ़कर पाई के निचले छोर से मिलती है (जैसे चित्र १०:१६, कौंठम-लेख में), उसमें क्षैतिज रेखा मध्य भाग तक उठी हुई और पृथक् रूप से लिखी हुई नहीं है। स्पष्ट है कि इन छहों संकेतों को पूर्ण-विकसित नहीं कहा जा सकता। 'ज' के दाहिने अंग की पाई का विकास अभी नहीं हुआ। उद्भव-कालीन 'ज' पाईरहित व्यंजन है। 'झ' कम प्रयुक्त होने वाला व्यंजन है। सन् १००० ई० तक प्राप्त 'झ' 'इ' से बनने वाली आकृति की ओर अग्रसर है। उसके दाहिने अंग की पाई का पूर्ण विकास नहीं हुआ। शीघ्र ही देवपारा-लेख (ग्यारहवीं शती) में नागरी 'झ' से साम्य रखने वाली आकृति प्राप्त होती है।[१९] 'ञ' का स्वतंत्र प्रयोग नहीं होता। वह प्रायः 'ज' से पूर्व संयोजित रूप में ही मिलता है। उस संयोजित रूप में उसमें पाई का अभाव है, किन्तु उससे यह ज्ञात नहीं होता कि उसमें वास्तव में पाई का विकास हुआ है या नहीं। तत्कालीन संयोजित 'ञ' के वामांग का वृत्त दोहरा है जो आज के नागरी के 'उ' के संकेत या रोमन अंकों में से 'तीन' के अंक से साम्य रखता है (देखिए चित्र १०:१३ का 'ञ्जा' या 'ज्ञा')। यदि उसमें आज के 'ञ' की तरह केवल दो 'दंत' दिखाई देते तो उसे नागरी के निकट कहा जा सकता था। इस अवस्था में वह नागरी से दूर है। 'भ' तो अभी 'ह' से साम्य रखता है और वह पाई हीन व्यंजन है। अभी दक्षिणी शैली का 'ण' दिखाई नहीं देता। उत्तरी शैली का 'झ' (जो 'भ' में पूँछ जोड़कर बनता है) अभी प्रचलित नहीं है।

बीसवीं शताब्दी में नागरी में 'क', 'फ' और 'झ' - ये तीन व्यंजन-संकेत '**मध्य**

पाई वाले' दिखाई देते हैं। उद्भव-कालीन नागरी में इनमें से 'क' पूर्णतः विकसित हो चुका है। 'फ' अर्ध-विकासित है। उसमें 'प' के साथ कुछ जोड़ने का भाव वाक्पति लेख में दिखाया जा चुका है।[२०] 'क्य' में जिस रूप से संयोजन वाक्पति-लेख में हुआ है, वैसा संयोजन 'फ्य' का संभव नहीं है। अतः यह 'फ' पूर्ण विकसित नहीं है। 'झ' के मध्य पाई वाले रूप का अभी प्रारम्भ नहीं हुआ।

बीसवीं शताब्दी में नागरी के कुछ व्यंजन ऐसे गोल हैं कि उनमें पाई कहीं भी दिखाई नहीं देती। इन्हें प्रायः 'गोल व्यंजन' या 'पाई-हीन व्यंजन' कहा जाता है। उद्भव-कालीन नागरी में इन व्यंजनों के संकेतों का प्रायः विकास हो चुका है। ट, ठ, ड, ढ, द और ह—इन छः की आकृतियाँ पूर्ण रूपेण वही हैं जो बीसवीं शताब्दी में हैं। 'र' अर्ध विकसित है। 'ङ' और 'छ' अविकसित अवस्था में हैं। 'र' 'पाई वाला' या 'पाई रहित' बनने के मध्य की स्थिति में है। मूलराज-लेख (सन् ९८७) का 'रा'[२१] देखने से स्पष्ट होता है कि 'र' को लिखने के लिए 'पाई' के वामांग में गाँठ जोड़ी जाती है। यह प्रवृत्ति बाद में भी चली है। यही गाँठ आड़ी रेखा भी बनी, जिसके प्रभाव से 'प्र' इत्यादि में संयोजित '्र' (र) का प्रचलन हुआ। 'ङ' का अधिकतम विकसित रूप होर्युज़ी-पांडुलिपि की 'वर्णमाला' में दिखाई देता है, जिसमें लगभग 'ड' की आकृति की शिरोरेखा के दाहिने छोर पर छोटी-सी खड़ी रेखा और जोड़ दी गई है।[२२] इसी रेखा ने बाद में बिन्दु का रूप लिया है। उद्भव-काल तक इसमें बिन्दु नहीं दिखाई देता, अतः अभी इसे अविकसित माना गया है। 'छ' का स्वतंत्र प्रयोग कम होता है। उसे प्रायः 'च्छ' के संयुक्ताक्षरी रूप में देखा जा सकता है। उस रूप में वह द्विविभाजित पिचके वृत्त की आकृति का है। यह आकृति वर्तमान 'छ' से सिद्धान्ततः भिन्न है। वर्तमान 'छ' पूर्णतया **गोल व्यंजन** है, जबकि उद्भव-कालीन नागरी का 'छ' आधुनिक 'ठ' की भाँति छोटी-सी पाई से लटका हुआ संकेत है।

११:६:१:४ : **संयोजन** : अधिकांश व्यंजनों का संयोजन ब्राह्मी की परंपरा के अनुसार ऊपर-नीचे लिखकर किया जा रहा है। दाहिने-बाएँ जोड़कर संयोजन करने की प्रक्रिया प्रचलित हो चली है, जैसे वाक्पति-लेख में 'क्य'[२३] या मूलराज-लेख का 'ष्ठि'[२४] 'य' सेपूर्व प्रायः सभी व्यंजन बाएँ रहते हैं और 'त' उनके दाहिने संयोजिय होता है जैसे देवल-प्रशस्ति का 'ग्या'[२५]। **'साँझी पाई का संयोजन'** प्रारम्भ हो गया है। देवल प्रशस्ति का 'प्ला'[२६] इसका स्पष्ट उदाहरण है। पाई हटाकर बनाया गया संक्षिप्त व्यंजन बालेरा-लेख के 'स्य' और 'स्म',[२७] में संयोजित दिखाई देता है। **रेफ और पैर में र** के और संयोजन भीमदेव के ताम्रपट् के क्रमशः 'र्व्वा' और 'व्रा' अक्षरों में देखे जा सकते हैं।[२८] इस प्रकार उद्भव-कालीन नागरी में व्यंजनों के संयोजन की वे सभी विधियाँ जन्म ले चुकी हैं, जिन्हें आधुनिक नागरी लिपि में प्रयुक्त किया जाता है।

११:६:१:५ : **अन्य ध्वनि-संकेत** : स्वर और व्यंजन के अतिरिक्त ध्वनिग्राम या ध्वनि के वैशिष्ट्य को दिखाने के लिए नागरी में अनुस्वार, विसर्ग, हलन्त, अनुनासकत्व (चन्द्र-बिन्दु), जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का प्रयोग होता है। उद्भव-

कालीन नागरी में इनमें से केवल अनुनासिकत्व का संकेत उपलब्ध नहीं है। शेष सभी के संकेत विद्यमान हैं। अनुस्वार, विसर्ग और हलन्त के संकेत पूर्ण विकसित हैं। अनुस्वार और विसर्ग के बिन्दु प्रायः अन्दर से खोखले रखे जाते हैं। यह प्रवृत्ति ब्राह्मी से भिन्न है। हलन्त-संकेत व्यंजन के नीचे लगता है, वह ठीक पाई के नीचे हो, यह आवश्यक नहीं है। जिह्वामूलीय और उपध्मानीय के उज्जैन लेख के संकेत बाद में नागरी ने छोड़ दिए। उद्भव-काल तक नागरी के इन दो संकेतों के नागरी रूप अभी विकसित नहीं हुए। ध्वनीतर संकेत जैसे अंक, विराम इत्यादि के संकेत भी लिपि का अंग होते हैं, किन्तु ऐसे संकेतों पर इस प्रबन्ध में विचार नहीं किया जा रहा है।

११:७ : **नागरी के विकास का अनुसंधान** : सन् १००० ई० में नागरी का उद्भव मानने के पीछे यह धारणा है कि तब तक उन सिद्धान्तों का विकास हो चुका था जो नागरी को अन्य लिपियों से भिन्न लिपि सिद्ध करते हैं। इससे यह धारणा बना लेना अनुचित होगा कि उसके पश्चात् नागरी का विकास हुआ ही नहीं। कोई लिपि कभी स्थिर नहीं रहती। नागरी भी निरन्तर विकासमान रही है। सत्य तो यह है कि आज भी नागरी का विकास हो रहा है और तब तक होता रहेगा जब तक नागरी का प्रयोग होता रहेगा।[1]

११:७:१ : **नागरी-विकास के दो खंड** : भारत की सभी लिपियों के इतिहास को तीन चरणों में विभाजित किया गया था—

(I) प्रथम चरण : चित्र-लिपि : सन् ४५०० ईसापूर्व से ५०० ईसापूर्व

(II) द्वितीय चरण : रेखा-लिपि : सन् ५०० ईसापूर्व से १९०० ईस्वी

(आधार निर्माण काल : ५०० ईसापूर्व से ३५०ई०

विभाजन काल : ३५० ई० से १००० ई०

स्थैर्य काल : १००० ई० से १९०० ई०)

(III) तृतीय चरण : यन्त्र-लिपि : सन् १९०० से अद्यावधि तक

पिछले दो खंडों के दस अध्यायों में द्वितीय चरण के विभाजन काल तक नागरी के संदर्भ में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। नागरी का शेष विकास दो खंडों में प्रस्तुत किया जाना चाहिए—

(१) स्थैर्य काल

(२) यन्त्र-लिपि-काल

अगले पृष्ठों पर इन दोनों कालों का विवेचन क्रमशः प्रस्तुत किया गया है।

---

१. यही प्रबन्ध, अनुच्छेद २:७:१

२. वही, अनुच्छेद २:७:२

३. वही, अनुच्छेद ५:८

४. वही, अनुच्छेद ५:३:३

५. वही, अनुच्छेद ५:४:२

६. वही, अनुच्छेद ५:४:३:३
७ वही, वही
८. वही, अनुच्छेद ५:६
९ वही, अनुच्छेद ५:९
१०. वही, अनुच्छेद ५:८
११. भा० स० लि०, पृ० ४४
१२. देखिए—प्रबंध के खंड १, अध्याय ३ में सिंधु-लिपि के संकेत
१३. यही प्रबंध, अनु० ७:५
१४. वही, अनु० ८:३:४:५
१५. भा० प्रा० लि०, लि०प० १९
१६ वही, लि० प० २५
१७. जैसे पीछे चित्र १०:१७ के 'टो' और 'दे' अक्षर-संकेतों में
१८. तुलनार्थ देखिए—चित्र १०:१६ तथा १०:१७
१९. भा० पु० शा०, फलक ५, स्तम्भ १८, पंक्ति १८ में 'ज्ञि' अक्षर
२०. देखिए—चित्र १०:१०
२१. देखिए—चित्र १०:१२
२२. देखिए—चित्र ८:११
२३. चित्र १०:१०
२४. चित्र १०:१२
२५ चित्र १०:१३
२६. वही
२७. चित्र १०:१४
२८. चित्र १०:१७

१२ स्थैर्यकाल में नागरी का विकास

१२:१ : **स्थैर्यकाल :** रेखा लिपि के रूप में इधर-उधर कई स्थानों पर तथा यदा-कदा कई कालों में उन सिद्धान्तों का विकास तो लगभग १००० सन् तक हो गया, जिनके आधार पर नागरी के उद्भव की लगभग तिथि निश्चित की जा सकती है, किन्तु उनका एक ही स्थान पर प्रयोग धीरे-धीरे ही बढ़ा है। परिणामतः नया विकास कम हुआ है और अनेक प्रचलित सिद्धान्तों में किसी एक का प्रचलन स्थिर होने का कार्य अधिक हुआ है। इसीलिए इस काल को '**स्थैर्यकाल**' नाम दिया गया है। नागरी के लिए यह विकास-काल का ही एक भाग है।

१२:१:१ : **स्थैर्यकाल की सीमा :** उद्भव-काल के पश्चात् का वह समूचा समय स्थैर्यकाल कहा जा सकता है, जिसमें बहुत बड़ा सैद्धान्तिक परिवर्तन न हुआ हो। एक-दो संकेतों में सैद्धान्तिक परिवर्तन होने पर भी लिपि-विशेष की सामान्य प्रकृति में अन्तर नहीं आ जाता, अतः उन्हें नए काल का द्योतक नहीं कहा जा सकता। उदाहरणार्थ, नागरी का 'ज' उद्भव-काल तक सिद्धान्ततः पाई वाला व्यंजन नहीं है, वह स्थैर्यकाल में पाई अर्जित करता है, किन्तु इससे नागरी की सामान्य प्रकृति में अन्तर नहीं पड़ा। नागरी में उद्भव-काल के समय भी 'ख', 'ग'—जैसे अनेक पाई-वाले व्यंजन थे, 'ज' का पाई वाला व्यंजन बन जाने से उस सूची में एक और संकेत जुड़ गया। यह 'ज'-संकेत के लिए नवीन एवं महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक विकास भले ही हो, समूची नागरी-लिपि के लिए नया सैद्धान्तिक विकास नहीं है।

नागरी के विकास में नया मोड़ मुद्रण-यंत्र के कारण आया। सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार फादर हेनरिक राथ ने सन् १६६७ ई० में 'चाइना इलस्ट्राटा' में लैटिन में लिखित ईश्वर की प्रार्थना को नागरी लिपि में परिवर्तित करके छपाया।[1] संभवतः यह नागरी का यंत्र पर प्रथम प्रयोग है। इस आधार पर सन् १६६७ तक स्थैर्यकाल मानकर इसके पश्चात् **यंत्रलिपिकाल** मान लेना इसलिए उचित नहीं है,

क्योंकि किसी इक्के-दुक्के प्रयोग से नागरी-जैसी विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित लिपि की प्रकृति पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता। नागरी का भारत में प्रचुर मात्रा में प्रकाशन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में ही प्रारम्भ हुआ। अतः सन् १८०० के पश्चात् का काल ही नागरी के यंत्रों पर प्रयोग का काल माना जाना चाहिए। इस ठोस आधार पर निर्णय लेना कहीं अधिक तर्क-सम्मत प्रतीत होता है। परिणामतः नागरी के संदर्भ में स्थैर्यकाल सन् १००० ई० से सन् १८०० ई० तक मानना चाहिए।

१२:२ : **स्थैर्यकाल में आकृति विकास :** नागरी के उद्भवकालीन रूप को स्पष्ट करते समय यह ज्ञात हुआ था कि नागरी के अनेक संकेत उद्भव-काल में ही उस आकृति में आ चुके थे, जिसमें आज तक प्रयुक्त हो रहे हैं। उन संकेतों की आकृतियों पर पुनर्विचार पूर्वोक्त तथ्यों की आवृत्ति-मात्र होगा, अतः अब केवल उन्हीं संकेताकृतियों के परिवर्तन द्रष्टव्य हैं, जिनका उद्भव-काल तक पूर्ण विकास नहीं हुआ था। इसी दृष्टि से आकृतियों का क्रमशः विवेचन नीचे दिया जा रहा है।

अ, आ

इनके दो शैलियों के रूप प्रचलित हैं—

(१) 'उ' से बनने वाला 'पूर्वी-शैली' या 'दक्षिणी-शैली' के अन्तर्गत गिना जाने वाला ह्रस्व स्वर का रूप तथा उसके साथ 'आ' की मात्रा लगाकर बनाया गया दीर्घ स्वर का रूप।

(२) 'प' से बनने वाला 'पश्चिमी-शैली' या 'उत्तरी-शैली' के अन्तर्गत गिना जाने वाला ह्रस्व स्वर का रूप तथा उसके साथ 'आ' की मात्रा लगाकर बनाया गया दीर्घ स्वर का रूप।

'अ' के दोनों शैलियों के रूपों का विकास उद्भवकालीन नागरी में ही पूर्ण हो चुका है। सन् १००९-१० के कौंठम-लेख[२] में दक्षिणी शैली और सन् १०२९ के भीमदेव (१) के लेख[३] में उत्तरी शैली के रूप विद्यमान हैं।

इ, ई

उद्भव-काल तक इ-ई के संकेत विकसित नहीं हुए। सन् ९०४ के मोरबी-लेख[४] में 'इ' के (दो शून्यों के नीचे 'उ' की मात्रा-जैसे) संकेत के ऊपर एक शून्य जोड़कर 'ई' बनाया गया है। यह 'इ' से 'ई' बनाने की प्रवृत्ति का द्योतक है। उद्भवकालीन नागरी में 'इ' के संकेत के ऊपर के भाग में 'कुछ' जोड़कर उसे 'ई' का संकेत बना लेने की प्रवृत्ति तो जन्म ले चुकी है किन्तु उसकी आकृति आधुनिक संकेत से बहुत दूर है। स्थैर्यकाल में नागरी के 'इ-ई' संकेतों का विकास जिस क्रम से हुआ, वह यहाँ चित्र १२:१ में दिखाया गया है।[५] संकेतों के नीचे ईस्वी सन् में उनका समय दिखाया गया है। चित्र से स्पष्ट है कि सन् १२०० तक 'इ-ई, संकेतों का 'ड' से साम्य नहीं है। १५वीं तथा १६वीं शताब्दियों का 'इ', 'ड' से आकृतिगत समता प्राप्त कर चुका है। तब 'इ' के अन्तिम निचले मोड़ को आधुनिक 'ऊ, की मात्रा के सदृश मोड़ने से 'इ'

बनता है (संकेत ५, ६ की तुलना कीजिए)। संकेत-६ और ७ की तुलना से ज्ञात होता है कि पंद्रहवी-सोलहवीं शताब्दी में 'इ' से 'ई' बनाने के लिए 'इ' के शीर्ष पर 'रेफ' लगाया जाता है। इस **'रेफ'** को **'छत्र'** कहने का भी प्रचलन है।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

इ ई इ ई ड इ ई इ इ ई

1114 A.D. 1200 A.D 1459 A.D. 1550 A.D. 1616 A.D 1792 A.D

चित्र १२:१

अनेक पांडुलिपियाँ देखने पर इन पंक्तियों के लेखक को पहली बार सन् १६१६ की एक पांडुलिपि में 'इ, की वह आकृति दिखाई दी जो आधुनिक नागरी में प्रयुक्त होती है। इसमें खड़ी पाई का छोटा-सा अंश बाएँ शीर्ष के बदले दाहिने शीर्ष-बिंदु से प्रारम्भ होता है (चित्र का संकेत ८ देखिए)। सन् १७९२ की बहुगुणा-पांडुलिपि में 'ई' (संकेत १०) का रूप 'उद्योगपर्व' (पां०) के 'इ' (संकेत ८) से ही बना है, किन्तु 'इ' (संकेत ९) प्राचीन है (संकेत ३ से तुलना कीजिए)। संकेत ३, ४ (सन् १२००) और संकेत ९ (सन् १७९२) की समानता का विशेष कारण है। 'इ' का जो रूप 'उद्योगपर्व' (पां०) (संकेत ८) में है, उसे बहुगुणा-पांडुलिपि में आधुनिक 'ड़' (अल्पप्राण, घोष, मूर्द्धन्य, उत्क्षिप्त व्यंजन) ध्वनिग्राम के संकेत के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यही कारण है कि 'इ' के लिए प्राचीन संकेत का ही प्रयोग है।

निष्कर्षतः यह माना जा सकता है कि 'इ' की आधुनिक आकृति सन् १६१६ (उद्योगपर्व पां०) में पहली बार दिखाई देती है।

उ, ऊ

इनका विकास उद्भव-काल तक हो चुका है। सन् १००९-१० के कौंठम-लेख 'उ'[६] नितांत आधुनिक आकृति में है। 'उ' से 'ऊ' बनाने की प्रवृत्ति ब्राह्मी से चली आ रही है। सन् ८६१ के घटिआला-लेख[७] में 'उ' से 'ऊ' उसी प्रकार बना है, जैसे आज-कल बनाया जाता है। नवीं शताब्दी में शिरोरेखा का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। वह कमी १००९-१० ई० के कौंटम-लेख[८] में दिखाई नहीं देती। अतः आधुनिक उ-ऊ का विकास सन् १००९-१० में पूर्ण हुआ माना जा सकता है।

ऋ, ॠ

इन दोनों संकेतों का स्वतन्त्र प्रयोग बहुत कम होता है। आधुनिक भारतीय

भाषाओं में इनकी मूल ध्वनियाँ लुप्त हो चुकी हैं, परिणामतः तद्भव शब्द 'र' से लिखे जाते हैं। केवल तत्सम शब्द 'ऋ' से लिखे जाते हैं, किन्तु उन शब्दों में भी गुण, यण् इत्यादि संधि-नियम लागू होने पर प्रायः 'ऋ' के स्थान पर 'र' हो जाता है। बहुत लम्बे समय तक अभिलेख संस्कृत में लिखे जाते रहे और उनमें 'ऋ' से प्रारम्भ होने वाले शब्दों का या तो प्रयोग ही नहीं हुआ या सन्धि के कारण स्वतन्त्र 'ऋ' शेष

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

चित्र १२:२

नहीं रहा। अतः 'ऋ' की आकृति का विकास अनुमानतः ही दिखाया जा सकता है।

चित्र १२:२ में 'ऋ' के विकास को स्पष्ट करने वाले कुछ संकेत संकलित किए गए हैं।[६] प्रथम पंक्ति में छठी शताब्दी के 'अ आ ऋ ॠ अ आ ऋ ॠ हैं (पहले चार 'वास्तविक', दूसरे चार 'मानक'), दूसरी पंक्ति में ११वीं शताब्दी के 'अ आ ऋ ॠ अ आ ऋ ॠ हैं (पहले चार पुनः वास्तविक हैं और प्रथम पंक्ति की तरह यहाँ भी दूसरे चार 'मानक' हैं, तीसरी पंक्ति में क्रमशः ११वीं श० का ऋ ॠ, १२वीं श० का ऋ ॠ, १९वीं श० का पाई वाला ऋ ॠ और गांठ वाला ऋ ॠ है और चौथी पंक्ति में आधुनिक दोनों प्रकार के ऋ, ॠ के अंग पृथक्-पृथक दिखाए गए हैं।

चित्र में दिखाए गए उपलब्ध संकेतों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि समस्त स्थैर्यकाल में ऋ की आधुनिक आकृति प्रचलित नहीं थी। तब तक 'ऋ' के ह्रस्व रूप में दाहिने भाग में खड़ी पाई थी। उसके नीचे आधुनिक ऋ की मात्रा-जैसा अंश नहीं था। उसे दीर्घ बनाने के लिए नीचे दाहिने से खुला एक अर्ध-वृत्त जोड़ा जाता था। आधुनिक 'ऋ' तब 'दीर्घ' स्वर की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता था।

स्थैर्यकाल के पश्चात् संभवतः मुद्रण के लिए ही एक अर्ध-वृत्त और दो अर्ध-वृत्त जोड़कर क्रमशः ह्रस्व और दीर्घ ऋकार की आकृतियाँ निश्चित हुईं। अतः ऋ के दोनों प्रकार के आधुनिक संकेत सन् १९०० के आस-पास मुद्रण के कारण प्रचलित हुए प्रतीत होते हैं।

ए, ऐ

सन् १००९-१० के कौंठम-लेख का 'ए' सिद्धान्ततः उन्हीं अंगों से बना है, जो

आधुनिक ए में हैं, किन्तु उन अंगों में अनुपात तथा उनका स्थान वैसा नहीं है, जैसा आधुनिक नागरी के 'ए' में है।

'ए' के मूल संकेत में 'ए' की मात्रा जोड़ने से नागरी का 'ऐ' बनता है। यह सिद्धान्त ब्राह्मी काल से चला आ रहा है।[10] इस सिद्धान्त के कारण 'ए' के मूल-संकेत और 'ए' की मात्रा के विकास से ऐ का विकास देखा जा सकता है।

यहाँ चित्र १२:३ में दिखाए गए पाँचों संकेतों[11] का समय क्रमशः सन् १००९-१०, १०२९, १४५९, १६१६ तथा १६१६ हैं। अन्तिम दोनों संकेत ('ए, और 'शे,) एक ही पांडुलिपि के हैं। इन संकेतों से स्पष्ट है कि सन् १६१६ के 'ए, और 'शे, के संकेतों में 'ए, तथा 'ए की मात्रा' के संकेत आधुनिक नागरी के हैं। इससे पूर्व
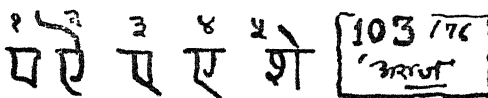
चित्र १२:३

के संकेतों में कुछ अन्तर है। सन् १६१६ के संकेतों में निम्नलिखित विशिष्टताएँ उत्पन्न हो गई हैं—

(१) 'ए' की दाहिनी भुजा, बाएँ अंग को स्पर्श नहीं करती।

(२) 'ए' की शीर्ष-रेखा भिन्न रेखा है। पहले के 'ए' संकेत **द्वि-रेख** हैं और १६१६ ई० का 'ए' **त्रिरेख** है।

(३) 'ए' की मात्रा ऊपर से प्रारम्भ होने वाली लहर से प्रारम्भ नहीं होती। (संकेत २ में अलंकृत-लिपि की वह विशिष्ट लहर स्पष्ट देखी जा सकती है। संकेत ५ के 'शे' में मात्रा का ऊपरी छोर उस 'लहर' से मुक्त है।)

अतः ए, ऐ के संकेत सन् १६१६ ई० में आधुनिक नागरी के संकेतों की आकृति ग्रहण कर चुके थे।

ओ, औ

उद्भवकालीन 'ओ'-'औ' की आकृतियाँ 'ऊ' से बहुत मिलती-जुलती थीं।[12] ओ-औ के वे प्राचीन रूप अब नागरी में प्रचलित नहीं रहे।

ओ-औ के मूल रूप में प्रयोग के उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। यही कारण है कि निश्चयपूर्वक यह बता पाना कठिन है कि 'अ' के साथ मात्राएँ लगाकर 'ओ, औ' का रूप बनाने का प्रचलन कब से हुआ। ऐसा सबसे प्राचीन प्रयोग जो इस लेखक की दृष्टि से गुज़रा सन् १७७२ का है। सन् १७७२ में लिखित 'रत्नावली चरित' की पांडुलिपि[13] में 'औ' को 'अ' पर मात्राएँ लगाकर ही बनाया गया है। यद्यपि सन् १००९-१० तथा सन् १७७२ में कई शताब्दियों का अन्तराल है, तथापि अन्य प्रमाण के अनुपलब्ध होने पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम पाद में नागरी के आधुनिक ओ-औ का सैद्धांतिक अस्तित्व था।

अनुनासिकत्व-संकेत

आधुनिक नागरी में मूल-स्वरों या मात्रा-स्वरों को अनुनासिक बनाने के लिए 'चन्द्र-बिन्दु' नाम से प्रसिद्ध (ँ) संकेत जोड़ा जाता है। इसे **'अनुनासिकत्व-संकेत'** कहना चाहिए। यह संकेत शिरोरेखा के ऊपर स्थान रिक्त होने पर मूल-स्वर के ऊपर या क, कु इत्यादि सस्वर अक्षर-संकेत के ऊपर लगाया जाता है। जिस स्वर-संकेत या अक्षर-संकेत की आकृति को पूर्ण करने के लिए कोई अंश शिरोरेखा के ऊपर लगाया जाता हो (जैसे · ऐ के, की इत्यादि) उसके ठीक ऊपर अनुनासिकत्व-संकेत लगाने का स्थान न होने के कारण यह संकेत अपने स्थान से थोड़ा दाहिने हटकर लगाया जाता है (जैसे—हैँ, होँ गे)। सन् १९०० के आस-पास अनुनासिकत्व-संकेत के अनिवार्य और शुद्ध प्रयोग का प्रचलन था। पिछले दो-तीन दशाब्द में इसके स्थान पर 'अनुस्वार' लगाने की प्रवृत्ति बढ़ी है। अतः यंत्र-लिपि से पूर्व अनुनासिकत्व-संकेत को नागरी का अनिवार्य संकेत मानना चाहिए।

आधुनिक नागरी में प्रचलित 'चन्द्र-बिन्दु' का संकेत सिंधु-लिपि के समय से भारत में विद्यमान है (दे०—अनुच्छेद ३:३:५:१ तथा चित्र ३:१७) किन्तु प्रारम्भ में वह अनुस्वार एवं नासिक्य व्यंजन की अभिव्यक्ति देता था, आज वह स्वर के अनुनासिकत्व का बोध कराता है।

उक्त तथ्य के नितांत प्रामाणिक होने पर भी यह विचित्र सत्य है कि उद्भव-कालीन नागरी में चन्द्र-बिन्दु के संकेत के प्रयोग का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यह लैपिविज्ञानिक स्थिति तत्कालीन भाषावैज्ञानिक स्थिति से मेल नहीं खाती। सन् १००० के लगभग आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। उनमें अनुनासिकत्व की ध्वनि का प्रयोग प्रचुरता से होता था, किन्तु लिपि में उसके लिए संकेत नहीं मिलता। स्थैर्यकाल में अनुस्वार ही अनुनासिकत्व का भी कार्य करता है। गुजराती लिपि में तो आज भी यही स्थिति है।

ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्र-बिन्दु के रूप में अनुनासिकत्व-संकेत का पुनः प्रचलन उत्तर-पूर्वी भारत में मुद्रण के साथ हुआ जो धीरे-धीरे पश्चिमी भारत में फैल गया। आज भी पूर्वी उत्तर भारत में चन्द्र-बिन्दु का प्रयोग देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक होता है।

गुरुमुखी में टिप्पी' (अनुस्वार) और कन्ना-बिंदी ('आँ' का संकेत) का विशिष्ट अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि अनुस्वार और अनुनासिकत्व का भेद स्थैर्य-काल में उत्तर भारत में था। इसके विपरीत मध्य भारत की स्थैर्यकालीन सभी पांडु-लिपियों में केवल अनुस्वार का संकेत ही लिखित रूप में उपलब्ध है। उसी से अनुस्वार एवं अनुनासिकत्व की अभिव्यक्ति का कार्य लिया जाता है।

स्पष्ट है कि जब तक कोई ऐसी पांडुलिपि या शिलालेख उपलब्ध न हो जाए, जो अनुनासिकत्व का पृथक् नागरी-संकेत प्रमाणित कर सके, तब तक यही मानना

उचित है कि स्थैर्यकाल में अनुस्वार और अनुनासिकत्व का उच्चारण भेद होते हुए भी लिपियों में केवल एक संकेत था जो आकृति में आज का अनुस्वार-संकेत था किन्तु अभिव्यक्ति में वही प्रसंगानुसार अनुस्वार या अनुनासिकत्व हो जाता था।

अनुस्वार

सरल ब्राह्मी में अनुस्वार का बिन्दु दाहिने को ऊपरी शीर्ष के सम्मुख लिखा जाता था (चित्र ५:२), किन्तु ईसापूर्व पहली शताब्दी में ही वह बिन्दु शीर्ष के ऊपर लिखा जाने लगा (चित्र ५:३५)। चित्र १०:१६ के 'मिं' अक्षर में अनुस्वार शून्य के समान भीतर से **'खोखला'** है, किन्तु चित्र १०:१७ के 'आं' अक्षर में वह **'भरा हुआ'** और छोटा है। उद्भवकालीन नागरी की इस स्थिति के अनुरूप ही समस्त स्थैर्यकाल में खोखले और भरे हुए दोनों प्रकार के अनुस्वार के रूपों का विकल्प से प्रयोग चलता रहा है। कभी-कभी तो एक ही लिपिक एक ही पृष्ठ पर दोनों प्रकार के रूपों का प्रयोग करता है।

इसके विपरीत मुद्रण में खोखले अनुस्वार का प्रयोग उपलब्ध नहीं है। अतः मुद्रण के प्रारम्भ होने से अनुस्वार में एकरूपता आ गई है।

विसर्ग

दूसरी शताब्दी ईस्वी से विसर्ग का प्रयोग उपलब्ध है।[१४] तभी से ऊपर-नीचे दो पृथक्-पृथक् लिखे बिन्दु इसकी आकृति रहे हैं। कभी-कभी विसर्ग की बिंदियों को खोखला भी लिखा जाता था (जैसे चित्र १०:१६ के 'पुः' अक्षर में), किन्तु उसका स्थान और उसकी अभिव्यक्ति में अन्तर नहीं आया।

क

इसका संकेत उद्भव-काल में पूर्ण विकसित है।

ख

इसके संकेत के सभी अंग उद्भवकालीन 'ख' में विद्यमान हैं, किन्तु बाद में उनमें सौंदर्य और गठन आया है जैसा कि चित्र १२:४ के संकेतों[१५] में दिखाया गया है।

चित्र १२:४

पीछे चित्र १०:१६ तथा १०:१७ में दिखाए गए उद्भवकालीन नागरी के 'ख' के रूपों में सभी अंग तो हैं किन्तु वे बेडौल दिखाई देते हैं। 'र' भाग में 'व' जैसा खोखला अंश नागरी के वर्तमान 'ख' से बहुत भिन्न है।

चित्र १२:४ का संकेत १ सन् १२०० का है। उसका 'र' भाग नागरी की आधुनिक आकृति के निकट है किन्तु 'व' भाग दो स्थानों पर रेखाओं के मध्य अन्तराल छोड़े हुए है। सन् १४५६ की महाभाष्यप्रदीप-पांडुलिपि[16] के 'ख' (संकेत २) में 'र' का निचला भाग 'व' के नीचे चला गया है, जिसके कारण वह बीसवीं शताब्दी तक चला आता 'ख' का रूप प्रस्तुत करता है।

स्थैर्यकाल में १३वीं से १८वीं शताब्दी ईस्वी तक कुछ ऐसी पांडुलिपियाँ भी उपलब्ध हैं, जिनमें 'ख' के लिए 'ष'-संकेत लिखा गया है। इसे कुछ काल के लिए विकल्प-रूप में अपनाया गया किन्तु छापेखाने और शिक्षा के प्रचार ने इस विकल्प को समाप्त कर दिया।

ग

उद्भवकालीन नागरी के 'ग' में सभी अंगों का विकास हो चुका है। बाद में आकृति में सौंदर्य बढ़ा है जैसा कि चित्र १२:५ के संकेतों[17] से सिद्ध होता है।

१ २ ३ ४ ५ ६
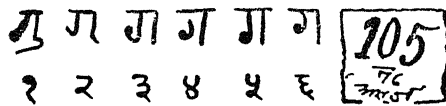
चित्र १२:५

उद्भवकालीन नागरी के 'ग' की बाईं पाई के निचले छोर पर खोखला अंश है जो चित्र १२:५ के संकेत १ (सन् ११७५) में भर गया है। संकेत १ का यह अंश नीचे को कील-शीर्ष बनाता है। संकेत २ में दिखाए गए सन् १४५६ के वामांग की लम्बाई दाहिनी पाई के लगभग समान है। दाहिनी पाई के अन्त में चरण-संकेत का आभास और वामांग के निचले छोर का घूमी हुई रेखा-मात्र रह जाना आधुनिक 'ग' की आकृति से कुछ भिन्न प्रतीत होता है। संकेत ३ में दिखाया गया क्षेत्र-समास-प्रकरण का 'ग' अपनी सीधी पाई और वामांग के अन्त में बाईं ओर चिपके बिन्दु के कारण आधुनिक नागरी 'ग' का लगभग पूर्ण विकास प्रस्तुत करता है।

सन् १६१६ का 'ग' (संकेत ४) किसी पुरानी परम्परा या लिपिक की असावधानी का द्योतक है। सन् १६३३ का 'ग' (संकेत ५) और सन् १७९२ का 'ग' (संकेत ६) कुछ और गठे हुए हैं। संकेत ४ और ६ से वामांग की पाई के दाहिने को कूबड़ वाली होने के तथा संकेत २, ३, ५ इस पाई के सीधे होने के प्रमाण है। आधुनिक काल की विविध मुद्राओं (टाइपों) में यह अंग विकल्प से (सीधा या कूबड़ वाला) दोनों प्रकार का दिखाई देता है, अतः इस भेद को 'ग' के आकृति-विकास की पूर्णता निश्चित करने में आधार नहीं बनाया जा सकता।

उक्त विवेचन के आधार पर सन् १५५० में 'ग' की आकृति का पूर्ण विकास माना जा सकता है।

घ

यों उद्‌भवकालीन नागरी के 'घ' की आकृति अनगढ़ होते हुए भी इतनी पूर्ण है कि नागरी 'घ' का आकृति-विकास सन् १००९-१० के कौंठम-लेख में पूर्ण कहा जा सकता है, तो भी स्थैर्यकाल में उसकी आकृति में जो सौंदर्य और गठन आया है, वह चित्र १२:६ के संकेतों[१८] द्वारा स्पष्टतया देखा जा सकता है।
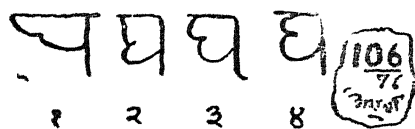
चित्र १२:६

सन् १००९-१० के 'घ' (संकेत १) में दाहिने-बाएँ का फैलाव अधिक है बाद के संकेतों में वह कम हो गया है, जिससे इस संकेत की आकृति में **गठन** आ गया है। संकेत १ की तुलना में संकेत २, ३, ४ अधिक गठित हैं।

संकेत १ के वामांग में निचली रेखा के मध्य का **दाँत** नीचे से ऊपर की ओर उठा हुआ है। बाद के संकेतों (२, ३, ४) में वह बाएँ भाग में दाहिने को धँसा हुआ है।

संकेत २ (सन् ११७५) में वामांग का ऊपर-नीचे का फैलाव अधिक है और बाएँ भाग में से दाहिने को दाँत निकालने के लिए नई रेखा शुरू की गई है। आधुनिक 'घ' (संकेत ४) में वामांग एक-रेख है, संकेत २ में वह द्वि-रेख है।

सन् १५५० के 'घ' (संकेत ३) में वामांग एक-रेख भी है, संतुलित भी है, किंतु शिरोरेखा और पाई एक ही रेखा से लिखे गए हैं।

सन् १९०० के आस-पास मुद्रित रूप में प्राप्त 'घ' (संकेत ४) की शिरोरेखा और पाई, दो भिन्न रेखाएँ है।

ङ

'ङ' का स्वतन्त्र प्रयोग न होने के कारण इसके विकास के सभी पड़ाव उपलब्ध नहीं हैं, होर्युज़ी से प्राप्त 'उष्णीष-विजयधारणी' पुस्तक की पांडुलिपि के अन्त में दी
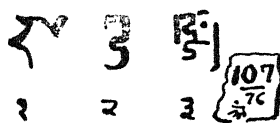
चित्र १२:७

गई 'वर्णमाला'[१९] से छठी शताब्दी ईस्वी का यह सिद्धान्त ज्ञात होता है कि 'ङ' और 'ड' की आकृतियों में साम्य है और कि 'ङ' में 'ड' की आकृति के साथ 'कुछ' अतिरिक्त

जोड़ा गया है। होर्युजी-पांडुलिपि के 'ङ' में वह 'कुछ' आज के 'रेफ' के निचले भाग-जैसा है।[२०] (देखिए - चित्र १२:७ का संकेत १)।[२१]

ग्यारहवीं शताब्दी के उज्जैन-लेख का 'ङ' (संकेत २) नयी प्रकार का विकास प्रस्तुत करता है। उस लेख के अनुसार आधुनिक 'ट' के निचले अंश को दाहिने न मोड़ कर नीचे लटकता छोड़ दिया जाए तो वह तत्कालीन 'ड' का संकेत बनता है। यहाँ दिखाए गए संकेत दो में 'ङ' के रूप में उस 'ड' से दो अंश अधिक हैं। यदि इस संकेत २ में से शिरोरेखा के बाएँ छोर पर लटकती छोटी-सी पाई और निचले भाग में लगे 'उ' की मात्रा जैसे अंश को मिटा दिया जाए तो शेष उज्जैन-लेख का 'ड' रह जाएगा। स्पष्ट है कि ११वीं शताब्दी में भी 'ड' में कुछ अतिरिक्त अंश जोड़कर 'ङ' बनाने का नियम कार्य कर रहा है, किन्तु तत्कालीन 'ङ' आधुनिक 'ङ' से भिन्न है।

उक्त प्रमाणों के होते हुए डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा का यह मत उचित प्रतीत नहीं होता कि '६वीं शताब्दी का 'ङ' पूर्णतया आधुनिक 'ङ' की तरह है।'[२२] डॉ० साहब ने किसी ऐसे लेख का उद्धरण या संकेत नहीं दिया, जहाँ उनके मतानुसार 'पूर्णतया आधुनिक-ङ की तरह' का वह संकेत देखा जा सके; जबकि इन पंक्तियों के लेखक को उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार ११वीं शताब्दी तक आधुनिक 'ङ' का उद्भव नहीं हुआ।

नागरी के 'ङ' का उद्भव उस समय से मानना न्याय-संगत है, जब से उसमें पृथक् बिन्दु का प्रयोग होने लगा, क्योंकि संकेत का यही अंश आधुनिक 'ङ' और 'ड' का भेदक तत्त्व है। ११वीं शताब्दी के 'ङ' में वह बिन्दु नहीं है। 'संयुक्त-व्यंजन' के रूप में भी तब तक के उपलब्ध संकेतों में 'ङ' के बिन्दु के कहीं दर्शन नहीं होते। अतः 'ङ' की आधुनिक आकृति का पूर्ण विकास ११वीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ है।

संकेत ३ में 'ङि' अक्षर लिखा है। सन् ११४२ के वैद्यदेव लेख के इस अक्षर में कुछ अस्पष्टता होते हुए भी वामांग में इकार की मात्रा (जिसका ऊपरी भाग अस्पष्ट हो गया है), मध्य में 'ङ' के नीचे 'ग' का बायाँ भाग है और दाहिनी ओर की पाई 'ग' का दाहिना भाग है। इसमें 'ङ' की शिरोरेखा के बाएँ छोर पर संकेत २ जैसा बन्द है किन्तु वह अधिक वक्र होकर वापिस शिरोरेखा से सटने का प्रयत्न कर रहा है। शेष 'ड' के तत्कालीन अंश के दाहिने स्पष्टतः बिन्दु लगाकर बनाया गया 'ङ' है। उसके निचले छोर का 'उ' की मात्रा-जैसा अंश 'ग' के संयोग के कारण लुप्त हो गया है। अतः इससे यह अनुमान लगना तर्कसम्मत है कि सन् ११४२ में प्रचलित 'ङ' का तत्कालीन 'ड' की आकृति से साम्य भी था, उसमें 'ड' के साथ जोड़ा गया अतिरिक्त अंश भी आधुनिक नागरी के 'ड-ङ' के समान बिन्दु ही था जो 'ड' के दाहिने भाग में लगाया जाता था।

उक्त विवेचन के आधार पर 'ङ' के आकृति-विकास की पूर्णता सन् ११४२ में माननी चाहिए।

च

'च' की आकृति के विकास से सम्बन्धित कुछ संकेत चित्र १२:८ में दिखाए

गए हैं[२३] जो क्रमशः सन् १००९-१०, १४५६, १६३०, १६३३, १७६२ और लगभग
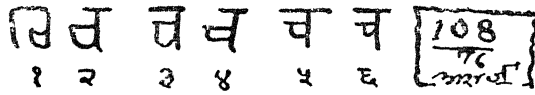
चित्र १२:८

१६०० के हैं। इनमें से संकेत १ उद्भवकालीन नागरी का प्रतिनिधित्व करता है। उस समय तक 'च' में शिरोरेखा एवं पाई का विकास हो चुका है किन्तु शेष भाग प्रायः आयत के रूप में पाई के निचले आधे भाग के वामांग में चिपका है।

सन् १४५६ का 'च' (संकेत २) तीन विशेष विकास दिखाता है—

(१) शिरोरेखा पृथक हो गई है।

(२) पाई के नीचे चरण-संकेत का आभास दिखाई देता है।

(३) वामांग की निचली रेखा चाप का रूप ग्रहण कर चुकी है।

इनमें से प्रथम और तृतीय विकास नागरी की वर्तमान 'च' की आकृति के निर्माण में सहायक हैं किन्तु द्वितीय विकास नागरी की 'च' की आकृति से सम्बन्धित नहीं है।

सन् १६३० का 'च' (संकेत ३) निम्नलिखित तीन विकास एक साथ प्रस्तुत करता है—

(१) शिरोरेखा स्वतन्त्र रेखा है।

(२) वामांग में एक सरल रेखा बाएँ से दाहिने को लिखी गई है जो पाई के मध्य में स्पर्श करती है।

(३) वामांग की उक्त क्षैतिज मध्य रेखा के नीचे का अंश गोल है और उक्त मध्य रेखा के कहीं मध्य से प्रारम्भ होकर पाई में विलीन हो जाता है।

ये तीनों विकास बाद के तीनों संकेतों में ज्यों के त्यों विद्यमान हैं। संकेत ४, ५ और ६ में केवल इतना विकास हुआ है कि चाप वाला भाग अपने अनुपात को सुधारता रहा है।

विशेष ध्यान से द्रष्टव्य तथ्य यह है कि सन् १६०० के आस-पास मुद्रित पुस्तकों में भी क्षैतिज मध्यरेखा पाई के साथ चिपकी हुई है। इस रेखा का पाई से स्पर्श न करना, थोड़ा दूर ही रह जाना अत्याधुनिक विकास है। उसे अभी नागरी का स्थिर सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता।

उक्त विवेचन के आधार पर यही निर्णय संगत प्रतीत होता है कि 'च' का आकृति-विकास सन् १६३० में पूर्ण माना जाए।

छ

छ का स्वतन्त्र प्रयोग बहुत कम उपलब्ध है। 'च्छ' अथवा 'छ्' जैसे संयोगों में वह अधिक दिखाई देता है।

'छ' के आकृति-विकास को स्पष्ट करने वाले विभिन्न कालों के कुछ संकेत चित्र १२:९ में दिखाए गए हैं।[२४]

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

चित्र १२:९

सिन्धु-लिपि और ब्राह्मी लिपि का 'छ' (संकेत १) एक वृत्त और उसे द्वि-विभाजित करती हुई ऊपर को निकली हुई पाई के रूप में हैं। इसकी तुलना में सन् १२०० के उदयवर्मन के लेख के 'छ' (संकेत २) में निम्नलिखित विकास दिखाई देते हैं—

(१) शीर्ष पर अपूर्ण रेखा है।

(२) वृत्त को विभाजित करने वाली पाई के अन्त में चरण-संकेत जोड़ दिया गया है।

(३) वृत्त के दोनों विभाजित भाग पृथक्-पृथक् लिखे जाते हैं।

(४) वाम भाग में आज के 'घ' के तरह मध्य में एक 'दाँत' है जो बाएँ से दाहिने को धँसा है।

उसी का समकालीन भीमदेव (द्वितीय) के लेख का 'छ' (संकेत ३) ब्राह्मी-'छ' के निकट है।

सन् १६१६ की पांडुलिपि का 'छ' (संकेत ४) दो नए विकास प्रस्तुत करता है—

(१) संकेत २ की तुलना में इसकी शिरोरेखा पूर्ण हो गई है।

(२) इसके मध्य की पाई 'क' या 'फ' की भांति पूर्ण है। उसके नीचे का चरण-संकेत पूर्ण पाई बनाने में विलुप्त हो गया है।

सन् १९०० का छपा हुआ 'छ' (संकेत ७) ठीक यही है। न उसमें कोई नया अंग जुड़ा है, न अनुपात में ही विशेष अन्तर आया है। इस दृष्टि से सन् १६१६ में 'छ' का आकृति-विकास पूर्ण माना जा सकता था किन्तु चित्र के अन्तिम तीन इस समय प्रचलित संकेतों (संकेत ८, ९, १०) को देखते हुए 'छ' की आकृति का एक विशेष गुण दिखाई देता है—छ की समापक रेखा एक वृत्त है, जिसे चक्की की तरह बनाया जाता है। सन् १९०० के आस-पास मुद्रित 'छ' (संकेत ७) को मध्य पाई से (संकेत ४ की तरह) भी लिखा जा सकता है और चक्की-से समापक वृत्त से भी (संकेत ८ की तरह); अतः 'छ' के आकृति-विकास की पूर्णता इस 'वृत्तात्मक समाप्ति' के प्रारम्भ से पहले नहीं मानी जानी चाहिए।

सन् १६३३ की पांडुलिपि का 'छ' (संकेत ५) आधुनिक तीसरे 'छ' (संकेत १०) का पूर्वज है। इसमें वह समापक, चक्की की तरह लिखा जाने वाला, वृत्त बन

चुका है। अतः यही मानना तर्कसम्मत है कि 'छ' का आकृति-विकास सन् १६३३ में पूर्ण हुआ।

ज

चित्र १२:१० का संकेत १ सन् १०२९ की 'ज' की आकृति दिखाता है।[२५] इससे स्पष्ट है कि उद्भवकालीन नागरी का 'ज' अर्ध-विकसित है, क्योंकि उसमें शिरो-रेखा तो पूर्ण विकसित है, किन्तु पाई नहीं है। सन् १४५९ की पांडुलिपि के 'ज' (संकेत २) में पाई भी पूर्णतः विकसित है किन्तु वामांग की पड़ी रेखा दाहिने से बाँए को लिखी जाती है, वामांत पर गोल मुड़कर आज के 'ड' के निचले भाग की तरह घूमकर समाप्त होती है। यह वामांग आधुनिक 'ज' के अनुकूल नहीं है।
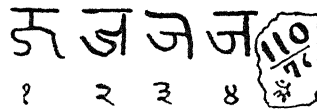
चित्र १२:१०

सन् १६३० की पांडुलिपि के 'ज' (संकेत ३) में वामांग की क्षैतिज रेखा पृथक् रूप से लिखी गई है। उसमें निचला भाग बाद में जोड़ा गया है। इसमें वर्तमान 'ज' के सभी अंग बन गए हैं, अतः सन् १६३० तक नागरी के वर्तमान 'ज' का आकृति-विकास पूर्ण माना जाना चाहिए।

सन् १९०० ई० के आस-पास छपे ग्रंथों में 'ज' (संकेत ४) का स्वरूप प्रायः वही है जो सन् १६३० की पांडुलिपि में उपलब्ध है।

झ

'झ' का प्रयोग बहुत कम होता है। अतः प्राप्त सामग्री के आधार पर नागरी
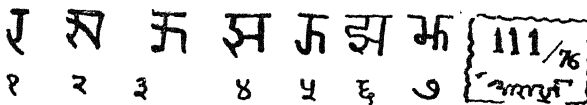
चित्र १२:११

के तीन प्रकार के प्रचलित 'झ'-संकेतों का आकृति-विकास पूर्णतः दिखाना संभव नहीं है, फिर भी तर्क के सहारे कुछ कड़ियाँ जोड़ी जा सकती हैं। चित्र १२:११ में 'झ' के कुछ उपलब्ध संकेत[२६] दिखाए गए हैं। इन्हें देखने से ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी की होर्युज़ी-पांडुलिपि के 'झ' (संकेत १) से ११वीं-१२वीं शताब्दी तक दो ओर विकास हुआ है।

संकेत १ (छठी श०) से संकेत २ (११वीं श०) का और उससे १९०० के आसपास मुद्रित रूप में उपलब्ध 'झ' (संकेत ६) का विकास संभव है। इनके मध्य गौ० ही० ओझा ने संकेत ४ की कल्पना की है।

दूसरी ओर संकेत १ से संकेत ३ (१२वीं श०) का और उससे जैन शैली के 'झ' (संकेत ५) और पश्चिमी भारत के 'झ' (संकेत ७) का विकास सम्भव है। यह विकास १२वीं शताब्दी के पश्चात् कब हुआ, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

सन् १९०० के आस-पास की मुद्रित पुस्तकों में तथा जैन-पांडुलिपियों में तीनों आधुनिक 'झ'-संकेत दिखाई देते हैं।

ञ

'ञ' से कोई शब्द प्रारम्भ नहीं होता। स्वतन्त्र व्यंजन के रूप में भी इसका प्रयोग उपलब्ध नहीं है। उपलब्ध लेखों में इसे प्रायः 'च' और 'ज' के साथ संयोजित

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२

ञ ञ ज्ञा ञ्ज ञ ज ण ज्णा ञ य य ञं
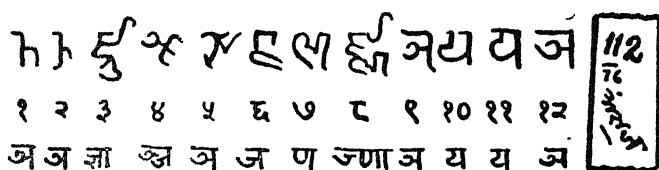
चित्र १२:१२

करके ही लिखा गया है। परिणामतः इसके संकेत का अंश ही प्रायः दिखाई देता है, पूर्ण-संकेत कम दिखाई देता है। चित्र १२:१२ के संकेतों[२७] के आधार पर इसके विकास का तर्कसंगत इतिहास ज्ञात किया जा सकता है।

इन संकेतों में से तीसरे ('ज्ञा', चौथी श० ई०) और चौथे ('ञ्ज', चौथी श० ई०) में 'ञ' का अंश एक-जैसा नहीं है, अतः उनके आधार पर किया गया निर्णय भ्रामक हो सकता है।

७वीं शताब्दी के संकेत ८ के आधार पर डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा ने 'ञ' के संकेत के 'थोड़ा और आधुनिक' होने की कल्पना की है।[२८] इसका कारण शायद यह है कि गौ० ही० ओझा ने इस संकेत का उच्चारण 'ज्ञा' लिखा है[२९] और डॉ० वर्मा ने उस स्रोत को आधार मानने की बात स्वीकार की है।[३०] संकेत ६, ७ के साथ तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि संकेत ८ में लिपिक ने 'ज्णा' लिखा है। लेख के सन्दर्भ के अनुसार यहां 'ज्ञ (ञ)' होना चाहिए था। अतः लिपिक ने अशुद्ध वर्तनी का प्रयोग किया है। परिणामतः इस लेख के 'ण' को 'ञ' पढ़ा तो जायगा, किंतु उससे 'ञ'-संकेत के आकृति-विकास का कोई सम्बन्ध नहीं माना जाएगा। जब इस संकेत में 'ञ' लिखा ही नहीं है तो उसके 'थोड़े और आधुनिक' होने का प्रश्न ही नहीं है।

संकेत ५ (होर्युज़ी-पां० का 'ञ') 'ञ' के नागरी के आकृति विकास में सहायक नहीं है। इसके विपरीत ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के संकेत १, दूसरी शताब्दी ईस्वी के संकेत २ तथा चौथी शताब्दी ईस्वी के संकेत ४ से नागरी-ञ' के वामांग का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

संकेत ६ (उज्जैन-लेख, ११वीं श० ई०) में नागरी-'ञ' के सभी अंग विद्यमान हैं। उसमें पाई के निचले भाग में चरण-संकेत-जैसा झुकाव है। संकेत १० का 'य' भी उसी लेख का है। संकेत ११ का 'य' सन् १११४ के जाजल्लदेव के लेख का है। उज्जैन-लेख के 'य' की पाई की वक्रता जाजल्लदेव के लेख में समाप्त हो गई है। यही स्थिति इन दोनों लेखों के अन्य संकेतों में है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि जाजल्लदेव-लेख का लिपिक 'ञ' को ऐसे ही लिखेगा, जैसे चित्र १२:१२ के संकेत १२ में दिखाया गया है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि नागरी-'ञ' का पूर्णविकास सन् १११४ के आस-पास हुआ और तब से वह इसी रूप में स्थिर है।

ट, ठ, ड, ढ,

उद्भवकाल तक इनकी आकृतियों का पूर्ण विकास हो चुका था।

ण

इस ध्वनि के अंकन के लिए इस समय नागरी में दो संकेत प्रचलित हैं—

(१) **ण** (उत्तरी शैली)

(२) ण (दक्षिणी शैली)

इसमें से प्रथम ('र'-जैसे, उत्तरी शैली के) 'ण' का आकृति-विकास उद्भवकालीन नागरी में हो चुका था (दे०=कौंठम-लेख, सन् १००९-१०, चित्र १०:१६)।

दूसरा रूप पूर्व और दक्षिण में अधिक प्रचलित रहा है। ओझा ने इसकी उत्पत्ति का विवरण देते हुए लिखा है—'ण-'**ण**' का यह रूप (अर्थात् ऊपर दिखाया गया दूसरा, दक्षिणी शैली का, 'प'-जैसा रूप) दक्षिणी शैली की नागरी में प्रचलित है और नागरी के '**ण**' के 'ए' जैसे अंश को चलती कलम से मिलवाँ लिखने से बना है।'[31]

ओझा जी के इस कथन को थोड़ा संशोधित कर लेना आवश्यक हो गया है। दक्षिणी शैली और उत्तरी शैली का विभाजन ब्राह्मी से माना जाए तो 'ण' का शैलियों में विभाजन उस समय संभव नहीं है। नागरी का दक्षिणी-उत्तरी शैलियों का विभाजन सन् १००० ई० तक पूर्ण माना जाता है। स्वयं ओझा जी ने दक्षिणी शैली की नागरी का उद्भवकाल ८०० ई० के लगभग माना है।[32] उस मान्यता के आधार पर तब 'ण' (दक्षिण शैली) का दूसरा रूप प्राप्त होना चाहिए; किन्तु सन् ८०० के आस-पास सर्वत्र '**ण**' (उत्तरी शैली) ही उपलब्ध है। पन्द्रहवीं शताब्दी की महाभाष्यप्रदीप-पांडुलिपि[33] में '**ण**' के दोनों रूपों का विकल्प से प्रयोग हुआ है। सन् १६३० की नैषध-चरित की पांडुलिपि[34] में दोनों रूप विकल्प से प्रयुक्त हैं। उक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है—

'**ण**' का विकास उद्भवकालीन नागरी में हो चुका था। इसे तेजी से लिखने से इसके 'ए'-जैसे अंश के निचले सिरे मिलने लगे और पूर्व तथा दक्षिण के आँचलों में इसका एक विकल्प 'ण' की आकृति में पन्द्रहवी शताब्दी में विकसित हो गया। तब से दोनों रूप प्रचलित हैं।

त

इसका आकृति विकास उद्भवकाल तक पूर्ण हो चुका था।

थ

नागरी के उद्भव-काल तक 'थ' के संकेत पर शिरोरेखा भी विकसित हो चुकी थी और पाई भी (दे० चित्र १२:१३ का संकेत १)[३५] किन्तु अभी उसकी आकृति वर्तमान नागरी— थ' से भिन्न है।

चित्र १२:१३

चित्र १२:१३ के संकेत १ का समय सन् १००९-१० और संकेत २ का समय सन् १११४ है। संकेत ३ और ४ सन् १२०० के दो भिन्न लेखों के हैं। शेष संकेत इनसे बाद के हैं। इन संकेतों से स्पष्ट है कि सन् १२०० (संकेत ४) से पहले 'थ' के वामांग के ऊपरी सिरे पर 'वृत्त' विकसित नहीं हुआ था। सन् १२०० के उदयवर्मन् के लेख के 'थ' (संकेत ४) में वह पहली बार दिखाई दिया।

सन् १४५९ की महाभाष्यप्रदीप-पांडुलिपि का 'थ' (संकेत ५) वर्तमान 'थ' कहा जा सकता है।

द्रष्टव्य है कि संकेत ५ में **अविभाजित शिरोरेखा** विद्यमान है। 'थ' की शिरोरेखा के विभक्त होने का आकृति-विकास इसके पश्चात् ही हुआ है। सन् १७७२ की रत्नावली-चरित की पांडुलिपि के 'थ' (संकेत ६) पर भी अविभाजित शिरोरेखा है। सन् १९०० के आस-पास मुद्रित पुस्तकों में 'थ' (संकेत ७) में शिरोरेखा दो खंडों में विभाजित दिखाई देती है। मुद्रण में अब भी यही स्थिति है, किन्तु लेखन में 'थ' पर अविभाजित एवं पूर्ण शिरोरेखा लगाई जाती है। चित्र का संकेत ८ नागरी 'थ' का लिखित रूप है और संकेत ९ मुद्रित रूप। लेखन में भी कुछ व्यक्ति विभाजित शिरोरेखा लगाते हैं, किन्तु पूर्ण एवं अविभाजित रेखा भी अशुद्ध नहीं मानी जाती। शिरोरेखा के **विभाजित** अथवा **अविभाजित** होने को वर्तमान नागरी के 'थ' की आकृति का विशिष्ट तत्त्व नहीं कहा जा सकता। इसलिए 'थ' के आकृति-विकास की पूर्णता का काल निर्धारित करते समय शिरोरेखा के इन प्रकारों को उपेक्षित करना ही तर्क-सम्मत है।

उक्त विवेचत के आधार पर सन् १४५९ के महाभाष्यप्रदीप के 'थ' तक नागरी 'थ' का आकृति-विकास पूर्ण माना जा सकता है।

द

उद्भव-काल तक इसका आकृति विकास पूर्ण हो चुका है।

ध

चित्र १२:१४ के संकेत[३६] 'ध' के आकृति-विकास का क्रम प्रस्तुत करते हैं। इस चित्र का प्रथम संकेत उद्भव-कालीन 'ध' की आकृति प्रस्तुत करता है। सन् १००९-१० के कौंठम-लेख के इस 'ध' में 'पाई' का विकास हो चुका है। इससे ज्ञात

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९
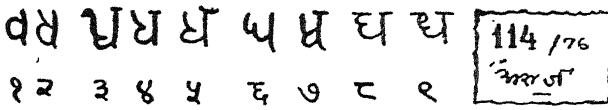
चित्र १२:१४

होता है कि यदि आधुनिक 'व' पर शिरोरेखा न लगाई जाए तो वह उद्भव-कालीन 'ध' से मिलती-जुलती आकृति का संकेत होगा।

चित्र १२:१३ के प्रथम सात संकेत क्रमशः सन् १००९-१०, ११७५, १२००, १६१६, १६३३, १७७२ तथा १७९२ के होने के कारण स्थैर्यकाल के 'ध' के आकृति-विकास को प्रदर्शित करते हैं। इनसे यह स्पष्ट है प्रथम संकेत के वामांग के ऊपर एक अतिरिक्त रेखा जुड़ना इस काल का महत्त्वपूर्ण आकृति-विकास है। यह अतिरिक्त अंश संकेत २ (सन् ११७५) से प्रारम्भ होता है और आज तक चला आया है।

संकेत २ और ३ में वामांग की मध्य रेखा दाहिनी पाई को छूती है। धीरे-धीरे यह रेखा पाई को छूना छोड़कर दूर हटना प्रारम्भ करती है। संकेत ३, ४ और ५ की तुलना से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

संकेत ३ (सन् १२००) में अपूर्ण-शिरोरेख लगाई गयी है। इसके बाद के संकेतों में से केवल संकेत ६ में यह अपूर्ण शिरोरेखा नहीं है, शेष सब में वह विद्यमान है। अतः संकेत ६ (रत्नावली चरित के 'ध') को अपवाद मानते हुए अपूर्ण शिरोरेखा को सन् १२०० से चली आ रही माना जा सकता है।

संकेत ८ और ९ यंत्रलिपि के काल के विकास हैं। मुद्रण एवं टंकन में संकेत ८ के अनुसार विभाजित शिरोरेखा का प्रयोग होता था (अब भी बहुधा होता है)। इस विभाजित शिरोरेखा के दो भागों के मध्य स्थान बहुत कम रहने के कारण 'ध' और 'घ' में भ्रम हो जाता था (जहाँ पुराने फ़ाउंड के टाइप प्रयुक्त होते हैं, वहाँ अब भी यही स्थिति है)। इस समस्या का समाधान इस रूप में किया गया कि 'ध' के वामांग के ऊपरी छोर के साथ दाहिने को एक वृत्त जोड़कर उसे संकेत ९ की आकृति दी गई। लिखने में कठिन एवं बहुरेखीय होने के कारण मुद्रण में असुविधाजनक संकेत ९का 'ध' अभी अधिक प्रचलित नहीं हो पाया। परिणामतः अभी संकेत ८ और संकेत ९ की आकृतियों वाले 'ध' संकेत नागरी में साथ-साथ चल रहे हैं। इस नए विकास को अभी स्थैर्य प्राप्त नहीं हुआ, अतः 'ध' की आकृति के विकास की पूर्णता निश्चित करते हुए उसे उपेक्षित करना होगा।

उक्त विवेचन के आधार पर सन् १२०० के उदयवर्मन् के लेख के 'ध' में नागरी 'ध' का आकृति-विकास पूर्ण माना जा सकता है।

न

इसका आकृतिविकास नागरी के उद्भव-काल तक पूर्ण हो चुका था।

प

इसका आकृतिविकास नागरी के उद्भव-काल तक पूर्ण हो चुका था।

फ

'फ' की **वारंवारता** बहुत कम है[३७] इसलिए 'फ' के लिखित संकेत समय के लम्बे अन्तरालों के साथ ही उपलब्ध हैं। उन्हीं से इस संकेत के आकृति विकास की

१ २ ३ ४ ५ ६ ७

चित्र १२:१५

कड़ियाँ जोड़ना आवश्यक हो गया है। यहाँ चित्र १२:१५ में 'फ' की विविध कालों की सात आकृतियाँ[३८] दिखाई गयी हैं।

संकेत १ अशोककालीन सरल ब्राह्मी का है। उसमें शिरोरेखा नहीं है, दक्षिणांग की रेखा नीचे से ऊपर को उठती है, चक्की की तरह घूमती है, नीचे की ओर झुकती है किन्तु तल को छूती नहीं है।

संकेत २ (सन् ५३२) में वह लौटकर तल को छूती है और उसके वाम शीर्ष पर शिरोरेखा की पूर्वज छोटी-सी रेखा है। दक्षिणांग की रेखा का लौटकर तल-रेखा को मध्य में छू लेने का विशेष महत्त्व है। मंदसोर-लेख के विवेचन में (दे० चित्र ८:८ तथा संलग्न विवेचन) इस विषय पर विस्तार से लिखा जा चुका है।

संकेत ३ (सन् ४७७, पाली-लेख) वास्तव में उक्त मन्दसोर-लेख के 'फ' (संकेत २) से पूर्व का है, किन्तु वह विकास मन्दसोर-लेख के 'फ' में उपलब्ध आकृति विकास के पश्चात् ही सम्भव है। संकेत १, २ और ३ से जो तथ्य उपलब्ध हैं, उन्हें तर्क-सम्मत रूप में जोड़ने का प्रयत्न करने पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मन्दसोर-लेख के 'फ' का प्रचलन पाली-लेख के 'फ' से पहले हो गया था। मन्दसोर-लेख का फ (संकेत २) पुराने प्रचलन का अवशिष्ट प्रमाण है।

सन् १००९-१० का कौंठम-लेख का 'फ' (संकेत ४) भिन्न धारा का संकेत है। संकेत ३ का विकास संकेत ५ (सन् १११४) में दिखाई देता है। इसमें 'प' भाग पर शिरोरेखा है किन्तु पूँछ की तरह जोड़े गए दक्षिणांग पर शिरोरेखा नहीं है।

सन् ११७५ का 'फ' (संकेत ६) यह प्रमाणित करता है कि धीरे-धीरे 'फ'

की पूंछ की वक्रता समाप्त हो रही है। वह 'क' की पूंछ के समान होती जा रही है। (द्रष्टव्य है कि 'क' की पूंछ सन् १००६-१० के कौंठम-लेख में ही सीधी हो चुकी थी)।

सन् १४५६ के महाभाष्यप्रदीप (पांडुलिपि) के 'फ' (संकेत ७) में पूंछ भी आधुनिक 'क' की पूंछ के समान सीधी लटकी है और 'पूंछ' वाले दक्षिणांग के ऊपर भी शिरोरेखा लगा दी गई है। इस प्रकार सन् १४५६ में 'फ' का आकृति विकास पूर्ण हो गया है।

ब

उद्भव-कालीन नागरी में 'व' को 'व' का एक भेद माना गया है। कहीं-कहीं 'व' से भेद दिखाने के लिए 'ब' के संकेत में कुछ विशिष्टता लाने का प्रयत्न किया गया है।
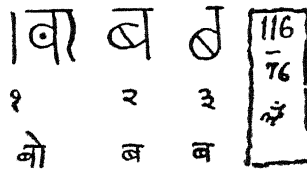
चित्र १२:१६

चित्र १२:१६ में दिखाए गए संकेत[३६] 'व' के 'व' से भिन्न अस्तित्व का इतिहासप्रस्तुत करते हैं।

भीमदेव (१) के सन् १०२६ के लेख में 'व' के वृत्त के मध्य बिन्दु लगाकर उसे 'ब' (संकेत १ का 'बो') बनाया गया है।

ग्यारहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक के अनेक लेखक 'व' को ही 'ब' के संकेत के रूप में भी प्रयुक्त करते हैं। सौभाग्य से सन् १५५० की 'क्षेत्र (खेत्र) समास-प्रकरण' नामक पांडुलिपि के लिपिक ने 'ब' को मध्य में आड़ी रेखा लगाकर लिख दिया है (संकेत २ तथा ३), जिसके कारण यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि आधुनिक 'ब' कम से कम सन् १५५० तक अवश्य लिखा जाने लगा था।

भ

चित्र १२:१७ के संकेतों में से प्रथम सन् १११४ के जाजल्लदेव के लेख का
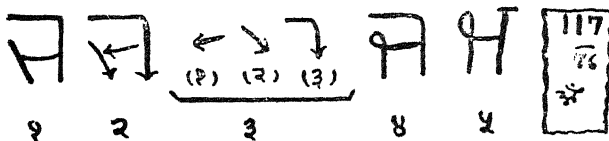
चित्र १२:१७

है । उसे नागरी का 'भ' नहीं कहा जा सकता । उससे दो ओर विकास हुआ है, एक चित्र १२:१७ के अनुसार और दूसरा चित्र १२:१८ के अनुसार । इन दो भिन्न शैलियों के विकास का कारण **'लेखन-दिशा'** थी । दोनों दिशाओं का प्रभाव एवं परिणाम नीचे क्रमशः विवेचित किया जा रहा है ।

(१) जैन 'भ' का विकास

सन् १११४ के 'भ' को लिखने की एक विधि चित्र १२:१७ के संकेत २ तथा संकेत ३ की रेखाओं से स्पष्ट की गई है । इस विधि से शीघ्रता से मिलने के परिणाम स्वरूप संकेत ४ (कल्पित) या संकेत ५ (जैन शैली का 'भ') विकसित हो सकता है। जैन शैली का वर्तमान नागरी – 'भ' (संकेत ५) इसी विधि के परिणाम-स्वरूप विकसित हुआ प्रतीत होता है ।

(२) सामान्य नागरी 'भ' का विकास

दूसरी ओर सन् १११४ के 'भ' को लिखने की विधि ऐसी भी हो सकती है जैसी चित्र १२:१८ के संकेत २ में दिखाई गयी है । चित्र १२:१७ के संकेत ३ की तीनों रेखाएँ और चित्र १२:१८ के संकेत २ की तीनों रेखाएँ एक ही आकार और
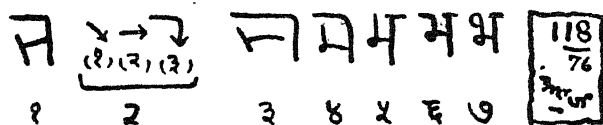
चित्र १२:१८

एक ही स्थान को सूचित करते हुए भी लिखने के क्रम और लिखने की दिशा के कारण भिन्न प्रभाव उत्पन्न करती हैं । चित्र १२:१७ के संकेत ३ से स्पष्ट है कि उस शैली में 'भ' की **क्षैतिज मध्य रेखा** से लेखन प्रारम्भ होता है । **प्रारम्भ-बिन्दु** पाई का लगभग मध्य का स्थान है । इसके विपरीत चित्र १२:१८ के संकेत २ की रेखाओं के अनुसार लेखन वामांग की लगभग खड़ी रेखा के ऊपरी छोर से प्रारम्भ होता है । इस दूसरी विधि के लेखन से सामान्य नागरी के वर्तमान 'भ' का आकृति विकास हुआ है । इस विधि के लेखन से चित्र १२:१८ के संकेत ३ और ४ का विकास स्वाभाविक है ।

सन् १५५० की 'क्षेत्र-समास-प्रकरण' की पांडुलिपि के 'भ' (संकेत ४) में शिरोरेखा पूर्ण है और बाईं खड़ी रेखा शिरोरेखा के नीचे थोड़ा स्थान छोड़कर प्रारंभ होती है।

सन् १६१६ के उद्योगपर्व (पांडुलिपि) के 'भ' (संकेत ५) की बाईं खड़ी रेखा शीर्ष तक उठी हुई है, किन्तु उसके और शिरोरेखा के मध्य थोड़ा स्थान रिक्त रखा गया है । आधुनिक नागरी में भी यही प्रवृत्ति है, अतः सन् १६१६ से 'भ' का आकृति-विकास पूर्ण माना जाना चाहिए ।

सन् १९०० के आस-पास मुद्रित 'भ' (संकेत ६) में बाईं पाई प्रारम्भ करने

से पूर्व छोटी-सी शिरोरेखा लगाई गई प्रतीत होती है। इस विभाजित शिरोरेखा के दो भागों के मध्य का अन्तराल इतना कम हो गया है कि कई बार उसमें 'म' का भ्रम हो जाता है। इस समस्या के समाधान के लिए 'भ' के वामांग के ऊपरी शीर्ष के बाएँ (बाहर को) एक वृत्त बढ़ा दिया गया है।

आज-कल चित्र १२:१८ के अन्तिम दोनों संकेत (६ और ७) साथ-साथ प्रचलित हैं अतः वृत्त की वृद्धि को 'भ' के आकृति विकास की पूर्णता का काल निश्चित करते समय उपेक्षित कर देना और सन् १९०० के आस-पास मुद्रित रूप में उपलब्ध 'भ' की आकृति को नागरी का मानक 'भ' मानते हुए उसका आकृति विकास सन् १६१६ में पूर्ण मानना तर्क-सम्मत है।

म

इसका आकृतिविकास नागरी के उद्भव-काल तक पूर्ण हो चुका है।

य

नागरी के उद्भव-काल तक 'य' का आकृति विकास पूर्ण हो चुका है।

र

उद्भवकालीन नागरी का 'र, एक योजक (-) के साथ शीर्ष-रेखा और पाई जोड़ने से बनता है। यहाँ चित्र १२:१९ के संकेत १ में उसकी आकृति दिखाई गई है। इसके इसी रूप को अन्य व्यंजनों के साथ संयोजित करके 'प्र, इत्यादि 'संयुक्त-व्यंजन, बनाए जाते हैं। अतः 'संयुक्त व्यंजनों' के अंश के रूप में 'र' की सन् १००० के आसपास की आकृति (संकेत १) आज भी नागरी में प्रचलित है।
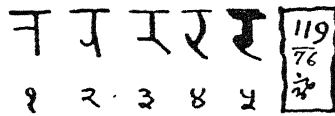
चित्र १२:१९

'र' के स्वतन्त्र नए संकेत का विकास चित्र १२:१९ के अन्य संकेतों से स्पष्ट हो जाता है।

सन् १११४ के जाजल्लदेव के लेख का र (संकेत २) 'ग' (संक्षिप्त 'ग')-जैसे ऊपरी भाग और बाद में जोड़े गए चरण-संकेत में भी विभक्त हो सकता है। यह विभाजन ही सन् १२०० के उदयवर्मन् और भीमदेव (द्वितीय) के लेखों में (क्रमशः संकेत ३ और ४) और स्पष्ट हो गया है। सन् १११४ के 'र' (संकेत २) को उक्त दो भागों में ही लिखना अनिवार्य नहीं दीखता किन्तु सन् १२०० के 'र' (संकेत ३, ४) में शिरोरेखा के अतिरिक्त दो रेखाएँ अनिवार्यतः पृथक्-पृथक् कलम चलाकर लिखी गई हैं और उनका क्रम पाई-जैसी रेखा और चरण-संकेत-जैसी रेखा का ही है।

सन् १४५९ का महाभाष्यप्रदीप (पांडुलिपि) का 'र' (संकेत ५) उक्त दोनों

रेखाओ के सन्धि-स्थल पर भरा हुआ मोटा स्थान प्रस्तुत करता है। यही रूप अब भी प्रचलित है।

कहीं-कहीं मुद्रण में वह सन्धि-स्थल संकेत ४ की भाँति मध्य से झुका हुआ भी रहता है। कहीं ऊपरी खड़ी रेखा दाहिने को उभार लिए कुछ गोल भी दिखाई देती है। वास्तविकता यह है कि सन् १२०० के भीमदेव (२) के लेख का 'र' (संकेत ४) अंगों के अनुपात के अतिरिक्त सर्वथा आधुनिक है और उसी के समकालीन उदयवर्मन् के लेख के 'र' (संकेत ३) के अंगों का अनुपात आधुनिक 'र'-जैसा ही है। अतः यह संभव है कि भीमदेव-द्वितीय के लेख के लिपिक ने 'र' के अंगों के अनुपात में निजी रुचि ही अधिक प्रदर्शित की हो।

इन तथ्यों के अनुसार 'र' के आधुनिक रूप का विकास सन् १२०० में पूर्ण माना जा सकता है।

ल

उद्भवकालीन नागरी में इसका आकृति विकास पूर्ण हो चुका है।

व

उद्भव-काल तक इस संकेत का आकृति विकास पूर्ण हो चुका है।

श

इसके विकास को स्पष्ट करने वाले कुछ संकेत यहाँ चित्र १२:२० में संकलित हैं।[४०]
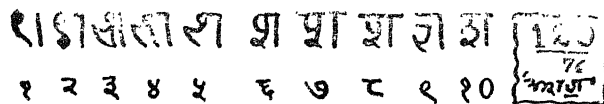
चित्र १२:२०

गौ० ही० ओझा के अनुसार सन् ६६१ के कुंडेश्वर-लेख के दो संकेत (यहाँ चित्र के संकेत १ और २) आधुनिक नागरी 'श' के पूर्व-संकेत हैं। ओझा जी ने संकेत १ को मूल-संकेत के रूप में प्रस्तुत किया है[४१] और संकेत २ को अपनी कल्पना से शिरोरेखा-सहित बनाकर नागरी के 'श' का विकास दिखाने का प्रयत्न किया है।[४२] सन् ६६१ के 'श' (संकेत २) की ओझा की कल्पना को भी उचित मान लिया जाए तब भी सन् १४५९ में महाभाष्यप्रदीप (पां०) में उपलब्ध 'श' (संकेत ६) के संकेत २ से सीधे विकास की कड़ियाँ जुड़ नहीं पातीं। मध्य की आठ शताब्दियों के उपलब्ध संकेत ओझा जी की मान्यता को सत्य सिद्ध नहीं करते।

डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा ने 'श' की उत्पत्ति को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—

'छठी शताब्दी में सिर पर घुंडी लिए एक खड़ी रेखा तथा उसके समानांतर किन्तु घुंडी से सटी हुई एक दूसरी रेखा द्वारा 'श' का आकार बनाया गया है।[४३] यही

घुंडी आधुनिक 'श' के सिर पर की घुंडी है। उसके नीचे की **ग्रंथि** का विकास बहुत धीरे-धीरे **चौदहवीं शताब्दी तक** हुआ। ऐसे १०वीं शताब्दी में ही आधुनिक 'श' बन चुका था।'[४४]

मोटे रूप से डॉ० वर्मा का मत ओझा जी के मत का पुनर्कथन है। उसमें विशिष्टता यह है कि छठी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक 'श' के आकृति विकास को स्वीकार किया गया है। क्योंकि उसके प्रमाण नहीं दिए गए, अतः उसे प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। दूसरी ओर स्वयं डॉ० वर्मा ही दसवीं शताब्दी में आधुनिक 'श' के बन चुके होने की बात कहकर अपने पूर्व कथन को उलट देते हैं। अतः वदतो-व्याघात की इस स्थिति में उनका 'निर्णय' अनिर्णीत ही रह जाता है।

सन् १००० के आस-पास नागरी के उद्भव-काल में उपलब्ध 'श' के रूप चित्र १२:२० के संकेत ३ तथा ४ में द्रष्टव्य हैं। संकेत १, २ की अपेक्षा संकेत ३, ४ में निम्नलिखित विशेष विकास हुए हैं—

(१) वामांग का ऊपरी वृत्त प्रथम दो संकेतों में चक्की की तरह (ऐण्टिक्लाक-वाईज़) लिखा जाता था, किन्तु संकेत—३, ४ में वह घड़ी की सूइयों की तरह (क्लाकवाईज़) लिखा जाने लगा। परिणामतः वामांग का ऊपरी आधा भाग नागरी के सात (७) या 'उ' की मात्रा से मिलता-जुलता बन गया।

(२) वामांग के निचले भाग में दो खड़ी रेखाएँ हैं जो पृथक् भी हो सकती हैं और जुड़कर त्रिकोण को पूरा करने का कार्य भी कर सकती हैं।

सन् ११७५ का, जयच्चंद्र के लेख का 'श' (संकेत ५) निम्नलिखित नए विकासों का द्योतक है—

(१) वामांग के ऊपरी अंश का वृत्त आधा दाहिनी चाप से और आधा बाईं चाप से भी लिखा जा सकता है। संकेत ६ (सन् १४५९) में वह स्पष्टतः दो चापों से लिखा गया है।

(२) वामांग के निचले भाग की दो रेखाओं में से बाईं रेखा स्वतन्त्र हो गई है। अब वह 'बन्द' ('शोशे') की तरह जुड़ी है। यह विकास संकेत ६ की गाँठ का कारण बना है।

(३) वामांग के निचले भाग की दो रेखाओं में से दाहिनी रेखा लुप्त हो गई है।

सन् १४५९ के महाभाष्यप्रदीप के 'श' (संकेत ६) में आधुनिक नागरी के 'श' के सभी गुण हैं। अतः इसे आधुनिक नागरी के 'श' का आकृति की दृष्टि से पूर्ण-विकसित रूप कहा जा सकता है।

संकेत ७, ८ सन् १९०० के लगभग मुद्रित 'श' हैं। संकेत ७ की बाईं ऊपरी चाप 'प' के समान प्रारम्भ होती है। आज भी कोई-कोई लिपिक ऐसा लिखता है।

इसी बीच सन् १२०० के उदयवर्मन् के लेख के 'श' (संकेत ९) से प्रभावित 'रा' से मिलता-जुलता 'श' (संकेत १०) भी प्रचलित हुआ।

मानक रूप में अब संकेत ८ का ही अधिक प्रचलन है।

निष्कर्षतः 'श' के विकास में चित्र १२:२० के संकेत— १, २, ३, ४, ५, ६ और ८ का क्रम ही इतिहास के तथ्यों द्वारा प्रमाणित और तर्क-सम्मत है तथा आधुनिक नागरी 'श' के अंगों और गुणों को देखते हुए उसका आकृति विकास सन् १४५९ में पूर्ण हो चुका था।

ष

उद्भवकालीन नागरी में 'ष' का संकेत पूर्णतया विकसित हो चुका था, अतः कोई लैपि-विज्ञानिक समस्या नहीं थी; किन्तु एक भाषा-विज्ञानिक समस्या ने इस संकेत के प्रयोग के इतिहास को प्रभावित अवश्य किया। लगभग नागरी का उद्भव-काल आधुनिक भारतीय भाषाओं के उद्भव का भी काल है। स्थानीय बोलियों का साहित्य उस समय प्रचुर मात्रा में लिखा गया है। उनमें 'ष' के लिपि-संकेत को 'ख'-ध्वनि के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा; किन्तु संस्कृत के अभिलेखों में 'ख' और 'ष' की पृथक् सत्ता बनी रही है। खड़ी बोली ने ख, ष के अन्तर को पुनः स्थापित कर दिया।

स, ह

उद्भवकालीन नागरी में इन दोनों संकेतों का आकृति-विकास पूर्ण हो चुका था।

१२:३ **: आकृतिविकास की पूर्णता :** जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि लिपि का स्वरूप कभी स्थिर नहीं रहता, नागरी के संकेतों की आकृतियाँ आज भी स्थिर नहीं हैं, फिर भी आज नागरी के वर्ण-विशेष की आकृति को जिन विशेष अंगों के कारण मानक रूप मे माना जाता है, उन अगों के विकसित हो जाने को उस वर्ण के आकृति विकास की पूर्णता मानते हुए नागरी के ध्वन्यात्मक संकेतों के पूर्ण आकृति विकास की तिथियाँ ऊपर विवेचन द्वारा निश्चित की गई हैं। उनकी पूर्ण तालिका निम्नलिखित है—

अ, आ : (१) पूर्वी-शैली, सन् १००९-१०, कौंठम लेख
(२) पश्चिमी शैली, सन् १०२९, भीमदेव (प्रथम)-लेख
इ, ई : सन् १६१६, उद्योगपर्व (पां०)
उ, ऊ : सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ऋ, ॠ : सन् १९०० (लग०); मुद्रण के कारण
ए, ऐ : सन् १६१६, उद्योगपर्व (पां०)
ओ, औ : सन् १७७२, रत्नावली चरित (पां०)
अनुनासिकत्व : सन् १९०० (लग०), मुद्रण के कारण
अनुस्वार : ईसापूर्व पहली शताब्दी, शोडास-मथुरा-लेख

विसर्ग	: २री श० ई०; नासिक-लेख
हलंत-संकेत	: सन् ५८८-८९, बोधगया-लेख
क	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ख	: सन् १२००, भीमदेव-२ का लेख
ग	: सन् १५५०, क्षेत्र समास प्रकरण (पां०)
घ	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ङ	: सन् ११४२, वैद्यदेव-अभिलेख
च	: सन् १६३०, नैषधचरित (पां०)
छ	: सन् १६३३, अशौचनिर्णय (पां०)
ज	: सन् १६३०, नैषधचरित (पां०)
झ	: सम्भवतः सन् १९००, के आस-पास, मुद्रित
ञ	: सन् १११४, उज्जैन लेख का विकास जाजल्देव के लेख में
ट	: सन् ९७४, वाक्पति-लेख
ठ	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ड	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ढ	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ण	: (१) उत्तरी शैली, सन् १००९-१०, कौंठम-लेख (२) दक्षिण शैली, सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां०)
त	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
थ	: सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां०)
द	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
ध	: सन् १२००, उदयवर्मन्-लेख
न	: सन् १११४, जाजल्लदेव-लेख
प	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
फ	: सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां०)
ब	: सन् १५५०, क्षेत्र समास प्रकरण (पां०)
भ	: सन् १६१६, उद्योगपर्व (पां०)
म	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
य	: सन् १०२९, भीमदेव (१)-लेख
र	: सन् १२००, उदयवर्मन्-लेख; भीमदेव (२) लेख
ल	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
व	: सन् १०२९, भीमदेव (१) लेख
श	: सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां०)
ष	: सन् १००९, कौंठम-लेख
स	: सन् १०२९, भीमदेव (१) लेख

ह	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख

मात्राएँ

आ	: सन् ७५४, सामनगढ़-लेख
इ	: सन् ५३२, मंदसोर-लेख
ई	: सन् १००९-१०, कौंठम-लेख
उ	: सन् ५३२, मंदसोर-लेख
ऊ	: सन् १०२९, भीमदेव (१) लेख
ऋ	: सन् ६६१, कुंडेश्वर-लेख
ए	: सन् ११७५, जयच्चंद्र-लेख
ऐ	: सन् १६३०, नैषधचरित (पां०)
ओ	: सन् ७५४, सामनगढ़-लेख
औ	: सन् १६१६, उद्योगपर्व (पां०)

१२:४ : **तालिका-संशोधन** : बूलर, ओझा इत्यादि शोध-कर्त्ताओं ने जो तालिकाएँ परिश्रमपूर्वक तैयार की थीं, इस प्रबन्ध के लेखक को उनके आधार पर आगे शोधकार्य करने में सहायता मिली। पूर्व शोधकर्त्ताओं से कहीं-कहीं असहमत होने का कारण यह नहीं है कि उनके प्रति इस लेखक को श्रद्धा नहीं है या उनके कार्य का महत्त्व नहीं है। उस पूर्व-कृत कार्य की उपलब्धि मेरे लिए वरदान सिद्ध हुई है।

इस प्रबन्ध में उन पूर्व प्राप्त तालिकाओं को नए तथ्यों के उपलब्ध होने से तथा विवेचन की विशिष्ट पद्धति अपनाने से संशोधित करने का अवसर प्राप्त हुआ है और जिन विषयों पर ज्ञान यत्र-तत्र बिखरे रूप में विद्यमान था या उक्त विद्वानों के शोध-कार्य के पश्चात् प्राप्त हुआ था, उन्हें तालिका-बद्ध रूप में संकलित करने का प्रयत्न किया गया है। परिणामतः इस प्रबन्ध में कई संशोधित अथवा नवीन तालिकाएँ प्रस्तुत की गई हैं, ताकि भावी शोधकर्त्ताओं को इन तालिकाओं से सहायता मिले और इस कार्य को आगे बढ़ाया जा सके।

लिपि-विज्ञान के क्षेत्र में अभी बहुत कम संकलन एवं शोधकार्य हुआ है। हिन्दी में तो और भी अल्प मात्रा में सामग्री उपलब्ध है। अंग्रेज़ी इत्यादि हिंदीतर भाषाओं में उपलब्ध सामग्री का हिन्दी में प्रकाशन करने की आवश्यकता तो है ही, अभी न जाने कितनी पांडुलिपियाँ प्रकाश में आने की प्रतीक्षा कर रही हैं। इस बृहत्कार्य में इस प्रबन्ध में दी गई तालिकाएँ थोड़ा भी योगदान कर सकें, तो लेखक का परिश्रम सफल होगा।

स्पष्ट है कि इस प्रबन्ध की तालिकाएँ भी 'अन्तिम-निर्णय' प्रस्तुत नहीं करतीं। वे अब तक ज्ञात तथ्यों के अनुसार तो अन्तिम निर्णय प्रस्तुत कर रही हैं, किन्तु भविष्य की जानकारी के आधार पर उनमें भी संशोधन सम्भव है।

१२:५ : **शेष विकास** : अब तक के विवेचन में नागरी का वह सैद्धांतिक एवं

आकृतिगत विकास विवेचित हुआ है, जो लिपि की सहज प्रकृति के अनुसार समाज के जागरूक सामूहिक प्रयत्न के बिना ही होता आया है। सन् १८०० के पश्चात् भारत में मुद्रण-यन्त्रों का उपयोग होने लगा। परिणामतः नागरी को यन्त्र के अनुकूल ढालने का प्रयास हुआ। इसके पश्चात् टाइपराइटर इत्यादि यन्त्रों की आवश्यकता को देखते हुए भारतीय समाज ने जागरूकतापूर्वक लिपि में संशोधन करने के प्रयत्न किए। इनके कारण भी नागरी में कुछ परिवर्तन हुआ।

अगले अध्याय में इन परिवर्तनों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

---

१. लि० स० इं०; जि० १; पृ० ५
२. इस प्रबन्ध का चित्र १०:१६
३. वही; चित्र १०:१७
४. वही; चित्र १०:८
५. चित्र १२:१ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१ : 'इ', संकेत—२ : 'ई'—दोनों—ए० इं०; जि० १, पृ० १४ के निकट के प्लेट से
संकेत—३ : 'इ', संकेत—४ : 'ई', संकेत—५ : 'ड'—तीनों—भा०, पु० शा०, फ० ५, स्तं० २१
संकेत—६ : 'इ', संकेत—७ : 'ई'—दोनों—क्षेत्र-समास-प्रकरण (पां०); हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकालय में रखी इस पांडुलिपि की संदर्भ-संख्या '१९०५-३८०३' है। इसमें संकेत—६ का 'इ' ठीक वैसे ही लिखा है जैसे महाभाष्यप्रदीप (पां०) में है।
संकेत—८ : 'इ', उद्योगपर्व (पां०); गंगानाथ झा संस्कृत इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद में रखी इस पांडुलिपि की संदर्भ-संख्या '४०५-१६९' है।
संकेत—९ : 'इ', संकेत—१० : 'ई'; बहुगुणा-पांडुलिपि; यह पांडुलिपि मेरे सुहृद् मित्र श्री अबोधबंधु बहुगुणा के पास है। उसमें 'उखेल', 'बंथणो' तथा 'आपरच्छा' नामक तीन निबंध संकलित हैं। श्री बहुगुणा ने कृपा कर मुझे उसका अध्ययन करने तथा चित्र लेने की अनुमति दी।
६. चित्र १०:१६
७. चित्र १०:६
८. चित्र १०:१६
९. चित्र १२:२ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—

पंक्ति १

प्रथम चार संकेत (अ, आ, ऋ, ॠ) होर्युजी पांडुलिपि के हैं। इं० पे० (बू०); प्लेट ६ से संकलित। इसी पंक्ति के संकेत ५ से ८ तक होर्युजी-पांडुलिपि के संकेतों की मानक आकृतियाँ (इस प्रबंध के अनुच्छेद ८:३:४:२ के अनुसार) हैं।

पंक्ति २

प्रथम चार संकेत भा० प्रा० लि० के लि० प० २५ में दिखाए गए उज्जैन लेख के संकेतों की अनुकृतियाँ हैं और संकेत ५ से ८ तक प्रथम चारों की मानक आकृतियाँ हैं।

पंक्ति ३

इस पंक्ति में 'ऋ' और 'ॠ' के चार जोड़े हैं। पहला जोड़ा (संकेत १, २) भा० प्रा० लि०; लि० प० २६ से ११वीं श० की हस्तलिखित पुस्तकों के संकेतों की अनुकृतियाँ प्रस्तुत करता

है, दूसरा भा० प्रा० लि०; लि० प० ३४ से १२वीं श० की हस्तलिखित पुस्तकों के संकेतों की अनुकृतियाँ प्रस्तुत करता है। तीसरा (संकेत ५, ६) और चौथा (संकेत ७, ८) जोड़ा १९वीं शताब्दी की पुस्तकों में मुद्रित संकेताकृतियाँ प्रस्तुत करता है।

पंक्ति ४

इस पंक्ति में दोनों प्रकार के प्रचलित 'ऋ' के अंगों को अलग-अलग करके उनके आकृतिगत अंतर को स्पष्ट किया गया है।

१०. यही प्रबन्ध; अनुच्छेद ५:३:३

११. चित्र १२:३ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१ : 'ए'; सन् १००९-१०, कौंठम-लेख; चित्र १०:१६
संकेत—२ : 'ऐ' : सन् १०२९; भीमदेव (१) लेख; चित्र १०:१७
संकेत—३ : 'ए' : सन् १४५९; महाभाष्य प्रदीप (पां०)
संकेत—४ : 'ए' तथा संकेत—५ : 'शे'; उद्योगपर्व (पां०)

१२ देखिए : चित्र १०:१६ में सन् १००९-१० के कौंठम-लेख का 'औ'

१३ 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (३-५-१९५९) में प्रकाशित 'सोरों सामग्री' में चित्र देखे जा सकते हैं।

१४. ए० इं०; जि० ८; प्लेट ४; लेख-संख्या १०; 'ज्ञः'

१५. चित्र १२:४ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१ : सन् १२००, भीमदेव (२) लेख
संकेत—२ : सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां)
संकेत—३ : सन् १९०० के आसपास, मुद्रित पुस्तकें
संकेत—४ : वर्तमान संशोधित रूप

१६ गंगानाथ झा संस्कृत इंस्टीट्यूट, इलाहाबाद में सुरक्षित पांडुलिपि संख्या—व्या० ५३४-८४५

१७. चित्र १२:५ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१ : 'गु', सन् ११७५, जयच्चंद्र-लेख
संकेत—२ : 'ग', सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां०)
संकेत—३ : 'ग', सन् १५५०, क्षेत्रसमासप्रकरण (पां०)
संकेत—४ : 'ग', सन् १६१६, उद्योगपर्व (पां०)
संकेत—५ : 'ग', सन् १६३३, अशौचनिर्णय (पां०)
संकेत—६ : 'ग', सन् १७९२, बहुगुणा-पांडुलिपि

१८. चित्र १२:६ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत-१ : सन् १००९-१०; कौंठम-लेख
संकेत-२ : सन् ११७५; जयच्चंद्र-लेख; इं० पे० (बू०); प्लेट ५
संकेत-३ : सन् १५५०; क्षेत्र-समास-प्रकरण (पां०)
संकेत-४ : सन् १९०० के आसपास मुद्रित पुस्तकें

१९. ए० आ० (आर्यन सीरीज), जि० १, भाग ३, प्लेट १-४

२०. भा० प्रा० लि०; पृ० ६५

२१. चित्र १२:७ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत-१ : ङ, छठी शताब्दी ई०; इं० पे० (बू०); प्लेट ६
संकेत-२ : ङ, ११वीं श०; उज्जैन-लेख; भा० प्रा० लि०; लि० प० २५
संकेत-३ : ङि, सन् ११४२; वैद्य-लेख; इं० पे० (बू०); प्लेट ५

२२. दे० लि० (व०); पृ० २४८

२३ चित्र १२:८ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
  सकेत-१ : (चे); कौंठम लेख, भा० पु० शा०, फलक ५
  सकेत-२ : च; महाभाष्यप्रदीप (पां०)
  संकेत-३ : च; नैषधचरित (पां०)
  संकेत-४ : च; अशौच-निर्णय (पां०)
  संकेत-५ : च; बहुगुणा-पांडुलिपि
  संकेत-६ : च; मुद्रित पुस्तकें

२४. चित्र १२:९ के संकेत निम्नलिखित स्रोतों से संकलित किए गए हैं—
  संकेत-१ : ३५०० ईसापूर्व; द्रष्टव्य है इसी प्रबंध का चित्र ३:२१ तथा साथ का स्पष्टीकरण
  संकेत-२ : सन् १२००; उदयवर्मन-लेख; भा० पु० शा०; फल० ५
  संकेत-३ : सन् १२००; भीमदेव (२) लेख; भा० पु० शा०; फल० ५
  संकेत-४ : सन् १६१६; उद्योगपर्व (पां०)
  संकेत-५ : सन् १६३३; अशौचनिर्णय (पां०)
  संकेत-६ : सन् १७९२; बहुगुणा-पांडुलिपि
  संकेत-७ : लगभग सन् १९०० की मुद्रित पुस्तकें
  संकेत-८, ९, १० : इस समय विविध स्थानों पर प्रचलित

२५. चित्र १२:१० के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
  संकेत-१ : सन् १०२९; भीमदेव (१) लेख
  संकेत-२ : सन् १४५९; महाभाष्य प्रदीप (पां०); तथा सन् १६३३; अशौचनिर्णय (पां०)
  संकेत-३ : सन् १६३०; नैषधचरित (पां०)
  संकेत-४ : सन् १९०० (लगभग); मुद्रित पुस्तकें

२६. चित्र १२:११ के संकेतों के स्रोत इस प्रकार हैं—
  संकेत-१ : छठी श०; होर्युजी-पां०; इं० पे० (बू०); प्ले० ६
  संकेत-२ : ११वीं श०; भा० प्रा० लि०; लि० प० २६
  संकेत-३ : सन् १२००; भीमदेव (२) लेख; इं० पे० (बू०); प्ले० ५
  संकेत-४ : ओझा द्वारा अनुमानित; भा० प्रा० लि०; लि० प० ८२
  संकेत-५, ६, ७ : इस समय प्रचलित तीन प्रकार के नागरी —'अ', संकेत—५ जैन नागरी का है, अन्य लोगों में प्रचलित नहीं है; संकेत-६ पूर्वी-शैली का है, किंतु सारे नागरी क्षेत्र में समझा जाता है, केंद्रीय सरकार ने इसे स्वीकृति दे रखी है; संकेत-७ पश्चिमी शैली का है, किंतु समस्त नागरी क्षेत्र में समझा जाता है।

२७. चित्र १२:१२ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
  संकेत-१ : ईसापूर्व ३री श०; भा० प्रा० लि०; लि० प० १
  संकेत-२ : ३री श० ई०; रुद्रदामा का लेख; भा० प्रा० लि०; लि० प० ८
  संकेत-३; ४ : ४थी श०; भा० प्रा० लि० : लि० प० १६
  संकेत-५ : ६ठी श०; होर्युजी पां०
  संकेत-६; ७; ८ : सन् ६८९; भा० प्रा० लि०; लि० प० २१
  संकेत-९; १० : ११वीं श०; भा० प्रा० लि०; लि० प० २५
  संकेत-११ : सन् १११४; भा० प्रा० लि०; लि० प० २६
  संकेत-१२ : कल्पित

२८. दे० लि० (व०); पृ० २५०

२९. भा० प्रा० लि०; लि० प० २१

३०. दे० लि० (व०); पृ० २५० का पाद-टिप्पणी-सूचकांक ६९ तथा पृ० २६३ पर दी गई पाद-टिप्पणी
३१. भा० प्रा० लि०; पृ० १३५
३२. वही; पृ० ७०
३३. गंगानाथ झा सं० इं०, इलाहबाद की पां० संख्या—व्या० ५३४.८०४५
३४. हिं० सा० स०, प्रयाग की पां० संख्या—१९३२।४०२४
३५. चित्र १२:१३ के संकेतो के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१. सन् १००९-१०; कौंठम-लेख; इं० पे० (बू०); प्ले० ५, २. सन् १११४; जाजल्लदेव-लेख; वही; ३. सन् १२००; भीमदेव (२) लेख; वही; ४. सन् १२००; उदयवर्मन का लेख; वही; ५. सन् १४५९; महाभाष्यप्रदीप (पां०); ६. सन् १७७२; रत्नावलीचरित (पां०); ७. सन् १९०० के आस-पास; मुद्रित पुस्तकें; ८. वर्तमान लेखन का रूप; ९. वर्तमान मुद्रण का रूप।
३६. चित्र १२:१४ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१. सन् १००९-१०; कौंठम-लेख; इं० पे० (बू०); प्लेट ५; २. सन् ११७५; जयच्चंद्र-लेख; वही; ३. सन् १२००; उदयवर्मन-लेख; वही; ४. सन् १६१६; उद्योगपर्व (पां०); ५. सन् १६३३; अशौचनिर्णय (पां); ६. सन् १७७२; रत्नावलीचरित (पां०); ७. सन् १७९२ बहुगुणा-पां०; ८. लगभग सन् १९००; मुद्रित पुस्तकें; ९. आधुनिक 'ध'; अभी कम प्रचलित है। अधिकांश लोग अभी भी संकेत ८ का ही प्रयोग करते हैं।
३७. भाषा : सितम्बर, १९६८ (लिपि-विशेषांक); पृ० २२८-२९ पर दी गई तालिका में काका कालेलकर समिति द्वारा निर्धारित वारंवारता दिखाई गई है। उसके अनुसार 'क' की वारंवारता ७.४६ है और 'फ' की केवल .३६ है।
३८. चित्र १२:१५ के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१. ईसापूर्व तीसरी श०; भा० प्रा० लि०; लि० प० १; २. सन् ५३२; मंदसोर-लेख; ३. सन् ४७७; पाली-लेख; भा० प्रा० लि०; लि०प० १७; ४. सन् १००९-१०; कौंठम-लेख; ५. सन् १११४; जाजल्लदेव-लेख; ६. सन् ११७५; जयच्चन्द्र-लेख; ७. सन् १४५९; महाभाष्यप्रदीप (पां०)।
३९. चित्र १२:१६ का संकेत-१ ('बो') भीमदेव (१)-लेख से तथा संकेत-२ और ३ (दोनों 'ब' के विभिन्न रूप) क्षेत्र (खेत्र) समास-प्रकरण, हिं० सा० सम्मेलन, प्रयाग में सुरक्षित पां० संख्या-१९०५।३८०३ से संकलित।
४०. चित्र १२:२० के संकेतों के स्रोत निम्नलिखित हैं—
संकेत—१, २. सन् ६६१; कुंडेश्वर-लेख; भा० प्रा० लि०; लि०प० २०; ३ सन् १००९-१०; कौंठम-लेख; ४. सन् १०२९; भीमदेव (१)-लेख; ५. सन् १२७५; जयच्चंद्र-लेख; ६. सन् १४५९, महाभाष्यप्रदीप (पां०); ७, ८. लगभग सन् १९००; मुद्रित पुस्तकें; ९. सन् १२००; उदयवर्मन्-लेख; १०. कुछ हिन्दी-क्षेत्रों प्रचलित आधुनिक रूप।
४१. भा० प्रा० लि०; लि० प० २०
४२. वही; लि० प० ८२; व्याख्या—वही; पृ० १३५
४३. डा० साहब का तात्पर्य चित्र १२:२० के संकेत १ से भी हो सकता है और संकेत २ से भी। सम्भव है उनका तात्पर्य कुछ ऐसा हो कि वह संकेत चित्र १२:२० के संकेत १ के समान था किन्तु उसमें पाई 'घुंडी' के साथ ऐसे सटी हुई थी, जैसे चित्र १२:२० के संकेत २ में है।
४४. दे० लि० (व०); पृ० २५४

१३ नागरी का यन्त्र-लिपि के रूप में विकास

१३:१ : **यंत्र और लिपि :** आधुनिक युग यंत्रों का युग कहा जा सकता है। यों तो मनुष्य का जहाँ तक बस चला है, उसने आदिकाल से ही अपने कार्य को अन्य शक्तियों के द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। दैवी शक्तियों से लेकर 'रोबट' तक मनुष्य का अनुसंधान उसकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। इन साधनों में से यन्त्र सफल एवं बहुप्रचलित साधन सिद्ध हुए हैं। पिछली दो-तीन शताब्दियों में तो यंत्रों का विकास इतनी तीव्र गति से हुआ है कि मनुष्य ने एक-एक करके जीवन के अनेक क्षेत्रों का कार्य यंत्रों को सौंप दिया, लेखन का कार्य भी बहुत कुछ यंत्रों ने संभाल लिया और इस नई परिस्थिति के कारण लिपि और यंत्र में अनिवार्य सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

इस सम्बन्ध ने दोनों पक्षों को प्रभावित किया है—एक ओर लिपि-विशेष की आवश्यकता के अनुरूप यंत्र बने, यंत्रों में सुधार हुआ; तो दूसरी ओर यंत्र की क्षमता एवं आवश्यकता के अनुरूप लिपि में भी सुधार हुआ है।

नागरी लिपि का सन् १९०० ई० तक का विकास किसी यंत्र की अपेक्षा से नहीं किया गया था, किन्तु उसके पश्चात् छापाखाना, टंकणयंत्र (टाईपराइटर), दूर-मुद्रण (टैलिप्रिंटिंग), तार भेजने (टैलिग्राफी) इत्यादि की आवश्यकताओं को देखते हुए नागरी में अनेक सुधार करने के प्रयत्न किए गए। उनमें कुछ प्रयत्न तो असफल हुए, किन्तु कुछ का प्रभाव नागरी पर पड़ा है। इन्हीं का विवरण एवं विश्लेषण काल-क्रम से नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१३:२ : **यंत्रों द्वारा अंकन की विधियाँ :** यंत्रों द्वारा अंकन की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं। इनके मोटे रूप से दो वर्ग बनाए जा सकते हैं—

(१) चित्र-अंकन

(२) मुद्र-अंकन

१३:२:१ : **चित्र-अंकन** : चित्र-अंकन के अन्तर्गत ऐसी सब विधियाँ सम्मिलित हैं, जिनमें अक्षर की आकृति पहले से निश्चित होना आवश्यक नहीं है। कोई लिपिक अपनी इच्छानुसार किसी ज्ञात-अज्ञात संकेत को लिखता है और यंत्र ठीक वैसा ही पुनः अंकित कर देता है। 'लिथो' की छपाई में उर्दू को प्रायः इसी विधि से अंकित किया जाता है। चक्र-मुद्रण (साईक्लोस्टाइलिंग) में निकृन्त (स्टेन्सिल) पत्र पर इच्छानुसार लिखा जा सकता है और यंत्र उसे ज्यों-का-त्यों चक्र-मुद्रित (साईक्लोस्टाइल) कर देता है। इष्टिकाएँ (ब्लाक्स) बनवाकर छपवाना भी इसी प्रकार का अंकन है। अब दूर-दर्शन की विधि को माध्यम बनाकर हाथों से लिखे को किसी दूरस्थ स्थान पर यंत्र द्वारा हू-बहू अंकित किया जा सकता है।

चित्र-अंकन की सुविधा से विशेष परिस्थितियों में लाभ उठाया जा सकता था। यदि चित्र-अंकन प्रचुरता एवं सरलता से सुलभ हो सके तो लिपि की जटिलता दुर्वह नहीं रहती; किन्तु अभी चित्र-अंकन निकृंत-विधि के समान सस्ता होने पर बहुत अस्पष्ट और निम्नस्तरीय अंकन प्रस्तुत करता है या इष्टिका-विधि से उत्तम कोटि का अंकन प्रस्तुत करने में सक्षम होने पर बहुत महँगा पड़ता है। अब तक एक साथ सुलभ, सरल एवं सस्ता अंकन प्राप्त करने के लिए चित्र-अंकन का कोई प्रकार ग्राह्य नहीं हो सका।

१३:२:२ : **मुद्र-अंकन** : मुद्र-अंकन के अन्तर्गत ऐसी सब विधियाँ सम्मिलित हैं, जिनमें अक्षर की आकृति पहले से निश्चित होती है और 'मुद्र' (टाइप, जो प्रेस में 'कम्पोज़' और 'प्रिंट' करने के काम आते हैं) कहे जाने वाले इन धातु के टुकड़ों को जोड़कर छपाई या अन्य विधि से अंकन प्रस्तुत किया जाता है। अंग्रेजी, हिन्दी इत्यादि भाषाओं को रोमन लिपि के मुद्रों या नागरी लिपि के मुद्रों द्वारा छापकर जो अंकन प्रस्तुत किया जाता है, उसे **मुद्र-अंकन** का प्रमुख प्रतिनिधि कहा जा सकता है। '**मुद्र-लेखन**' (टाइपराइटिंग) या '**टंकन**' का आधार भी मुद्र हैं जो कुंजियों के शीर्ष पर जड़े होते हैं। दूर-मुद्रण, मोनोटाइप इत्यादि अनेक विधियाँ 'मुद्र' जोड़कर ही अंकन प्रस्तुत करती हैं।

मुद्र-अंकन सुविधा-जनक, सर्व-सुलभ एवं सस्ता है। आधुनिक युग में मुद्र-अंकन की सुविधाओं का इतना विकास एवं प्रचार हो चुका है कि जो लिपि मुद्रों द्वारा अंकन प्रस्तुत करने में अक्षम है, वह प्रयोग में बहुत कठिन प्रतीत होती है और उसके प्रयोग कर्त्ता या तो उसे 'झंझट' मानकर उससे दूर हटने का प्रयत्न करते हैं या लिपि अथवा यंत्रों में सुधार का प्रयत्न करते हैं। उर्दू-लिपि का उदाहरण लीजिए। उर्दू का प्रायः चित्र-अंकन द्वारा ही छापा जाता है। 'कातिब' (लिपिक) उर्दू की 'इबारत' (भाषा का अंश) को विशेष प्रकार के काग़ज़ पर विशेष स्याही से सुलेख ('खुशखत') में लिखता है। 'कातिब' को 'खुशनवीस' (सुलिपिक) होना ही चाहिए। कुछ रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा 'कातिब' द्वारा लिखी 'इबारत' धातुपट्ट पर हू-ब-हू चिपक

जाती है और उससे हू-ब-हू काग़ज़ पर छप जाती है। प्रथम काग़ज़ पर वह सीधी लिखी जाती है। धातुपट्ट पर छायाचित्र (फ़ोटो) के नेगेटिव की तरह उलटी आती है और छपे काग़ज़ पर पुनः 'पाज़िटिव' अथवा सीधी आती है। छापेखाने तक तो कार्य ठीक चल जाता है, किन्तु टाइप करने, टैलिप्रिंट करने, कम्प्यूटर से काम लेने इत्यादि के अन्य अवसरों पर वह लिपि अटक जाती है। परिणामतः 'मुद्र' निश्चित करने की आवश्यकता महसूस होती है। इसी आवश्यकता के अनुरूप उर्दू के मुद्र निश्चित किए गए। क्योंकि उर्दू की प्रकृति 'मुद्र' के अनुकूल नहीं थी, अतः वे 'मुद्र' उतने स्पष्ट नहीं हो सके जितनी 'लिथो' पर कातिब द्वारा लिखित उर्दू स्पष्ट थी। परिणामतः आज भी उर्दू चित्र-अंकन द्वारा छापी जाती है और मुद्र-अंकन बहुत आवश्यक होने पर ही कुछ काल के लिए अपना लिया जाता है। मजबूरी का वह काल समाप्त होने पर मुद्र-अंकित को पुनः **अनु-लेखन (ट्रान्स्क्रिप्शन)** द्वारा सामान्य उर्दू-लिपि में अंकित कर लिया जाता है।

नागरी में उर्दू-जैसी समस्या नहीं है। उर्दू उसी क्षेत्र में प्रचलित है, जहाँ नागरी प्रचलित है और उर्दू तथा नागरी दो भिन्न वर्गों की लिपियाँ हैं; इन्हीं कारणों से उर्दू का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। उर्दू और नागरी को तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो नागरी में मुद्र-अंकन की सुविधा प्राकृतिक रूप से अधिक है, फिर भी नागरी में कुछ अपने ढंग की समस्याएँ हैं। नागरी की इस स्थिति का विश्लेषण आगे किया गया है।

१३:३ : **नागरी सुधार के प्रयत्न** : नागरी को वैज्ञानिक तथा यंत्र योग्य बनाने के लिए समय-समय पर अनेक व्यक्तियों एवं संस्थाओं ने प्रयत्न किए हैं। उन्हें चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) प्रथम चरण : सीमित प्रयास
(२) द्वितीय चरण : यंत्र योग्यता पर विचार
(३) तृतीय चरण : समाधान की खोज
(४) चतुर्थ चरण : सम्परीक्षात्मक प्रयत्न

इनका विवरण नीचे क्रमानुसार दिया जा रहा है।

१३:४ : सुधार का प्रथम चरण : सीमित प्रयत्न : यों जब भी कोई लिपि का प्रयोग करता है, तब वह जाने-अनजाने उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करता रहता है। उन्नीसवीं शताब्दी तक हुए नागरी के विकास में प्रायः ऐसे परिवर्तनों का ही हाथ था। उपलब्ध प्रमाणों से ज्ञात होता है कि सन् १९१२ ई० से नागरी पर सजगता से चिन्तन होने लगा। इस चिन्तन की प्रारम्भिक दो दशाब्दियों में सुधार के सीमित प्रयत्न ही दिखाई दिए। इस अवधि के मुख्य सुझाव और उनके प्रभाव नीचे दिए जा रहे हैं।

१३:४:१ : **सुझाव** : क्रमिक विवरण निम्नलिखित है —

सन् १९१२

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन-३ (कलकत्ता) में पं० गौरीशंकर भट्ट

का निबंध 'देवनागरी लिपि को शीघ्रता से लिखने योग्य बनाने का उपाय' पढ़ा गया।

सुझाव

"अति-शीघ्रता से लिखने के लिए अक्षरों पर माथे की रेखा (बंधनी) लगाना आवश्यक नहीं। इस अवस्था में 'घ' और 'ध' तथा 'म' और 'भ' में कोई भेद नहीं रहता। अतः आवश्यक है कि ध और भ के आरम्भ में एक बहुत छोटी-सी रेखा जोड़ दी जाय।"[1]

(इस सुझाव के अनुसार कल्पित 'ध' और 'भ' यहाँ चित्र १३:१ के संकेत १, २ में दिखाया गया है।)
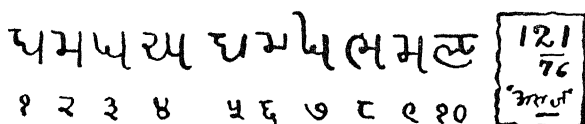
चित्र १३:१

सन् १९१३

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशन-४ (भागलपुर) में मिश्र बन्धुओं (पं० श्यामबिहारी मिश्र तथा पं० शुकदेवबिहारी मिश्र) का निबन्ध 'वर्ण-विचार' पढ़ा गया।

सुझाव[2]

(१) 'ऋ' को 'रि' लिखा जाए; जैसे, 'नृप' को 'न्रिप'।

(२) ङ्, ञ्, ण्, न्, म् के सवर्गीय व्यंजन के साथ आने पर इनके स्थान पर अनुस्वार लिखा जाए; जैसे, 'गङ्गा' को 'गंगा' इत्यादि। इस प्रकार 'ङ' और 'ञ' की आवश्यकता नहीं रहेगी।

(३) 'ष' हिन्दी के लिए अनावश्यक है। 'ऋषि' को 'रिशि' लिखा जा सकता है।

(४) 'ख' के बदले गुजराती का 'ख' लिखा जाए। (देखिए—चित्र १३:१ का संकेत ३, यह गुजराती का 'ख' है। तुलना के लिए गुजराती का 'अ' संकेत ४ के रूप में दिखाया गया है।)

(५) ध, भ को घ, म से भिन्न दिखाने के लिए उनकी अन्तिम रेखा आधी कर देनी चाहिए। (देखिए—चित्र १३:१ के संकेत ५, ६ और तुलना के लिए देखिए संकेत ७ में गुजराती ध, संकेत ८ में गुजराती 'भ' और संकेत ९ में गुजराती 'म')

(६) 'ण' के लिए गुरुमुखी का 'ण' ले लेना चाहिए। (देखिए—चित्र १३:१ का संकेत १०)

सन् १९२० से १९२३ ई०

पं० बदरीनाथ भट्ट का निबन्ध 'नागरी लिपि में सुधार की आवश्यकता'

१९२० में 'सरस्वती'[३] में और इसी शीर्षक का भट्ट जी का निबन्ध १९२१ में 'सम्मेलन पत्रिका'[४] में प्रकाशित हुआ और इन निबन्धों पर 'सम्मेलन पत्रिका' में ही **पं० लक्ष्मी नारायण शर्मा द्विवेदी** ने विचार किया।[५] इसी पत्रिका में सन् १९२३ में उक्त लेखों के क्रम में शिवप्रसाद सिंह का 'देवनागरी लिपि की त्रुटियाँ और उनका सुधार' शीर्षक निबन्ध छपा।[६]

सुझाव

पं० बदरीनाथ भट्ट के सुझाव निम्नलिखित थे—

(१) 'अ' से अि, अी, अु, अू, अे, अै बनाए जाएँ और इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ स्वरों के मूल संकेत छोड़ दिए जाएँ।

(२) 'ख' में र, व का भ्रम हो रहा है, इसकी आकृति बदली जाए।

(३) 'ष' के स्थान पर भी 'श' ही लिखा जाए।

(४) '**ण**' न लिखकर 'ण' ही लिखा जाए।

(५) ऋ, ॡ का प्रयोग केवल संस्कृत शब्दों में हो।

पं० लक्ष्मीनारायण शर्मा के विचार निम्नलिखित थे—

(१) अ, आ, इ, ई इत्यादि ही उचित हैं।

(२) 'ख' में भ्रम नहीं है। शिरोरेखा विभक्त हो जाने से उन्हें स्पष्ट पढ़ा जाता है।

(३) श, ष—दोनों बने रहने चाहिएँ।

(४) 'ण' का नया रूप मान्य है।

(५) ऋ, ॡ को हिन्दी से नहीं हटाना चाहिए।

इस प्रकार इन विद्वानों में केवल 'ण' के गोल रूप पर सहमति हुई।

१३:४:२ : **प्रभाव** : इस चरण के प्रयासों का सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ कि नागरी को परखने और सुधारने की भावना जाग गई। 'यथास्थिति' का मोह टूट गया। अभिनिवेश तोड़ने का कार्य भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

इस चरण में नागरी-सुधार की जिन महत्त्वपूर्ण दिशाओं पर विचार हुआ, वे निम्नलिखित हैं—

(१) स्वरों के मूल रूप रखे जाएँ या नहीं ?

(२) ऋ, ॡ (दोनों के ह्रस्व और दीर्घ), ङ, ञ और ष—इन्हें सुरक्षित रखा जाए या अनपेक्षित घोषित कर दिया जाए ?

(३) ख, ण, ध, भ—इन चार संकेतों की आकृतियों में सुधार किया जाए या नहीं ?

इन बीस-इक्कीस वर्षों में इन प्रश्नों पर वाद-विवाद तो हुआ, किन्तु उनका निर्णय नहीं लिया जा सका। उस प्रारम्भिक अवस्था में ठोस निर्णय घोषित करना और

मनवा लेना संभव भी नहीं था। उस काल में त्रुटियों की ओर संकेत कर पाना भी उपलब्धि कहा जा सकता है।

१३:५ : **द्वितीय चरण : यंत्र-योग्यता पर विचार** : सन् १९२२ में लाहौर में हुए हिं० सा० सम्मेलन के बारहवें अधिवेशन से नागरी को यंत्र-योग्य बनाने का चिन्तन प्रारम्भ हुआ। तब से नागरी-सुधार के लिए हुए प्रयत्नों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१३:५:१ : **सुझाव** : इस चरण में विविध विद्वानों ने जो सुधार सुझाए वे इस प्रकार हैं—

सन् १९२२ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन १२ : लाहौर; निष्कामेश्वर मिश्र का निबन्ध 'हिन्दी शार्टहैंड और टाइपराइटिंग की आवश्यकता' पढ़ा गया।[७]

सन् १९३१ ई०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन १९; गोरखपुर; नागरी के मुद्रण और मुद्र-लेखन पर विचार हुआ।[८]

सन् १९३३ ई०

मरजेनथेलर लाइनोटाइप कम्पनी, न्यूयार्क द्वारा प्रकाशित छोटी-सी पुस्तिका 'देवनागरी लाइनो टाइप' (अंग्रेजी); उसके प्रथम पृष्ठ पर मुद्रण-यंत्र की दृष्टि से देवनागरी की त्रुटि के सम्बन्ध में यह लिखा था—

"यद्यपि देवनागरी में उनचास वर्ण हैं तथापि व्यंजनों के स्वरों अथवा अन्य व्यंजनों के साथ संयोग द्वारा मुद्रण के लिए लगभग ७०० अलग-अलग वर्णों की आवश्यकता पड़ती है। एक ही पंक्ति में **संग्रथन** में कई स्थानों पर एक के ऊपर एक, दो या तीन टाइप रखे जाने से इसके टंकन की विधि भी अत्यन्त जटिल हो जाती है।"

१३:५:२ : **प्रभाव** : सन् १९२२ से सन् १९३४ के तेरह वर्ष नागरी की यंत्र-योग्यता को परखने के वर्ष कहे जा सकते हैं। इस चरण में भी दोष ढूँढ़ने का कार्य ही अधिक हुआ। कठिनाइयाँ तो ज्ञात हुईं किन्तु समाधान ढूँढ़ना अभी संभव नहीं हुआ।

प्रथम चरण की अपेक्षा द्वितीय चरण में यह विशेषता रही कि जहाँ प्रथम चरण में नागरी को लिपि के रूप में वैज्ञानिकता की कसौटी पर परखा गया, वहाँ द्वितीय चरण में नागरी को यंत्रों पर प्रयुक्त करने का प्रयत्न हुआ और इसमें आने वाली कठिनाइयों का आकलन हुआ।

१३:६ : **तृतीय चरण : समाधान की खोज** : सन् १९३५ में हिं० सा० सम्मेलन का २४वाँ अधिवेशन हुआ। तब 'लिपि' पर विशेष रूप से विचार हुआ। तब से कई सभाओं एवं व्यक्तियों ने नागरी के न केवल दोष और कठिनाइयों का उल्लेख

किया, वरन् अनेक समाधान भी प्रस्तुत किए। मुख्य प्रयत्नों को निम्नलिखित रूप में तालिका-बद्ध किया जा सकता है—

(१) सेवाग्राम-नागरी
(२) काका कालेलकर-समिति
(३) पराड़कर-प्रस्ताव
(४) वर्णों में संघर्ष
(५) प्रति संस्कृत लिपि
(६) सांकृत्यायन वक्तव्य

इनका क्रमानुसार विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१२:६:१ : **सेवाग्राम की नागरी :** सन् १६२० के पं० बदरीनाथ भट्ट के विचारों को बाद में महाराष्ट्र में समर्थन मिला। महादेव गोविन्द रानडे ने सम्भवतः इस दिशा में विशेष रुचि दिखाई। महाराष्ट्र साहित्य परिषद्, पुणे ने लिपि सुधार समिति द्वारा तथा मराठी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में विचार किया, प्रस्ताव पास किये तथा विशेष मुद्र (प्रेस के टाइप) ढलवाकर उनका प्रचार किया। सावरकर, गांधीजी, विनोबा भावे, काका कालेलकर इत्यादि प्रभावशाली व्यक्तियों से न केवल विचार-विमर्श किया गया अपितु उनकी स्वीकृति भी ली गई और उनके द्वारा लिपि के सुधार का प्रचार भी करवाया गया। गांधीजी की स्वीकृति के पश्चात् तो सेवाग्राम से इस नागरी में साहित्य भी प्रकाशित हुआ। नागरी का यह रूप **'सेवाग्राम लिपि'** या **'सेवाग्राम की नागरी'** के नाम से अब तक चला आ रहा है।

इस नागरी के निर्माण में कब-कब, किस-किसने और कितना सहयोग दिया, इसका पूर्ण अभिलेख प्राप्त नहीं है।

१३:६:१:१ : **विशिष्टताएँ** इस लिपि में विशिष्टताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **मूल स्वर :** इस लिपि में केवल 'अ' ही मूल स्वर है। शेष स्वर मात्रा-मात्र हैं। 'अ' पर मात्रा लगाने से अि, अु इत्यादि स्वर बनते हैं जो 'इ', 'उ' इत्यादि के स्थान पर प्रयुक्त होते हैं।

(२) **महाप्राण व्यंजन :** महा-प्राण बनाने का समान नियम है। अल्पप्राण स्वर-रहित व्यंजन के साथ 'ह' लिखकर महाप्राण व्यंजन बनते हैं। इस तरह 'ख', 'घ' इत्यादि महाप्राण व्यंजन 'क्ह', 'ग्ह' इत्यादि रूपों में लिखे जाते हैं।

(३) **अनपविस्तार :** अपविस्तार को रोकने के लिए ऋ और ऌ के ह्रस्व-दीर्घ संकेत, अनुनासिकत्व (चन्द्रबिन्दु), विसर्ग, ङ, ञ, ण, ष, क्ष, त्र, ज्ञ—इन तेरह संकेतों को व्यर्थ घोषित किया गया है।

(४) **संयुक्त व्यंजन :** संयुक्त व्यंजन बनाने के लिए ऊपर-नीचे व्यंजन नहीं लिखे जाते। संयुक्त व्यंजनों में से प्रथम स्वर रहित रूप में पृथक् लिखा जाता है, दूसरा उसके पश्चात् दाहिने को।

स्वर रहित व्यंजन-संकेत के निर्माण के लिए निम्नलिखित पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं—

(क) दाहिने-पाई वाले व्यंजनों की पाई हटाकर; जैसे 'च' से 'च' ।

(ख) मध्य पाई वाले व्यंजनों की पूँछ का लटकता भाग काटकर; जैसे 'क' से 'क' ।

(ग) गोल (पाई हीन) व्यंजनों के नीचे हलंत-संकेत लगाकर; जैसे 'द' से 'द्' (श्रद्धा=श्रद्धा)

शेष नियम सामान्य नागरी के ही हैं ।

१३:६:१:२ : **प्रभाव** : इस लिपि के मुख्य प्रभाव निम्नलिखित रहे—

(१) **स्वर** : स्वरों के मूल रूप लुप्त करने की पद्धति मराठी के लिए प्रयुक्त नागरी में प्रचलित हुई शेष भागों में प्रचलित नागरी में अभी भी इ, उ इत्यादि मूल रूप प्रचलित हैं ।

'अ' के साथ मात्रा संयोजित करके 'अ' भिन्न स्वर बनाने की जो पद्धति सेवाग्राम-लिपि में है, अरबी वर्ग की लिपियों में वह बहुत पहले से चली आ रही है । उस वर्ग में 'अ' (अलिफ़) पर वही मात्राएँ (हरकतें) लगाई जाती हैं, जो व्यंजनों पर लगती हैं ।

अपनी लीक से हटकर विदेशी लिपियों से लाभप्रद नियम ले लेने की बात की शुरुआत बहुत बड़ी बात है । इस नियम में वैज्ञानिकता है या नहीं, इस प्रश्न को अलग रखकर सोचा जाए तो सेवाग्राम लिपि के निर्माताओं का अभिनिवेश से हटकर सोचने का साहस सराहनीय प्रतीत होता है।

(२) **महाप्राण** : यह नियम भी उर्दू और रोमन लिपियों से लिया गया प्रतीत होता है । वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो 'त्ह' को 'थ' पढ़ना या बताना ठीक नहीं है ।[६] तो भी यह नियम नागरी में जिस साहसिक परिवर्तन की कल्पना से बनाया गया, वह सराहनीय है ।

(३) **अनपविस्तार** : ऌ के दोनों रूप अब सर्वत्र लुप्त हो चुके हैं । ऋ ह्रस्व रूप में अब भी 'वर्णमाला' में है और संस्कृत के शब्दों को नागरी में लिखते समय कभी कभार दीर्घ मात्रा भी लगाई जाती है। ह्रस्व ऋ की मात्रा तो पर्याप्त प्रयुक्त होती है । विसर्ग, ण, ष, क्ष, त्र, ज्ञ भी अपने रूप में विद्यमान हैं ।

अनुनासिकत्व, ङ और ञ—ये तीन संकेत धीरे-धीरे लुप्त होते जा रहे हैं । अनुनासिकत्व और अनुस्वार— इन दोनों के लिए केवल अनुस्वार का प्रयोग बढ़ता जा रहा है । ङ और ञ का स्वतंत्र प्रयोग न होने के कारण इनके स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग कर लिया जाता है । इस प्रकार अनुस्वार इन तीनों संकेतों का कार्य चला रहा है ।

एक भ्रम का निवारण आवश्यक है। कहने को सेवाग्राम लिपि में अ और व्यंजन-

संकेत मिलाकर केवल २० 'वर्ण' और १० मात्राएँ हैं, अर्थात् कुल ३० संकेत हैं किन्तु स्वररहित व्यंजन रूप (क, ट इत्यादि संक्षिप्त व्यंजन), हलन्त का संकेत इत्यादि को न गिनकर संकेत-सूची के विषय में भ्रमपूर्ण एवं भ्रामक सूचनाएँ दी जाती रही हैं।

(४) **संयुक्त व्यंजन** : संयुक्त व्यंजनों के पृथक्-पृथक् लिखने के सिद्धान्त का बहुत प्रभाव पड़ा है। कालान्तर में इस पर अनेक प्रयोग हुए जिनका आगे विस्तृत परिचय दिया गया है।

(५) **क्षेत्रीय दृष्टि** : सेवाग्राम लिपि के निर्माण के समय नागरी को सभी भारतीय भाषाओं की समर्थ समान लिपि बनाने की दृष्टि नहीं थी। कालान्तर में नागरी में सभी भारतीय भाषाओं के ध्वनिग्रामों को शुद्धता के लिखने का सामर्थ्य उत्पन्न करने के विषय में सोचा गया और 'परिवर्धित देवनागरी' का निर्माण हुआ।

(६) **असम्पूर्णता** : सेवाग्राम लिपि के निर्माताओं का लक्ष्य नागरी की 'वर्ण' संख्या को घटाना था। वर्ण-संख्या को कम करते समय वैज्ञानिकता का ध्यान रखना आवश्यक है। जहाँ लिपि में अनपविस्तार आवश्यक है, वहाँ उनका मान्य ध्वनिग्रामों की दृष्टि से सम्पूर्ण होना भी आवश्यक हैं। असन्तुलित संख्या-नियम के परिणामस्वरूप सेवाग्राम की नागरी में असम्पूर्णता आ गई।

१२:६:२ : काका कालेलकर-समिति : हिं० सा० स० का चौबीसवां अधिवेशन सन् १९३५ में हुआ। उसमें 'लिपि-परिषद्' की महत्वपूर्ण बैठक हुई। तब लिपि-सुधार के लिये विशेष उपसमिति गठित की गई। इसके संयोजक काका कालेलकर नियुक्त हुए। उस समिति द्वारा दिये गए सुझाव और उनका प्रभाव नीचे दिया जा रहा है।

१२:६:२:१ : सुझाव : काका कालेलकर समिति के मुख्य सुझाव निम्नलिखित थे।[१०]

(१) **विकल्पित शिरोरेखा** : छापते समय सामान्यतः शिरोरेखा छपती रहे। बहुत छोटे टाइप पर शिरोरेखा न हो, ताकि वह स्पष्ट रहे।

(२) **उच्चारण-क्रम के अनुसार लेखन** : ऊपर नीचे की मात्राएँ, (इकार की मात्रा को अपवाद-स्वरूप स्वीकार करते हुए) रेफ अनुस्वार, अनुनासिकत्व तथा संयुक्त व्यंजनों को उच्चारण के क्रम में नए टाइप में अगले स्थान पर छापा और टाइप किया जाए। (उनकी आकृति या स्थान में अन्य कोई परिवर्तन नहीं किया गया)। जैसे—म े रा, स ू प, न ृ प, ध र् म, प ु र रो ं, द्वारिका इत्यादि। 'इ' की मात्रा बाईं ओर ही रहे।

(३) **मूल स्वर** : 'अ' पर मात्राएँ लगाकर बनाए जाएँ।

(४) **दो नए स्वर** : दक्षिण भारतीय मात्राओं के लिए 'ह्रस्व ए' और 'ह्रस्व ओ' के संकेत अपनाए जाएँ। इनके रूप बनाने के लिए 'अ' पर विशेष मात्रा लगाने से ह्रस्व ए माना जाए और यही मात्रा 'क' पर लगाने पर 'क्+ह्रस्व ए' माना जाए। इसी प्रकार आ पर वही मात्रा लगाने से ह्रस्व ओ की और 'का' इत्यादि पर वही

मात्रा लगाने से 'क्+ह्रस्व ओ' इत्यादि की अभिव्यक्ति मानी जाए। (दे० चित्र १३:२, संकेत—१, २, ३, ४,)

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११

चित्र १३:२

(५) **अनुस्वार-अनुनासिकत्व** : अनुनासिकत्व के लिए वर्तमान 'चन्द्र-बिन्दु' के बदले केवल 'बिन्दु' लगाया जाए; जैसे—ह ंसी, यहा ं, लड़को ं को इत्यादि। नासिक्य व्यंजन के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले अनुस्वार के स्थान पर वर्तमान 'बिन्दी' के बदले '०' (शून्य) लगाया जाए; जैसे—'हिन्दी' को 'हि ० दी' या 'कम्पन' को 'क ० पन' लिखा जाए। वाङ्मय इत्यादि में नासिक्य व्यंजन अनिवार्य है।

(६) **अतिरिक्त ध्वनियाँ** : अरिक्त ध्वनियाँ बनाने के लिए बाईं ओर नीचे बिन्दी लगाकर प्रचलित ध्वनि से साम्य रखने वाली भिन्न ध्वनि का बोध कराया जाए; जैसे '.क' या '.च'।

(७) **अंक** : पाँच, आठ तथा नौ संख्याओं के लिए अंकों के नए रूप लिए जाएँ जो चित्र १३:२ के संकेत ५, ६, ७ में दिखाए गये हैं।

(८) **मराठी ध्वनि** : मराठी की ध्वनि के लिए विशेष 'ल' का संकेत अपनाया जाए जो चित्र १३:२ के संकेत ८ में दिखाया गया है।

(९) **मानकीकरण** : अ, झ, ण, ल, श की आकृतियाँ के अनेक रूपों में से एक ले लिया जाए—प्रथम तीन के मराठी रूप और चौथी-पाँचवीं ध्वनि के उत्तर भारत के रूप।

(१०) **आकृति-सुधार** : भ, ध पर से शिरोरेखा हटाई जाए और उनके प्रारंभ में वक्रता लाकर उन्हें 'म, घ' से भिन्न आकार दिया जाए। (दे० चित्र १३:२ के संकेत ९, १०)

(११) **अक्षर** : 'क्ष' को 'क्श' लिखा जाए। 'ज्ञ' अपने प्रचलित रूप में स्थिर रहे। 'श्री' का एक विकल्प 'श्री' और 'ओ ३ म्' का एक विकल्प प्रणव-संकेत (दे० चित्र १३:२ का संकेत ११) भी माना जाए।

१३:६:२:२ : प्रभाव : काका कालेलकर समिति के सुझावों का मुख्य उद्देश्य 'कर्न' (खाँचे वाले) मुद्र (प्रेस के टाइप) से बचना था। यह निःसंदेह यंत्र-योग्यता में अपार वृद्धि करने का सुझाव था। किन्तु इससे नागरी के गठन में कमी आती, बिखराव बढ़ता और अक्षर छिटके हुए होने से पढ़ने में भी असुविधा उत्पन्न करते और कुछ असुन्दर भी दिखाई देते। परिणामतः इन सुझावों को कागजी दौड़ ही रह जाना पड़ा।

१३:६:३ : **पराड़कर प्रस्ताव** : सन् १९३८ के हिं० सा० स० के २७वें अधिवेशन के सभापति के रूप में श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर ने 'नागरी लिपि के गुण' तथा 'लिपि-सुधार का प्रश्न' शीर्षकों से अपने विचार प्रकट किए।

१३:६:३:१ : **सुझाव** : उन्होंने निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए[११]—

(१) अनावश्यक विस्तार से बचा जाए। जिन विदेशी ध्वनियों का उच्चारण हमारे लिए अस्वाभाविक है उनके नए-नए संकेत गढ़ना नागरी को बिगाड़ना है।

(२) प्रेस की दृष्टि से नागरी में सुधार किया जाए।

(३) नागरी में सबसे पहला सुधार यह होना चाहिए कि स्वरों की जो मात्राएँ ऊपर और नीचे लगाई जाती हैं, वे व्यंजनों के पश्चात् 'आ' की मात्रा या विसर्ग की भांति लगाई जाएँ।

इसमें मात्राओं के नए रूप कल्पित करने की बात थी। विसर्ग की तरह की मात्राएँ (मेरे विचार में) कुछ इस प्रकार हो सकती हैं—

कल्पना (१)—प· प: प× पा प) प८ प+· प≠

अभिव्यक्ति—पँ प: पं पा पि पै पो पौ

कल्पना (२) ऐसी हो सकती है कि जैसे आ की मात्रा व्यंजन के साथ जुड़ जाती है, सभी मात्राएँ व्यंजन के साथ जुड़ जाएँ। इसके लिए बड़े संशोधन की आवश्यकता होगी। ऐसी संयुज्य मात्राएँ अरा-लिपि में प्रचलित हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

स्वर, मात्रा

अरा-- I L U ꙍ ꙍꙍ r ɒ r ɒ

नागरी- अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ

A-1

व्यंजन

अरा--- S ~ ꙍ U U ४ S

नागरी- क् ट् च् त् प् म् न्

A-2

व्यंजन और स्वर का संयोजन

S+U=SU

क् + इ = कि

A-3

अरा -
नागरी - क् क का कि की कु कू
अ० -
ना० - के कै को कौ

(पराड़करजी के मस्तिष्क में इन दो प्रकार की कल्पनाओं में से कोई बात रही होगी, किन्तु वह केवल सैद्धान्तिक धरातल पर ही प्रस्तुत की गई ।)

(४) **मूल स्वर**—अे, अै लिखे जाएँ किन्तु अि, अी, अु, अू न लिए जाएँ, उनके स्थान पर इ,ई, उ,ऊ चलते रहें ।

(५) 'ख' के लिए गुजराती का 'ख' लिया जाए । (देखिए चित्र १३:१, संकेत ३)

(६) **रेफ** के इिए '-' का मराठी संकेत ले लिया जाए; जैसे मर्म को 'म-म' लिखें ।

(७) **संयुक्त-व्यंजन**—संयुक्त व्यंजन का नया रूप न लिखकर पहले व्यंजन के मूल रूप को स्वर-रहित रूप में पृथक् लिखा जाए । (नियम —पाई हटाना, पूंछ काटना या हलन्त संकेत जोड़ना—जैसे सेवाग्राम लिपि में हैं ।)

(८) **महाप्राण व्यंजन**—'प्ह्' को 'फ', 'त्ह्' को 'थ' मानने की रीति न अपनाई जाए, क्योंकि इससे प्रचलित लिपि में बहुत अधिक परिवर्तन की आशंका है ।

१३:६:३:२ : **प्रभाव**—ऊपर दिए गए प्रस्तावों में संख्या (३) तथा (६) नितान्त नए सुझाव थे और लाभप्रद भी थे । संख्या (३) का सुझाव कल्पना का मूर्त्त रूप प्रस्तुत न किए जाने के कारण प्रभावहीन हो गया । बहुत बाद में 'अरा' लिपि में ठीक ऐसी ही कल्पना हुई और बहुत सफलता से चल रही है । संख्या (६) का 'रेफ' का रूप पंक्ति में लग जाने के कारण क्रमानुसार लेखन के वैज्ञानिक नियम की पूर्ति करता है । वस्तुतः यह कुछ गोलाई लिए हुए योजक (-) का संकेत है जो मध्य तल में छपता है । मराठी में प्रायः और ब्रजभाषा की पुस्तकों में यदा-कदा अब भी यह संकेत छपता है । वहुप्रचलित नागरी ने इसे नहीं अपनाया । शायद अभिनिवेश की ही बाधा रही है । अब भी इसे अपना लेना हितकर है । इससे नागरी की यंत्र-योग्यता बढ़ेगी ।

१३:६:४ : **वर्गों में संघर्ष** : सन् १९३८ ई० के पश्चात् नागरी-सुधार वाद-विवाद का विषय बन गया । सन् १९३९ ई० के 'सम्मेलन' के अधिवेशन में स्पष्टतः दो वर्ग बन गए; एक वर्ग नागरी में सुधार के पक्ष में था तो दूसरा वर्ग परम्परागत नागरी में कोई परिवर्तन नहीं चाहता था । परिणामतः आगामी कुछ वर्ष इसी वाद-विवाद की स्थिति में व्यतीत हुए ।

१३:६:४:१ : **नए सुझाव** : सन् १९४१ के हिं० सा० सम्मेलन के अधिवेशन में सुधारवादियों का पलड़ा भारी रहा। तव सेवाग्राम लिपि से भी कुछ आगे की बात सोची गई, कम-से-कम निम्नलिखित तीन नए प्रगतिवादी प्रस्ताव रखे गए—

(१) मात्राएँ, अनुस्वार, अनुनासिकत्व इत्यादि जो भी संकेत हों, वे सब दो समान्तर पंक्तियों के मध्य क्रमानुसार जुड़ें। क्रियात्मक उदाहरण नहीं दिए गए थे, तो भी उस कल्पना को मूर्त्त रूप दिया जाता तो नागरी कुछ ऐसी होती—

प-वतए·	कइ..	वायउ	पवइत्र	हए..।
(पर्वतों	की	वायु	पवित्र	है।)

(२) **'इ' की मात्रा के लिए अंग्रेजी के 'जे' (J) अक्षर** की आकृति स्वीकार की जाए। इस कल्पना की पूर्ति के लिए वर्तमान 'ा' की मात्रा को नीचे के सिरे पर बाएँ को मोड़ना पड़ता। तब 'इ' की मात्रा व्यंजन के दाहिने लग सकती थी।

(३) 'र' को 'प्र' इत्यादि की तरह व्यंजन के पाँव में जोड़ने की अपेक्षा स्वर-रहित व्यंजन के पश्चात् 'र' लिखा जाए। जैसे—'प्रेम' को 'प्रेम', 'क्रम' को 'क्रम' या 'ट्रक' को 'ट्रक' लिखा जाए।

१३:६:४:२ : **प्रभाव** : इन वर्षों के वाद-विवाद का प्रभाव उसी समय भले ही लक्षित न हुआ हो, आगामी वर्षों में हुए सुधारों का कारण अवश्य बना। सन् १९४१ के उपरिलिखित तीनों प्रस्तवों से नागरी को लाभ हो सकता था, किन्तु अभी जन-मानस उन्हें स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था। प्रस्ताव-१ यंत्रों की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु नागरी में इतना बड़ा परिवर्तन उसकी संयोजनमूलक 'प्रकृति' बदलने के समान है। प्रस्ताव-२ की वैज्ञानिकता असंदिग्ध है। 'इ' की मात्रा आज तक विद्वानों को खटक रही है, किन्तु अभिनिवेश के कारण बदली नहीं गई। प्रस्ताव-३ को बाद में उत्तर प्रदेश सरकार ने अपनाया।

१३:६:५ : **प्रतिसंस्कृत लिपि** : सन् १९४५ में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने श्री श्रीनिवास की अध्यक्षता में नागरी-सुधार के लिए एक समिति बनाई। उस समिति के द्वारा हिन्दी और संस्कृत भाषाओं के लिए उपयुक्त लिपि का निर्माण किया गया और

क ख ग घ ङ

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११

ठ थ ह्र ट त

१२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२

123 '76 'अलर्ट' — प्रति-संस्कृत लिपि

चित्र १३:३

उसे 'प्रतिसंस्कृत लिपि' कहा गया ।[१२] इस लिपि की प्रकृति को यहाँ चित्र १३:३ में दिखाए संकेतों से समझा जा सकता है । संकेत १ से ६ तक स्वरों के तीन युग्म हैं । इनमें 'अ' जितना अंश समान है । ह्रस्व स्वर के नीचे हलन्त संकेत हैं (संकेत १, ५; संकेत ३ में खड़ी पाई ही बढ़कर ह्रस्वत्व की अभिव्यक्ति देती है) संकेत ७ से ११ तक क्रमशः क, ख, ग, घ, ङ हैं । इनसे देखा जा सकता है, महाप्राण बनाने की विशेष विधि है और नासिक्य व्यंजन वर्गीय व्यंजन के साथ साम्य रखता है । संकेत १८ से २२ तक क्रमशः ठ, थ, ह, ट, त के संकेत हैं । संकेत १२ से १७ तक 'क' में पहले बताये गये छः स्वरों की मात्राएँ लगाई गई हैं ।

१३:६:५:१ : **सिद्धान्त** : प्रतिसंस्कृत लिपि के मुख्य सिद्धान्त नीचे दिये गये हैं—

(१) **वर्णमाला**—स्वरों में अंग्रेजी की दो ध्वनियों और व्यंजनों में दो अंग्रेजी की और एक तमिल की ध्वनि के लिए अतिरिक्त सकेत हैं ।

(२) **वर्गीय साम्य**—

(क) सभी अल्पप्राणों के साथ पूँछ जोड़ने से महाप्राण बनता है ।

(ख) 'ग' से 'ङ', 'ज' से 'ञ' तथा 'ड' से 'ण' मात्र एक 'वृत्त' (०) जोड़ने से बनता है किन्तु 'म' को 'प' में तथा 'न' को 'त' में वृत्त जोड़कर बनाया गया है ।

(ग) सभी स्वर 'उ' अंश निकाल देने पर मात्रा रूप में देखे जा सकते हैं । सब अल्पप्राण व्यंजनों में वे इसी रूप में जुड़ सकते हैं । महाप्राण व्यंजनों में महाप्राणत्व के संकेत की बाधा है ।

(३) **सुगमता**—स्वर रहित व्यंजन की बनाने की विधि सरल है, अतः संयुक्त व्यंजन की जटिलता नहीं है ।

१३:६:५:२ : **प्रभाव** : इस लिपि को कभी व्यवहार में लाकर नहीं देखा गया । समग्र रूप से इस लिपि में एक बहुत बड़ा दोष महाप्राणत्व की विधि का है । चित्र १३:३ के संकेत ९ और १० को ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि संकेत ९ (ग) के साथ की पाई हटाकर शेष रहे अंश (संक्षिप्त व्यंजन) के साथ स्वर की मात्रा (स्वरों के 'उ' भाग को हटाकर शेष बचे अंश) को सरलता से जोड़ा जा सकता है । इस प्रकार 'ग' से 'ग, गा, गि, गी' इत्यादि बनाए जा सकते हैं । इसके विपरीत संकेत १० (घ) में से पाई हटाने का अर्थ होगा मध्य का भाग हटाना या पाई और उसके दाहिने जुड़ी पूँछ (महाप्राणत्व का संकेत) हटाना । शेष या तो दो संकेत बचेंगे 'ग ऽ' या केवल 'ग' । केवल 'ा' के साथ मात्राएँ जोड़ी जाएँ तो 'घ, घा, घि, घी' इत्यादि नहीं बनते और 'ग ऽ' के साथ मात्राएं जोड़ी जाएँ तो तीन पृथक् संकेत दिखाई देंगे । श्रीनिवास जी की इस योजना में अन्य अनेक पूर्व कथित नियमों को दोहराया गया है । कुछ समय के लिए इस योजना को क्रियान्वित करके देखा गया होता तो अधिक लाभ प्राप्त हो सकता था ।

१३:६:६ : सांकृत्यायन-वक्तव्य : सन् १९४७ के हिं० सा० सम्मेलन के अधिवेशन में महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सभापति पद से जो वक्तव्य दिया, उसमें नागरी के सुधार के विषय में निम्नलिखित मुख्य सुझाव थे—

(१) संयुक्ताक्षरों के टाइप हटा दिए जाएँ।

(२) मात्राओं को 'अ' पर ही लगाया जाए।

(३) दूसरे अक्षरों तक फैली मात्राओं को अपने शरीर की सीमा तक ही सीमित किया जाए।

१३:६:६:१ : प्रभाव : रा० सांकृत्यायन जी के प्रथम दो सुझाव तो पहले से ही चले आ रहे हैं, तीसरे सुझाव में कुछ नवीनता है। यहाँ दिए गये चित्र १३:४ के

चित्र १३:४

स्तम्भ १ संकेतों को ध्यान से देखने से ज्ञात होता है कि प्रचलित 'की' (स्तम्भ १) में 'ई' की मात्रा और प्रचलित 'को' (स्तं० १) में 'ओ' की मात्रा 'क' के क्षेत्र में आ जाती है। इसके कारण प्रेस को बहुत असुविधा होती है। ऐसे कई संयोगों के कारण कर्न (खांचे वाले, पोले) टाइप की नागरी-मुद्रण में अनिवार्य आवश्यकता रहती है और दूसरे टाइप पर चढ़ा अंश पतला होने के कारण थोड़ी-सी दाब से टूट जाता है। यही कारण है कि बहुत सावधान रहने पर भी नागरी की पुस्तकों में अशुद्धियाँ रह जाती हैं। इसी चित्र के स्तम्भ २, ३ में सांकृत्यायन जी के विचार के अनुकूल इन पंक्तियों के लेखक द्वारा कल्पित मात्राओं को दिखाया गया है। ऐसी मात्राओं के टूटने की आशंका नहीं है।

इससे मिलती-जुलती ए, ऐ, ओ, औ की मात्राओं का सन् १९७० के आस-पास प्रचलन हुआ भी था, किन्तु बहुत सीमित रूप में।

१३:७ : चतुर्थ चरण : संपरीक्षात्मक प्रयत्न : भारत के स्वतन्त्र होने पर पहले उत्तर प्रदेश की राज्य-सरकार ने तथा बाद में भारत की केन्द्रीय सरकार ने नागरी के संशोधित रूप को प्रचारित एवं प्रयुक्त करने के जो संपरीक्षात्मक प्रयत्न किए, उनका विवरण एवं प्रभाव नीचे दिया जा रहा है।

१३:७:१ : आचार्य नरेन्द्रदेव समिति : १९४७ ई० में उत्तर प्रदेश की सरकार

ने आचार्य नरेन्द्रदेव की अध्यक्षता में नागरी लिपि-सुधार समिति बनाई, जिसने सन् १९४९ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। समिति ने तब तक के सुधार-प्रयत्नों पर विचार करने के पश्चात् नागरी लिपि में आमूल परिवर्तन न करने का निश्चय करते हुए कुछ मामूली सुधारों द्वारा नागरी को नई आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया।

१३:७:१:१ सुझाव : समिति ने मुख्यतः निम्नलिखित सुझाव रखे—

(१) मात्राओं इत्यादि को थोड़ा हटाकर लिखा जाए, [दे० अनुच्छेद १३:६:२:१ के अन्तर्गत काका कालेलकर समिति के सुझाव (२) के उदाहरण]

(२) शुद्ध अनुस्वार के लिए '०' संकेत हो और यथासम्भव नासिक्य व्यंजन के स्थान पर इसी का प्रयोग किया जाए। [देखिए—अनुच्छेद १३:६:२:१ के सुझाव (५) का उदाहरण 'ि ह ० द ी']

(३) लेखन में शिरोरेखा लगाई जाए, किन्तु ८ प्वाइंट से कम के मुद्र-संकेतों पर शिरोरेखा न रखी जाए। (कालेलकर समिति ने विकल्प रखा था)

(४) संयुक्त व्यंजन—सेवाग्राम लिपि के तीनों सिद्धान्त (प क द से प क् द् के अनु-रूप) माने जाएँ।

(५) 'इ' की मात्रा के लिए अंग्रेजी के जे (J) अक्षर का प्रयोग किया जाए। जैसे 'विजय' को 'व J जय' लिखा जाये (देखिए – अनु० १३:६:४:१ में इ की मात्रा पर विचार)

(६) मानकीकरण—अनेक रूपों में अ, छ, झ, ध, ण, भ, [illegible], ल, ह—ही लिए जाएँ, दूसरे रूप न लिखे जाएँ।

(७) 'क्ष' को 'क्ष' और 'त्र' को 'त्र' लिखा जाए। ज्ञ, श्र, ॐ और ळ का प्रचलन बना रहे।

(८) विराम संकेत—नागरी का पूर्ण विराम (।) रखा जाए और शेष अंग्रेज़ी के संकेत चलते रहें।

(९) क्योंकि लाइनोटाइप में केवल ९० 'अक्षरों' से ही काम चलाना पड़ता है, अतः नई ध्वनियों के लिए नवीन संकेत स्थिर करने की अपेक्षा 'उच्चारण चिह्नों (diacritical marks)' का प्रयोग किया जाए।

(१०) इस प्रतिवेदन के अनुसार 'अक्षरों की संख्या' इस प्रकार होगी—

(क) **'पूर्ण अक्षर'** ४२

(अ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, ज्ञ, ळ)

(ख) **'आधे अक्षर'** २६

(क्, ख्, ग्, घ्, च्, ज्, झ्, ञ्, ण्, त्, थ्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, श्, ष्, स्, ज्ञ्)

(ग) **'संयुक्ताक्षर'** (श्र)	...	...	...	१
(घ) **मात्राएँ**	...	...	...	१४
(ा, J, ि, ु, ू, े, ै, ो, ौ, ं, ः, ँ, ृ, ्)				
(ङ) **'विराम चिह्नादि'**	...	...	...	८
(।, -, —, ,, ;, :, !, ?)				
(च) **संख्याएँ**	...	...	...	१०
(एक से नौ तक के अंक तथा शून्य)				
(छ) **फुटकर**	...	...	...	६
(तारा, पुष्प, प्रतिशत इत्यादि जिन्हें आवश्यक समझा जाए)				
			कुल योग =	११०

१३:७:१:२ : **स्वीकृति** : उ० प्र० सरकार ने सन् १९५३ ई० में विभिन्न राज्यों के मुख्यमंत्रियों, केंद्रीय सरकार के मंत्रियों, शिक्षाविदों तथा भाषा शास्त्रियों का सम्मेलन बुलाकर नरेन्द्रदेव समिति के प्रस्तावों पर मुख्य रूप से विचार किया और एक-दो परिवर्तनों के साथ समिति के प्रस्तावों को स्वीकृति प्रदान कर दी । मुख्य परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

(१) ख को मिलाकर लिखा गया ताकि 'र' और 'व' का भ्रम न रहे। 'घ' में भीतर को और 'भ' में बाहर को वृत्त की वृद्धि करके उन्हें क्रमशः घ और म से भिन्न रूप दिया गया ।

(२) 'ज्ञ' को भी 'स्वतंत्र अक्षर' माना गया, जिससे 'संयुक्ताक्षर' की सूची में एक के स्थान पर दो संकेत आ गए ।

(३) 'इ' की मात्रा को अंग्रेजी के 'जे' के समान न मानकर 'ई' की मात्रा ('ी') के सदृश ही रखा गया, केवल उसकी पाई छोटी कर दी गई । (केवल यही ऐसा सुझाव था, जो नितांत नवीन था ।)

(४) किसी व्यंजन के नीचे आड़ी रेखा के रूप में 'र' जोड़कर ('प्र' इत्यादि) 'संयुक्ताक्षर' बनाने के बदले प्रथम व्यंजन को (तीन नियमों में से जो लागू होता हो, उसके अनुसार) स्वर-रहित रूप में लिखकर 'र' लिखा जाए ('प्र' इत्यादि) और इस प्रकार 'प्रवेश' के बदले 'प्‌रवेश' और 'द्रुम' के बदले 'द्‌रुम' लिखा जाए । 'रेफ' के बदले 'र्' का उच्चारण के स्थान पर पंक्ति में प्रयोग हो; जैसे 'धर्म' को 'धर्‌म' लिखा जाए।

१३:७:१:३ : **क्रियान्विति** : उत्तर प्रदेश सरकार ने १९५३ ई० के लखनऊ सम्मेलन के आधार पर संशोधित लिपि पहली कक्षा से विद्यार्थियों को पढ़ाना प्रारम्भ किया । वर्षानुवर्ष उस कक्षा के तथा उसके पश्चात् आने वाले विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें उसी लिपि में प्रकाशित हुईं और बच्चों को उसी लिपि का अभ्यास भी होता गया;

किन्तु उत्तर प्रदेश की जनता ने ही उसे 'लंगड़ी हिन्दी' कहकर अस्वीकार कर दिया तो अन्य राज्यों में उसके स्वीकृत होने का प्रश्न ही नहीं था। परिणामत: उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी सन् १९५७ ई० में अपनी इस संपरीक्षण की योजना को तिलांजलि दे दी। सिद्धांतत: अक्तूबर, १९५७ में लखनऊ में हुई सभा ने 'इ' की मात्रा और 'प्र' को 'प्र' लिखने जैसे 'र' के संयोग की नई विधियाँ ही वापिस ली थीं, किन्तु परिणाम यही हुआ कि नागरी पर किया जा रहा संपरीक्षण उपेक्षित हो गया और नागरी अपने आप जैसे चल सकती थी, चलने लगी।

१३:७:१:४ : प्रभाव : नागरी संशोधन का यह महत्त्वपूर्ण संपरीक्षण मुख्य रूप से 'इ' की अव्यावहारिक मात्रा के कारण असफल रहा। इस योजना में 'इ' की मात्रा व्यंजन के दाहिने को लगती थी। वह 'ई' की मात्रा की आकृति की थी, केवल उसकी पाई आधे भाग तक लटकती थी। तेजी से लिखते समय हाथ को मध्य में ही रोकना सदा सम्भव नहीं होता, अत: पाई का लम्बी खिंच जाना स्वाभाविक है। परिणामत: इस योजनानुसार लिखते समय 'किल' के बदले 'कील' लिख जाना स्वाभाविक था। इसीलिए यह इकार की मात्रा स्वयं लंगड़ी होने के कारण पूरी लिपि को (बल्कि भाषा को) लंगड़ी का विशेषण दिला गई। यदि इस एक इकार की मात्रा को छोड़ दिया जाए तो शेष सुझाव लाभप्रद थे।

इस योजना के असफल होने का दूसरा कारण रूढ़िवादिता थी। इस संपरीक्षण के समय किए गए 'प्रभाव', 'लक्ष्मण' जैसे प्रयोग न अवैज्ञानिक थे, न व्याकरण के अनुसार अशुद्ध थे किन्तु जन-मानस इतने प्रगतिशील परिवर्तन के लिए तैयार नहीं था।

नागरी-संशोधन का यह महत्त्वपूर्ण संपरीक्षण भले ही असफल हो गया हो, किन्तु वह ख, भ, ध के नए रूप, संयुक्ताक्षरों से बचने की प्रवृत्ति तथा नागरी को यंत्रों पर प्रयोग करने के लिए अनेक लाभप्रद सुझाव छोड़ गया। इन सबसे अधिक लाभप्रद बात यह हुई कि अनेक छात्रों और अध्यापकों ने लिपि-परिवर्तन की प्रक्रिया को स्वयं भोगा। नागरी जैसी महत्त्वपूर्ण (रूढ़ एवं बहुप्रचलित) लिपि के संशोधन के लिए अभिनिवेश तोड़ने की आवश्यकता है। सामाजिक एवं जागरूक इच्छा के बिना नागरी का संशोधन सम्भव नहीं। उत्तर प्रदेश के इस संपरीक्षण के परिणामस्वरूप कम-से-कम उन छात्रों और अध्यापकों के मन से रूढ़ लिपि का मोह टूटा, वे दो भिन्न स्थितियों का तुलनात्मक मूल्यांकन करने की स्थिति में पहुँचे। इस लैपिविज्ञानिक चेतना को जगा देना इस संपरीक्षण का सबसे बड़ा प्रभाव था।

१३:७:२ : केन्द्रीय सरकार के प्रयत्न : भारत की केन्द्रीय सरकार ने, पहले देवनागरी को हिन्दी की लिपि मानते हुए और कालांतर में उसे सभी भारतीय भाषाओं की विकल्प-लिपि मानते हुए कई वर्षों तक नागरी-सुधार के लिए विद्वानों से परामर्श किया। सन् १९५७ में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा चलाए गए संपरीक्षण के लगभग असफल हो जाने के बाद नागरी-सुधार का बीड़ा केन्द्रीय सरकार ने उठाया। केन्द्रीय

हिन्दी निदेशालय के पत्रक[13] के अनुसार इस दिशा में सन् १९५७ के पश्चात् केन्द्रीय सरकार द्वारा किए गए प्रयत्नों का इतिहास इस प्रकार है—

"संघीय शिक्षा-मंत्रालय में इस विषय का पुनर्निरीक्षण किया गया और इसे शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत करने का निश्चय किया गया। इस विषय को शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत करने से पूर्व भारत सरकार ने विशेषज्ञों का एक सम्मेलन बुलाया ताकि उनके विशिष्ट विचार शिक्षा-मंत्रियों के सम्मुख प्रस्तुत किए जा सकें। ८ तथा ९ अगस्त, १९५९ को यह विषय (नागरी का मानकीकरण तथा उसका भारतीय भाषाओं के लिए विकल्पित लिपि के रूप में प्रयोग) शिक्षा-मंत्रियों के सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत किया गया।"[14]

इस सम्मेलन ने लखनऊ सम्मेलन, १९५३ तथा १९५७ के सुझावों को कुछ संशोधनों के साथ स्वीकार किया। सम्मेलन द्वारा स्वीकृत संशोधन प्रकाशित करके यत्र-तत्र विशेषज्ञों के पास भेजे जाते रहे। परामर्श चलते रहे। सन् १९६७ में लिपि-विशेषज्ञों की स्वीकृति के अनुसार नागरी का नया रूप **'परिवर्धित देवनागरी'** नाम से प्रकाशित करके प्रचारित, प्रसारित किया गया। तब से केन्द्रीय सरकार द्वारा इसके प्रयोग का संपरीक्षण चल रहा है।

नीचे परिवर्धित देवनागरी का स्वरूप और प्रभाव क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

१३:७:२:१ : **परिवर्धित देवनागरी का स्वरूप** : भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के अन्तर्गत केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा प्रकाशित 'परिवर्धित देवनागरी'[15] के अनुसार इसका स्वरूप निम्नलिखित है—

(१) **मानकीकृत आकृतियाँ** : नागरी में कुछ संकेतों के एकाधिक रूप प्रचलित हैं। "उनमें से एक का मानकीकरण कर दिया गया है"[16]; जैसे 'अ' के दो रूपों में पूर्वी शैली का 'अ' ले लिया गया है। इस प्रकार स्वीकृत 'अ' से 'ज्ञ' तक १२ मानकी-

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२

चित्र १३:५

कृत आकृतियाँ यहाँ चित्र १३:५ की प्रथम पंक्ति में दिखाई गई हैं। इनमें 'अ' 'पूर्वी' अथवा 'दक्षिणी' शैली का, 'ऋ' पाई वाला, 'लृ' पाई वाला, 'ख' नीचे से मिला हुआ, 'छ' गोल (ऊपर पाई का अंश नहीं है), 'झ' पूर्वी शैली का, 'ण' दक्षिणी शैली का, 'ध' प्रारम्भ में भीतर को अतिरिक्त वृत्त लिए हुए, 'भ' प्रारम्भ में बाहर को वृत्त लिए हुए, 'ल' पाई वाला, 'क्ष' ऊपर गाँठ वाला और 'ज्ञ' ज-जैसा है। इन्हीं ध्वनियों के लिए प्रयुक्त अन्य आकृतियाँ छोड़ दी गईं।

(२) **नए संकेत :** तमिल इत्यादि कुछ भारतीय 'भाषाओं में' (लिपियों में) प्रचलित अतिरिक्त लिपि-ग्रामों के लिए इस नागरी में नए संकेत अपनाए गए हैं। चित्र १३:५ की पंक्ति २, ३, ४ और ५ में उन संकेतों को दिखाया गया है। परिवर्धित नागरी के अनुसार उनकी व्याख्या[17] नीचे दी जा रही है—

पंक्ति २

१. अ के नीचे बिंदु—उर्दू का 'ऐन'
२. क के नीचे बिंदु—उर्दू का दो नुक़्तेवाला 'क़ाफ़'
३. ख के नीचे बिंदु—उर्दू का जीम वर्ग का 'खे'
४. ग के नीचे बिंदु—उर्दू का 'ग़ैन'
५. ज के नीचे बिंदु—उर्दू के 'ज़ाल, ज़े' 'ज़ोय, ज़्वाद'
६. झ के नीचे बिंदु—उर्दू का रे-वर्ग का 'झे'
७,८. ड़, ढ़—हिन्दी-उर्दू की प्रचलित ध्वनियाँ, पहले से इन्हीं संकेतों के रूप में लिखी जा रही हैं।
९. फ के नीचे बिंदु—उर्दू की एक नुक्ते वाली 'फ़े'
१०. ष के नीचे बिंदु—मलयालम की विशेष ध्वनि का संकेत (यह ध्वनि उर्दू के तीन नुक्ते वाले 'झे'-जैसी ही है)
११. मराठी का विशेष ळ; दक्षिण भारत की सभी भाषाओं में इसे ध्वनि-ग्राम माना जाता है और उनकी लिपियों में इसका पृथक् संकेत होता है।
१२. मराठी-ळ के नीचे रेखा—तमिल की विशेष ध्वनि के लिए निश्चित संकेत; यह वस्तुतः उर्दू के 'झ के नीचे बिंदु' वाली ध्वनि ही है।

पंक्ति ३

१. च के नीचे रेखा—काश्मीरी विशेष 'च' जो उर्दू-काश्मीरी लिपि में उर्दू के तीन नुक्ते वाले 'चे' से लिखा जाता है।
२. छ के नीचे रेखा— उक्त-१ का महाप्राण।
३. ज के नीचे रेखा—(१) इसे काश्मीरी के लिए उक्त-१ के वर्ग का (दन्त्य, संघर्षी, सघोष, अल्पप्राण) बताया गया है[18], किन्तु 'कश्मीरी-परिवर्धित देवनागरी' तालिका में ऐसा 'ज' नहीं दिखाया गया है।

(२) इसी पंक्ति के संकेत ६ में भी ठीक यही संकेत दिया गया है। यह आवृत्ति परिवर्धित देवनागरी में ही दी गई है।[१९]

४. ज्ञ के नीचे रेखा—यद्यपि व्याख्या में[२०] इसे उक्त-१ के वर्ग का बताया गया है, तथापि काश्मीरी-देवनागरी वर्णमाला[२१] में इसका अस्तित्व नहीं है।

५, ६, ७, ८. क्रमश: ग, ज, द, ब के नीचे रेखा—चारों सिंधी भाषा के अन्तःस्फुट व्यंजन

९. न के नीचे रेखा—तमिल और मलयालम का अतिरिक्त 'न'

१०. र के नीचे रेखा—चारों दक्षिण भारतीय भाषाओं का अतिरिक्त 'र'

११. दो बार इकट्ठा लिखा हुआ उक्त-१० का 'र'—मलयालम का 'इट्टा' नाम से प्रसिद्ध 'लिपिग्राम'

पंक्ति ४

१,२. अ, आ पर खड़ी रेखा—काश्मीरी के 'ऊपरी हम्ज़ा' से लिखे जाने वाले विशेष स्वर अ, आ

३,४. उ, ऊ पर खड़ी रेखा—काश्मीरी के विशेप स्वर जो नीचे हम्ज़ा लगाकर लिखे जाते हैं

५,६. इ तथा उ के नीचे शून्य-संकेत—काश्मीरी भाषा के कुछ शब्दों के अन्त में आने वाले अत्यल्प 'इ' और 'उ'

७,८,९,१०,११,१२. क पर उक्त-१ से ६ तक के स्वरों की मात्रा लगाकर दिखाई गई है।

पंक्ति ५

१. ए पर बिंदुहीन चन्द्र—दक्षिण भारत की चार भाषाओं तथा काश्मीरी भाषा का ह्रस्व 'ए'

२. आ पर 'ऐपास्ट्राफ़ी' (ऊपर का 'कामा')—दक्षिण भारत की चार भाषाओं तथा काश्मीरी भाषा का ह्रस्व 'ओ'

३. क पर उक्त-१ (ह्रस्व 'ए') की मात्रा (द्रष्टव्य है कि यहाँ मात्रा मूल स्वर की आकृति से भिन्न है।)

४. क पर उक्त-२ (ह्रस्व 'ओ') की मात्रा

(३) **प्रयोग विधि के विशेष नियम** : परिवर्धित नागरी की प्रयोग विधि में निम्नलिखित नियम द्रष्टव्य हैं—

१. 'श्र', क्ष, ज्ञ—ये तीन संयुक्ताक्षर अपने पुराने रूप में चलेंगे।

२. 'र' के पुराने तीनों रूप यथावत् हैं। जैसे—'प्रकार', 'धर्म' और 'राष्ट्र' शब्दों में हैं।

३. अन्य संयुक्ताक्षरों के लिए प्रणाली स्थिर कर दी गई है। इसके अनुसार—
  (क) खड़ी पाई वाले व्यंजन की पाई हटाकर उसे आगे के व्यंजन के साथ जोड़ा जाएगा; जैसे, 'लग्न', 'सभ्य' इत्यादि।
  (ख) 'क' और 'फ' को 'क' और 'फ' के रूप में जोड़ा जाएगा, जैसे, 'संयुक्त' और 'दफ्तर' में।
  (ग) ङ, छ, ट, ड, ढ और द के संयुक्ताक्षर 'हल् चिह्न' लगाकर ही बनाए जायेंगे; जैसे—वाङ्मय, उछ्वास[२२], अकाट्य, पाठ्य, गुणाढ्य, विद्या इत्यादि।
  (घ) ह से संयुक्ताक्षर बनाने में विकल्प रखा गया है। उससे 'हल्-चिह्न' लगाकर भी संयुक्ताक्षर बनाए जा सकते हैं और 'ह' के भीतर 'न' इत्यादि व्यंजन संयोजित करके भी।

१३:७:२:२ : **प्रभाव** : परिवर्धित देवनागरी के संपरीक्षण के लिए भारत सरकार जैसी समर्थ संस्था का पिछले सात वर्ष तक संलग्न रहना इस लिपि की उपयोगिता या अव्यवहारिकता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। इतने वर्षों के और इतनी बड़ी संस्था द्वारा किये गये संपरीक्षण का नागरी-लिपि पर जो प्रभाव पड़ा, उसे नीचे विवेचित किया जा रहा है।

(१) **मानकीकृत आकृतियाँ** : नागरी के १२ संकेतों की मानकीकृत आकृतियों (दे० चित्र १३:५ की पंक्ति १ के बारह संकेत) का विद्वत्समाज में आदर हुआ है। सामान्य-जन तक, शायद प्रचार की कमी के कारण, यह परिवर्तन अभी नहीं पहुँचा।

(२) **नए संकेत** : चित्र १३:५ की पंक्ति २ से ५ तक दिखाए गए परिवर्धित देवनागरी के नए संकेत लैपि-विज्ञानिक परीक्षण में असफल सिद्ध हो जाते हैं। पहले ही नागरी में ऊपर-नीचे की मात्राओं के कारण अक्षर बनाने में इतनी जटिलता है कि मरजेन थेलर लाइनो टाइप कम्पनी के अनुसार नागरी के मुद्रण के लिए लगभग ७०० (सात सौ) अलग-अलग वर्णों की आवश्यकता पड़ती है।[२३] परिवर्धित देवनागरी के ऊपर-नीचे खड़ी पाई, बिंदु, रेखा तथा शून्य जोड़ने के सिद्धान्तों से यह लिपि और भी जटिल हो जाती है। यही कारण है कि अभी तक परिवर्धित नागरी का प्रकाशन साधारण प्रेस द्वारा सम्भव नहीं है। इन नए संकेतों की यंत्र-योग्यता कम होने के कारण परिवर्धित देवनागरी का प्रयोग केवल भारत सरकार के विशेष विभाग तक ही सीमित होकर रह गया है।

(३) **प्रयोग विधि** : परिवर्धित देवनागरी की प्रयोगविधि सन् १९५३ के लखनऊ सम्मेलन के सुझावों का व्यावहारिक रूप कही जा सकती है। इसमें सभी नियम ऐसे हैं, जिनके पक्ष में कई विद्वान् पिछली कई दशाब्दियों से कहते आ रहे थे। परिणामतः परिवर्धित देवनागरी की संयुक्त व्यंजनों में से व्यंजनों की पाई हटाकर, पूँछ काटकर, या हलंत-संकेत लगाकर प्रथम व्यंजन को बाएँ और द्वितीय व्यंजन को दाहिने रखने कीविधि प्रायः सर्वत्र प्रयुक्त होने लगी है। टाइपराइटर पर पुराने संयुक्त

व्यंजनों को टाइप करने की सुविधा न होने कारण भी इस विधि का प्रचलन बढ़ा है।

(४) **समग्र प्रभाव** : परिवर्धित देवनागरी की मानकीकृत आकृतियाँ और प्रयोग विधि की सफलता के कारण उसे समग्र रूप से सफल इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ये दोनों वास्तव में नागरी-सुधार के पिछले आंदोलनों का ही परिणाम थे। परिवर्धित देवनागरी ने जो नए तथ्य दिए उन्हें 'नए संकेत' के अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। वे नए संकेत प्रचलित नहीं हो सके, अतः मुख्य रूप से परिवर्धित देवनागरी का संपरीक्षण असफल रहा है।

इस योजना के निर्माण में अनेक मूर्धन्य भाषा-वैज्ञानिकों एवं शासनाधिकारियों का सहयोग था, फिर भी इसके नए संकेतों के असफल हो जाने का विशिष्ट कारण यंत्र-योग्यता की उपेक्षा थी।

इस असफलता के होते हुए भी इस योजना का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह रहा कि भारत में पहली बार नागरी को विविध भाषा-भाषियों के ध्वनिग्रामों का सम्मान करते हुए उन सभी भाषाओं के लिए विकल्पित रूप से **'समान लिपि'** बनाने का प्रयत्न किया गया है। इतने विशाल भाषा-समूह के लिए सभी ध्वनिग्रामों के **संकेतन भर** की व्यवस्था भी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसके आधार पर भविष्य में नागरी का उपयोगी संशोधन सम्भव है।

१३:८ : **यंत्र-विकास** : लिपि का अंकन जिन यंत्रों द्वारा किया जाता है, उनका अध्ययन **यांत्रिक लिपि-विज्ञान** में किया जाता है। नागरी के यंत्र-लिपि के रूप में विकास करने के साथ-साथ नागरी के लिए प्रयुक्त यंत्रों में भी विकास हुआ है। उदाहरणार्थ, इसी काल में प्रेस के विविध आकार-प्रकार के मुद्र ढले, दो प्रकार के कुंजीपटल वाले टाइपराइटर प्रचलित हुए, बड़े मुद्रणालयों के लिए स्पर्श द्वारा लाइनो टाइप की ढलाई की व्यवस्था हुई, नागरी को विद्युल्लिपि में परिवर्तित कर 'तार' भेजने अथवा उसी को टेप में छिद्रित कर उसके विद्युत्तरंगों को बेतार से प्रेषित कर दूर-मुद्रण की व्यवस्था की गई। ऐसे प्रयोग हमारे विषय की सीमा से बाहर हैं। अतः उन पर विस्तार से विचार नहीं किया जा रहा।

लिपि में यंत्र-योग्यता होने पर उसका यंत्रों पर प्रयोग स्वयमेव सफल होता है। लिपि के संकेतों में यंत्र-योग्यता का अभाव होने पर वह यंत्रों पर नहीं चल पाती। कुछ सीमा तक यंत्रों का सुधार भी सम्भव है, उन्हें लिपि के अनुकूल बनाया जा सकता है, किन्तु जब उनके परिचालन में मनुष्य के शरीर के अवयव कार्य करते हैं, तब यंत्र के सुधार की भी एक सीमा आ जाती है। इन सब दृष्टियों से लिपि की यंत्र-योग्यता को परखना होता है। यह विषय हमारे प्रबन्ध की सीमा में है किन्तु इतिहास से भिन्न होने के कारण उसे इस अध्याय में नहीं दिया जा रहा।

१३:९ : **लैपि-विज्ञानिक मूल्यांकन की विधि** : पिछले अध्यायों में सिंधु लिपि से अद्यावधि लिपि-विकास के इतिहास का अवलोकन करते हुए उसमें से नागरी के उद्भव और विकास के इतिहास का संधान किया गया है। इस क्रमिक विवरण से

हम जिस आधुनिक नागरी के स्वरूप तक पहुँचे हैं, उसका **लैपि-विज्ञानिक परीक्षण** किए बिना नागरी पर विचार पूर्ण नहीं होगा।

पिछले अध्ययन के साथ यत्र-तत्र लिपि-विज्ञान के अनेक सिद्धांतों का विश्लेषण भी किया जाता रहा है। उनके आधार पर नागरी का स्वरूप स्थिर किया जा सकता है। नागरी के उस स्वरूप को अच्छी लिपि के गुणों के निकषों पर कस के देखा जा सकता है कि नागरी में कौन-कौन से गुण या अवगुण कितनी-कितनी मात्रा में हैं। यही उसका लैपि-विज्ञानिक परीक्षण होगा।

अगले अध्याय में इसी आधार पर नागरी का लैपि-विज्ञानिक परीक्षण प्रस्तुत किया गया है।

---

१. पं० गौरीशंकर भट्ट लिखित 'देवनागरी लिपि क शीघ्रता से लिखने योग्य बनाने के उपाय', हिंदी साहित्य सम्मेलन के तृतीय अधिवेशन, कलकत्ता का कार्य-विवरण, सं० १९७०
२. सभी सुझाव हिं० सा० स० के चतुर्थ अधिवेशन, भागलपुर, का कार्य-विवरण : १९१२ ई० से
३. सरस्वती, खंड १, भाग २१, १९२० ई०।
४. सम्मेलन पत्रिका, भाग ८, अंक ११, सं० १९७८ वि०।
५. वही, भाग ९, अंक ३, सं० १९७८ वि०।
६. वही, भाग ११, अंक ३, सं० १९८० वि०।
७. हिं० सा० स० के द्वादश अधिवेशन, लाहौर का कार्य-विवरण : सं० १९७९ वि०
८. हिं० सा० स० के १९वें अधिवेशन, गोरखपुर का कार्य-विवरण : सं० १९८६ वि०
९. इस संदर्भ में विनोदकुमार 'सरस' की टिप्पणी है—'थ' को 'त्ह' नहीं मानना चाहिए। पंजाब में 'झांझर' को 'च्हांजर', 'भाभी' को 'प्हाबी' बोला जाता है। यहाँ 'च्ह', 'छ' नहीं है, 'प्ह', 'फ' नहीं है। —वीणा, जनवरी १९७३, पृ० ९७
१०. देवनागरी लिपि सुधार समिति का विस्तृत विवरण, पृ० २८-२९
११. हिं० सा० स० के २७वें अधिवेशन, शिमला का कार्य-विवरण
१२. देवनागरी लिपि सुधार समिति का विस्तृत विवरण : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी : सं० २००२ वि०
१३. 'स्टैंडर्ड देवनागरी स्क्रिप्ट' (अंग्रेजी) प्रकाशन संख्या ३।६७, केन्द्रीय हिंदी निदेशालय, शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार
१४. स्टैं० दे० स्क्रि०, पृ० ५
१५. प्रकाशन संख्या : १।६७
१६. प० दे०, पृ० १३
१७. प० दे०, पृ० १५ पर दी गई व्याख्या तथा पृ० १६ से ३७ तक दी गई लिप्यंतरण की तालिकाओं के आधार पर यह व्याख्या दी गई है।
१८. दे० लि०, पृ० १५
१९. वही
२०. वही
२१. वही, पृ० २५
२२. ये सभी उदाहरण प० दे० के पृ० १३-१४ से ज्यों के त्यों उद्धृत किए गए हैं। इन पंक्तियों के लेखक की सहमति या असहमति का कोई प्रश्न नहीं है।
२३. पहले अनुच्छेद १३:५:१ में इस पर विचार किया जा चुका है।

१४ वर्तमान नागरी का लैपिविज्ञानिक मूल्यांकन

१४:१ : वर्तमान नागरी : प्रत्येक लिपिक (विशेषत: लेख-लिपि का) व्यक्तिगत रुचि, योग्यता एवं अभ्यास के कारण लिपि को प्रयोग करते समय अंकन में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ उत्पन्न करता है, जिनके कारण लेख-विशेपज्ञ उसके लेख को अन्य लिपिकों के लेख से भिन्न कर सकता है। इसके विपरीत लिपि समाज-विशेप द्वारा स्वीकृत समान मान्यताओं के कारण भिन्न स्थान एवं भिन्न समय पर पुन: 'भाषित' में परिवर्तित की जा सकती है। जब किसी लिपि का समाज स्वीकृत स्वरूप ग्रहण किया जाता है तब हस्तलेखों में प्राप्त वैयक्तिक विशिष्टताओं को उपेक्षित करके प्राय: सभी लिपिकों द्वारा समान रूप से 'आदर्श' अथवा 'मानक' माने गये लिपि के स्वरूप पर ही विचार किया जाता है। इसे 'लिपि का समाजस्वीकृत स्वरूप' कहा जा सकता है। वर्तमान नागरी का लैपिविज्ञानिक मूल्यांकन करने से पूर्व उसके समाज-स्वीकृत स्वरूप का निर्णय कर लेना चाहिए।

१४:१:१ : मुख्य धारा : अनेक विद्वानों ने प्रचलित नागरी को कई भेदों में विभाजित किया है। पं० गौ० ही० ओझा तथा तत्कालीन अन्य पुरालिपिविदों ने नागरी की उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली का विवेचन किया था।[1] प्रसंगानुसार ओझा जी ने संकेतित किया था कि जैन लेखक इ, उ, छ, झ, ठ, ड, ल और क्ष के विशिष्ट रूपों का प्रयोग करते थे।[2] श्री एच० आर० कपाडिया नागरी को जैन (विशेष शैली) और अजैन (सामान्य नागरी) भेदों में बाँटते हैं।[3] डॉ० शिवशंकर प्रसाद वर्मा ने कपाडिया जी के भेदों में नंदि-नागरी को जोड़कर नागरी के निम्नलिखित तीन भेद किए हैं—

(१) नागरी (उत्तर भारत में प्रचलित नागरी)
(२) जैन-नागरी (जैन हस्तलेखों में प्रचलित नागरी)
(३) अजैन-नागरी (मुख्यत: दक्षिण भारत में प्रचलित नागरी)

इसी के साथ डॉ० वर्मा ने यह भी स्वीकार किया है कि जैन नागरी केवल

जैनियों में और हस्त-लेखों तक ही सीमित है ।[५] अजैन नागरी का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया कि इसका प्राचीन नाम नन्दि-नागरी है और अब उसका प्रचलन नहीं रहा ।[६] स्पष्ट है कि जैन नागरी वर्तमान नागरी का प्रतिनिधित्व इसलिए नहीं कर सकती, क्योंकि वह कुछ विशेष व्यक्तियों द्वारा सीमित रूप से ही प्रयुक्त होती है और नंदि नागरी का प्रचलन न रहने से उसे वर्तमान नागरी में नहीं गिना जा सकता । इन तीनों में प्रथम भेद (जिसे 'उत्तर भारत में प्रचलित नागरी' बताया गया है) ही वर्तमान नागरी का प्रतिनिधित्व कर सकता है । यही नागरी की मुख्य धारा है ।

१४:१:२ : **विस्तार और सीमाएँ** : पिछले अध्याय में नागरी-सुधार के प्रयत्नों का विवरण देते समय यह बताया जा चुका है कि नागरी के कुछ नए स्वरूप संपरीक्षणात्मक रूप में प्रचलित हुए; उनका जो प्रभाव स्थायी रूप से नागरी पर रह गया है, उसे भी वर्तमान नागरी के समाज-स्वीकृत स्वरूप के अन्तर्गत मानना होगा ।

इसके विपरीत जैन-शैली की भाँति सेवाग्राम की नागरी सामान्य नागरी से बहुत भिन्न है और उसका प्रयोग कुछ विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा लगातार किये जाने पर भी नागरी की सामान्य धारा से कटा हुआ है, अतः वह वर्तमान नागरी के समाज-स्वीकृत स्वरूप का अंग नहीं है ।

मराठी के स्वरों के मूल रूप उत्तर भारत की नागरी से भिन्न हैं, किन्तु मराठी की नागरी उस भाषा के लिए शताब्दियों से चली आ रही है और पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र में उसकी मान्यता है, अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती । इस समस्या के समाधान के लिए 'अ' के साथ मात्राएँ लगाकर बनने वाले मराठी के स्वर-संकेतों को वर्तमान नागरी में विकल्पित संकेतों के रूप में रखा जा सकता है । उन्हें इस रूप में स्वीकृत करने का एक कारण यह भी है कि नागरी-सुधार के प्रयत्नों में उन्हें अनेक विद्वानों एवं समितियों ने प्रस्तुत किया है ।

एक ओर तो प्रतिसंस्कृत-लिपि जैसे नागरी के कुछ रूप हैं, जिन्हें सुझाव के रूप में प्रस्तुत किया गया किन्तु कभी क्रियात्मक रूप में अपनाया ही नहीं गया, दूसरी ओर नरेन्द्रदेव समिति की नागरी की इकार की मात्रा-जैसे वे रूप हैं जिन्हें अपनाकर भी सदा के लिए त्याग दिया गया । इन दोनों प्रकार के रूपों को वर्तमान नागरी के अन्तर्गत रखना उचित नहीं है । उन्हें क्रमशः **'अनागत'** तथा **'मृत'** कहा जा सकता है ।

इन सुधारों के कारण जो रूप प्रायः स्वीकृत होने लगे हैं (जैसे 'द्य' के स्थान पर 'द्‌य') वे तो वर्तमान नागरी के अन्तर्गत हैं ही, जिन संकेतों को अशुद्ध नहीं माना जाता (जैसे 'क्ष' के लिए 'क्‌ष'), उन्हें विकल्प रूप में रखा जा सकता है ।

१४:२ : **वर्तमान नागरी की संकेत सूची** : नागरी के ध्वनि संकेतों का विकास जिस ऐतिहासिक क्रम में हुआ है, उसके अनुसार माना जाना चाहिए कि आधार भाषाओं (परिवर्धित देवनागरी के प्रयोग के कारण सभी भारतीय भाषाओं) को ध्वनिग्रामों में बाँटकर प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए (परम्परा से प्राप्त किसी-किसी मृत,

अनिश्चित अथवा अस्पष्ट ध्वनि ग्राम के लिए भी) एक-एक संकेत निश्चित किया है। इस प्रकार भाषित की न्यूनतम इकाई 'ध्वनिग्राम' नागरी-संकेतों का आधार-अवयव है। प्रत्येक ध्वनिग्राम के लिए पहला संकेत आधार-संकेत का मूलरूप है। इसे प्रायः 'वर्ण' कहा जाता है और इनके समूह को 'वर्णमाला' कहा जाता है।

नागरी की संकेत-सूची इन तथाकथित वर्णों या उनसे बनी 'वर्णमाला' तक ही सीमित नहीं है। नागरी में इन मूल संकेतों को संयोजित करके लिखा जाता है। संयोजन के विशेष नियम हैं। उन नियमों के आधार पर **आधार-संकेतों** के तीन वर्ग बनाए जा सकते हैं —

(१) उत्तर-संयुज्य संकेत (स्वर)
(२) पूर्व-संयुज्य संकेत (व्यंजन)
(३) असंयुज्य संकेत (अयोगवाह)

संयोजन के लिए स्वर-संकेत नया रूप धारण करते हैं, जिसे स्वर का मात्रा-रूप कहते हैं। यह स्वर के मूलरूप की तुलना में **विकृत** रूप है किन्तु संयोजन के लिए व्यंजन का मूल रूप और स्वर का मात्रा-रूप—दोनों **आधार-संकेत** का कार्य करते हैं।

व्यंजन व्यंजन के साथ संयोजित होने के लिए रूप बदल सकता है। कुछ भाग खोने पर वह व्यंजन का '**संक्षिप्त रूप**' हो जाता है जैसे—'व' से 'च' या 'क' से 'क'। ये व्यंजन के मूलरूप की तुलना में विकृत रूप हैं किन्तु जब दो व्यंजनों को संयोजित करना होता है तो पहले व्यंजन का संक्षिप्त रूप और दूसरे व्यंजन का मूल रूप—दोनों आधार-संकेत का कार्य करते हैं।

कुछ व्यंजन '**गोल**' कहे जाते हैं। उनमें अन्त या मध्य में पाई नहीं है। उनका संक्षिप्त रूप नहीं बनाया जा सकता उन्हें स्वर-रहित बनाने के लिए उनके नीचे हलन्त-संकेत लगाया जाता है। तब उसका स्वर-रहित विकृत रूप बनता है और वह पृथक् रूप से लिखा जाता है। ये ड्, ट् जैसे विकृत रूप अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण आधार-संकेत हो जाते हैं।

ज्ञ, श्र-जैसे कुछ 'संयुक्त व्यंजन' नाम से प्रसिद्ध विकृत रूप भी हैं। इनमें संयोजित आधार-संकेत दृष्टिगोचर नहीं होते, अतः ये नितान्त नए संकेत हैं, जिनका तथाकथित 'वर्णमाला' से कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके साथ मात्रा का संयोजन या इनका संक्षिप्तीकरण करते समय ये भी व्यंजनों के मूल रूपों की भाँति आधार-संकेत हो जाते हैं।

अयोगवाह-वर्ग में प्रायः अनुस्वार और विसर्ग तो गिनाए जाते हैं, किन्तु अनुनासिकत्व (चन्द्र-बिन्दु) का 'वर्णमला' के किसी वर्ग में उल्लेख नहीं किया जाता, जबकि उसका लिपि में प्रयोग अधिकांश लोग करते हैं। इन तीनों संकेतों में से केवल विसर्ग ही नागरी में असंयुज्य संकेत है। अनुनासिकत्व (चन्द्र-बिन्दु) और अनुस्वार (बिन्दु) अक्षर बनाते समय मूल स्वर या उसकी मात्रा के क्षेत्र में **संग्रथित** होते हैं, अतः लैपिक दृष्टि से वे **संयोजित** होते हैं।

किसी अक्षर में लिखे दो या अधिक आधार-संकेतों को **खड़े दण्ड से** विभाजित किया जा सके तो उनका प्रयोग **असंयोजित** माना जाता है और **खड़ा दण्ड (पाई)** उन्हें स्वतन्त्र प्रयोग के अनुकूल विभाजित न कर सके तो उनका प्रयोग **संयोजित** माना जाता है। उदाहरण के लिए 'गुप्त' को **दंडच्छेदन** द्वारा 'गु। ɒ। त।' तीन अक्षरों में विभाजित किया जा सकता है। (भाषा-विज्ञान के 'सिलेबल' के पर्याय 'अक्षर' से यहाँ कोई तात्पर्य नहीं है। यहाँ प्रयुक्त 'अक्षर' नितान्त लैपिक शब्द है, जिसकी विस्तृत व्याख्या प्रबन्ध के पहले खण्ड में की जा चुकी है।) इस आधार पर 'ग्+उ' संयोजित रूप में प्रयुक्त हुए हैं, शेष दोनों अक्षर असंयोजित हैं। 'त्+अ' को संयोजित नहीं मानना चाहिए क्योंकि नागरी की प्रकृति के अनुसार 'त' (अ-सहित) ही व्यंजन के संकेत का मूल रूप है, 'त्' या 'ꞇ' तो उसके विकृत-रूप हैं। इसी आधार पर 'अं' और 'अँ' में अनुस्वार और अनुनासिकत्व संयोजित हुए हैं।

संयोजन के जटिल नियमों के कारण नागरी के आधार-संकेतों की सूची भी बहुत ही लम्बी हो जाती है। उनकी सूची बनाए बिना नियमों के आधार पर उनकी संख्या गिनना ही व्यावहारिक प्रतीत होता है।

इसी आधार पर ध्वनिग्रामों की गणना और उनके लिए नागरी में प्रयुक्त संकेतों की सूची नीचे दी जा रही है।

१४:२:१ : भारतीय भाषाओं के ध्वनिग्राम : नागरी लिपि को सभी भारतीय भाषाओं के लिए समान लिपि के रूप में प्रयुक्त होना हो तो उसे तभी **'सम्पूर्ण'** कहा जा सकता है, जबकि उसमें सभी भारतीय भाषाओं के ध्वनिग्रामों के लिए संकेत हों। भारत की विभिन्न भाषा-भाषियों की मान्यताओं के अनुसार ही उनकी भाषाओं के ध्वनिग्राम स्वीकृत किए जा सकते हैं। 'परिवर्धित देवनागरी' तथा 'भारतीय समान लिपि अरा' पुस्तकों में सभी भारतीय भाषाओं के ध्वनिग्रामों को सूचीबद्ध किया गया है।[७] इन स्रोतों के अनुसार भारतीय भाषाओं के ध्वनिग्रामों की सूची निम्नलिखित है —

स्वर

संस्कृत से आए हुए—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ

—कुल १४ ध्वनिग्राम

अन्य भारतीय भाषाओं के—अ १, आ १, उ १, ऊ १, इ १।२, उ १।२ (छहों काश्मीरी के), ए १, ओ १ (दक्षिण भारतीय भाषाओं के ह्रस्व स्वर), ऐ १, औ १ (अंग्रेजी के दो स्वर)

—कुल १० ध्वनिग्राम

स्वरांश

सभी स्वरों को अनुनासिक बनाने के लिए विशेष संकेत
अनुनासिकत्व (ँ)

—कुल १ ध्वनितत्त्व

अयोगवाह

जो व्यंजन हैं किन्तु उनके पश्चात् स्वर नहीं बोला जाता।

अनुस्वार (ं), विसर्ग (ः)

—कुल २ ध्वनिग्राम

व्यंजन

संस्कृत से आए हुए—क से ह तक 'हल्'

—कुल ३३ ध्वनिग्राम

अन्य भारतीय भाषाओं के—अ २, क १, ख १, ग १, ग २, च १, छ १, ज १, ज २, ड १, ड २, ढ १, न १, फ १, व २, र १, र २, ल १, ल २, ह १,

—कुल २० ध्वनिग्राम

स्वरांश और अयोगवाह को 'मध्यक' वर्ग में रखा जाए तो स्वर-वर्ग में २४, मध्यक-वर्ग में ३ (इनमें से ँ एकमात्र ध्वनि तत्व है, किन्तु भारतीय आवश्यकताओं को देखते हुए अन्य ध्वनिग्रामों से अधिक महत्त्वपूर्ण है) और व्यंजन-वर्ग में ५३ ध्वनिग्राम अर्थात् कुल ८० (अस्सी) ध्वनि-ग्राम या ध्वनि-तत्त्व ऐसे हैं जिनके लिए नागरी में संकेत अपेक्षित हैं। यह अपेक्षा-सम्बन्धी निर्णय निम्नलिखित आधारों पर किया गया है—

(१) संस्कृत से प्राप्त स्वर, अयोगवाह एवं व्यंजन ध्वनिग्रामों में से ऌ ॡ, ष जैसे मृत ध्वनिग्रामों पर आपत्ति की जा सकती है, किन्तु जब तक उनका पक्ष लेने वाले व्यक्ति हैं, तब तक लिपि को सम्पूर्ण बनाये रखने के लिए इन 'मृत' ध्वनिग्रामों के लिए भी संकेत अपेक्षित हैं। संकेत होने पर इच्छानुसार उनका प्रयोग विकल्पित किया जा सकता है अथवा समाप्त किया जा सकता है; जैसे ग्वङ् या प्रणव-संकेत का प्रयोग अब समाप्त हो गया है। संकेत के अभाव में लिपि 'असम्पूर्णता' के दोष के कारण अयोग्य या कम-से-कम निम्नस्तरीय ठहराई जा सकती है। इस प्रकार संस्कृत के कारण स्वर, अयोगवाह और व्यंजन मिलाकर १४+२+३३ (कुल ४९) अपेक्षित ध्वनिग्राम हैं।

(२) अनुनासिकत्व-संकेत, ड १ (अर्थात् 'ड़'), ढ १ (अर्थात् 'ढ़') हिन्दी में प्रचलित हैं और इन तीनों के संकेत अनिवार्य माने जाते हैं। इस प्रकार ये ३ अपेक्षित ध्वनियाँ हैं।

(३) अन्य भारतीय भाषाओं के स्वरों में से छः काश्मीरी स्वर (चित्र १३:५ की पंक्ति ४ के प्रथम छः संकेत) तथा दो दक्षिण भारतीय भाषाओं के ह्रस्व स्वर (चित्र १३:५ की पंक्ति के प्रथम दो संकेत) परिवर्धित देवनागरी की निर्मात्री समिति द्वारा स्वीकृत हैं[8] तथा संवद्ध भाषाओं में प्रचलित हैं अतः निर्विवाद रूप से अपेक्षित ध्वनिग्राम हैं।

(४) दो नए स्वर 'ऐ १' तथा 'ओ १' नाम से सूची में दिखाए गए हैं। ये अंग्रेज़ी भाषा के PEN और GOD शब्दों के मध्य में क्रमशः विद्यमान हैं। प्रथम (ऐ १) को लिखने की व्यवस्था नागरी में नहीं है। द्वितीय (ओ १) को 'ऑ' के रूप में 'डॉक्टर' इत्यादि शब्दों में लिखने का प्रचलन है। ये दोनों ध्वनियाँ भारतीय भाषाओं में अपना ली गई हैं। इनके कारण अर्थ-भेद होता है, अतः ये ध्वनिग्राम हैं। अंग्रेज़ी के PET और हिन्दी के 'पेट' शब्द को पृथक्-पृथक् रूप से लिखने की आवश्यकता है। यह वास्तविक युग्म का उदाहरण है जो अर्थ-भेद स्पष्ट करता है। इसी प्रकार हॉल (HALL) और हाल (स्थिति) वास्तविक अर्थ-भेद सूचक युग्म का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। ऐसे कई अंग्रेज़ी के शब्द न केवल भारतीय भाषाओं में प्रचलित हो गए हैं, बल्कि भारतीय भाषाओं ने उनका तत्सम उच्चारण भी अपना लिया है। परिणामतः उनके लेखन की व्यवस्था करना भी अनिवार्य हो गया है। अतः ये दो स्वर भी अपेक्षित ध्वनिग्राम हो गए हैं।

(५) अन्य भारतीय भाषाओं के व्यंजनों में से अ २ (उर्दू का ऐन) परिवर्धित देवनागरी के लिए स्वीकृत है।[६]

(६) क १, ख १, ग१, ज १, फ १ पहले से ही क़, ख़, ग़, ज़, फ़ के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

(७) च १, छ १ (चित्र १३:५, पंक्ति ३ के प्रथम दो संकेत) परिवर्धित देवनागरी में रेखांकित च, छ के रूप में रखे गए हैं, ये दंत्य, संघर्षीय च, छ काश्मीरी और तेलुगु में प्रयुक्त होते हैं। इस 'च १' का प्रयोग मराठी में भी होता है किंतु लेखन में प्रचलित न होने के कारण उस भाषा का 'ध्वनिग्राम' नहीं है। काश्मीरी और तेलुगु में इनकी अनिवार्य अपेक्षा है।

(८) ग २, ज २, ड २, ब २ को परिवर्धित देवनागरी में रेखांकित ग, ज, द, ब के रूप में रखा गया है। सिंधी के लिए ये चारों अंतःस्फुट व्यंजन अनिवार्यतः अपेक्षित हैं।

(९) ड १ तथा ढ १ (अर्थात् ड़, ढ़) की अपेक्षा ऊपर (२) में बताई जा चुकी है।

(१०) न १, र १,—तमिल और मलयालम की विशेष ध्वनियाँ हैं, जिन्हें परिवर्धित देवनागरी में रेखांकित न, र से लिखा जाता है (दे० चित्र १३:५, पंक्ति ३, संकेत ९, १०)।

(११) र २ मलयालम का इट्टा संकेत है। (दे०—चित्र १३:५, पं० ३, संकेत ११)।

(१२) ल १ गुजराती, मराठी तथा दक्षिण भारत की चारों भाषाओं में प्रचलित विशेष ळ है। परिवर्धित देवनागरी ने इसके लिए मराठी का संकेत अपनाया है, जो चित्र १३:५ की पंक्ति २ के संकेत ११ में दिखाया गया है।

(१३) ल २ तीन भाषाओं के विशेष ध्वनियों के लिए माना गया एक

ध्वनिग्राम है। एक ध्वनिग्राम में मिलती-जुलती वे सभी संध्वनियाँ सम्मिलित होती हैं, जिनके कारण अर्थभेद नहीं होता। उर्दू की एक ध्वनि 'ये' (जिससे याला, याल इत्यादि लिखे जाते हैं, जो 'रे' वर्ग की तीन बिंदुओं वाली 'ये' कहलाती है) है, इसे परिवर्धित देवनागरी में 'झ' के नीचे बिंदु लगाकर लिखा जाता है (दे०—चित्र १३:५, पंक्ति २, संकेत ६)। तमिल की एक ध्वनि स्वयं 'तमिल' शब्द की अंतिम ध्वनि है। इसका उच्चारण भी लगभग उर्दू की उक्त ध्वनि के समान है। इसे परिवर्धित देवनागरी में मराठी-ळ के नीचे रेखा लगाकर लिखा जाता है (दे०— चित्र १३:५, पंक्ति २, संकेत १२)। मलयालम की एक ध्वनि भी इसी के समान है। परिवर्धित देवनागरी में इसे 'प' के नीचे बिंदु लगाकर लिखा जाता है (दे०—चित्र १३:५, पंक्ति २, संकेत १०)। इन तीनों संध्वनियों को सामूहिक रूप से निम्नलिखित कारणों से एक ही ध्वनिग्राम माना जा सकता है—

(क) इन तीनों की ध्वनि अंग्रेज़ी के Measure शब्द के 'एस' के उच्चारण से मिलती है।

(ख) तीनों भाषाओं की आदर्श ध्वनियों में इतना कम अंतर है कि एक की ध्वनि दूसरी भाषा में अशुद्ध नहीं मानी जाती।

(ग) तीनों भाषाओं के इन ध्वनियों के उच्चारणों में किसी एक भाषा में एक समय में एक उच्चारण ही प्रयुक्त होता है।

स्पष्ट है कि समान लिपि में इनका एक संकेत होने पर प्रत्येक भाषा-भाषी उसे अपनी भाषा के उच्चारण से ही पढ़ेगा, अतः इनके लिए केवल एक संकेत अपेक्षित है, इसीलिए लैपिक आवश्यकतानुसार इसे एक ध्वनिग्राम माना जा सकता है।

(१४) ह १ 'मुहम्मद' शब्द में उच्चरित अरबी का 'ह' है जो जीम वर्ग का नुक्ताहीन संकेत है। परिवर्धित देवनागरी में इसे विशेषक संकेत (डायाक्रिटिकल मार्क) के बिना नागरी के प्रचलित 'ह' से ही लिखा गया है, जिसका अर्थ यह है कि इसे स्वतंत्र ध्वनिग्राम नहीं माना गया। इस लेखक ने स्थान-स्थान के उर्दू-भाषियों के उच्चारण को प्रत्यक्ष तथा टेप की सहायता से सुनकर विश्लेषित किया और पाया 'ह १ लाल' एवं 'हलाल' जैसे युग्म उनके उच्चारण में विद्यमान हैं। लेखन में तो पृथक् संकेत है ही। उर्दू के कई संकेत अतिरिक्त, अपविस्तार या मृत घोषित किए जा सकते हैं किंतु अ़, क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ह़—ये सात विशिष्ट उच्चारण अभी जीवित हैं। ह १ का 'मुह१म्मद' (सल्लल्लाहु अलैहि व सल्लम) साहब के नाम में आना उसके जीवित रहने का विशेष कारण है और इस ध्वनि का जीवन दीर्घ प्रतीत होता है। अतः इसे भारतीय समान लिपि में पृथक् ध्वनिग्राम मानना हानिकर नहीं है। जो लोग इसे अनावश्यक समझें, वे इसका प्रयोग छोड़ सकते हैं।

१४:२:२ : **नागरी की वर्तमान अंकन-पद्धति** : नागरी की वर्तमान अंकन-पद्धति बहुत कुछ नियमित होते हुए भी पर्याप्त जटिल है। उदाहरण के लिए 'इंद्र'

शब्द लिया जाए। इसे यहाँ चित्र १४:१ में पाँच लिपियों में लिखा गया है। लिपियों के नाम प्रथम पंक्ति के बाएँ से दाहिने को लिखे शब्दों के अनुसार इस प्रकार हैं—

चित्र १४:१

स्तम्भ १. नागरी : पंक्ति-२ में विकल्प कोष्ठक में हैं, पंक्ति-३ में **वर्तनी** (अर्थात् उच्चारण के क्रम से पृथक्-पृथक् ध्वनिग्राम-संकेत मूल रूप में हैं।)

स्तम्भ २. आई० पी० ए० : तथाकथित अंतर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि; इसे लिखा भी इसी रूप में जाएगा; इसके बदले 'कैपिटल' या किसी अन्य शैली के संकेत प्रयुक्त नहीं होंगे; यह रोमन नहीं है)।

स्तम्भ ३. रोमन, कैपिटल : इसे छापने की 'कैपिटल' (पंक्ति-१) और 'स्माल' (पंक्ति-२) अक्षरों की और लिखने की 'कैपिटल' और 'स्माल' शैलियों के अक्षरों की पद्धति भी अपनाई जा सकती है; अन्य कलात्मक शैलियाँ भी प्रचलित हैं। चित्र में केवल छापने के संकेत दिखाए गए हैं। अन्य शैलियाँ नहीं दिखाई गई।

स्तम्भ ४. उर्दू : इस शब्द में यह 'फारसी लिपि' भी कही जा सकती है, वैसे उर्दू में कुछ भारतीय ध्वनियों के भी संकेत हैं, जो फारसी लिपि में नहीं हैं। यहाँ (पंक्ति-१ में) वे सब 'हरकतें' (अतिरिक्त संकेत) लगाई गई हैं, जिन्हें 'व्याकरण' के अनुसार लगाया जाना चाहिए किन्तु व्यवहार में लगाया नहीं जाता। इसे जिस रूप में प्रायः लिख दिया जाता है, वह रूप पंक्ति-२ में दिखाया गया है। पंक्ति-३ का शब्द संयोजित मूल संकेत दिखाता है।

स्तम्भ ५. अरा : (बाएँ से दाएँ रोमन की तरह पढ़ी जाने वाली भारतीय मूल की लिपि) दूसरी पंक्ति में इसके संकेतों को अलग-अलग करके दिखाया गया है।

इस चित्र के शब्दों की तुलना करने पर इन लिपियों के लेखन में संयोजन की स्थिति का का अनुमान लग सकता है। प्रत्येक लिपि के विशेष द्रष्टव्य नियम इस प्रकार हैं—

संकेत १ नागरी

प्रथम पंक्ति का अंकित **संयोजित लेखन** के परिणामस्वरूप **संग्रथित** करके लिखा गया है। इसके लिए पाँच मूल संकेत अपेक्षित थे—इ न् द् र् अ किन्तु नागरी

के पास केवल 'इ' और 'अ' ही मूल संकेत थे; न, द, र के लिए अ-सहित संकेत थे। इनको भी दूसरा रूप देकर और ऊपर-नीचे लिखकर जिस रूप में 'इंद्र' शब्द बनाया गया है, उसमें केवल 'इ' और 'द' ही मूल रूप में दिखाई देते हैं। इन पर भी कुछ अन्य संकेत जोड़े गए हैं। वे इनके क्षेत्र में घुसे हैं। अनुस्वार 'इ' के क्षेत्र में है। दण्डच्छेदन[10] द्वारा इस शब्द के दो अक्षर प्राप्त होते हैं—इं। द्र। इनमें 'अनुस्वार' और 'इ' **संग्रथित** हैं और 'द' और '्र' संग्रथित हैं।

वास्तव में नागरी के लेखन में मूल संकेतों का ही सर्वत्र प्रयोग नहीं होता। कुछ ऐसे संकेत भी लेखन में प्रयुक्त होते हैं जो 'वर्णमाला' का अंग नहीं होते। ये विकृत संकेत ही नहीं, कभी-कभी तो अपने आप में निरर्थक होते हैं और अन्य संकेतों के साथ मिलने पर उनकी अभिव्यक्ति बदल देते हैं। जैसे भाषा में प्र, वि इत्यादि उपसर्ग 'हार', 'कार' इत्यादि शब्दों के साथ संयुक्त होने पर उनके अर्थों को बदल डालते हैं, इसी प्रकार नागरी में बिंदु, छत्र, पूँछ-जैसे कुछ आधार-संकेत ऐसे हैं जो अपने आप में निरर्थक होकर भी ड, इ, उ इत्यादि के साथ संयोजित अथवा संग्रथित होकर उनकी अभिव्यक्ति बदल सकते हैं। 'ड' के साथ बिंदु संयोजित होकर 'ङ' और संयोजित तथा संग्रथित होकर 'ड़' बना सकता है।

उक्त आधार पर नागरी के संकेतों को (भाषा-विज्ञान के ध्वनिग्राम से हटकर, केवल रेखाओं से बनी उनकी आकृति पर विचार करते हुए) जिन छोटे-से-छोटे संकेतों में विभाजित किया जा सकता है, उन्हें न्यूनतम आधार-संकेत मानकर उनकी सूची तैयार की जा सकती है। इस सूची को किस विधि से प्रयोग करके वर्तमान-नागरी में संयोजित अक्षर बनाए जाते हैं और उनका भाषा-विज्ञान द्वारा निर्णीत ध्वनिग्रामों को अभिव्यक्त करने का कार्य कहाँ तक वैज्ञानिक और उपयोगी है, इसका परीक्षण किया जा सकता है।

संकेत २ : आई० पी० ए०

सभी संकेत पृथक्-पृथक् हैं। दंडच्छेदन द्वारा पाँच ही अक्षर प्राप्त होंगे। अतः संयोजन या संग्रथन का प्रश्न नहीं है।

संकेत ३ : रोमन

संयोजन नहीं है। पंक्ति २ के शब्द २ के अनुसार इसका अन्य रूप भी संभव है। दंडच्छेदन द्वारा उसमें भी पाँच ही अक्षर प्राप्त होते हैं। लेखन में संयोजन होता है किन्तु संग्रथन वहाँ भी नहीं होता।

संकेत ४ : उर्दू

यह दाहिने से बाएँ को लिखी-पढ़ी जाती है। पंक्ति-२ में इसका 'प्रायः लिखा जाने वाला' रूप दिखाया गया है, पंक्ति-३ में दाहिने से बाएँ वे न्यूनतम आधार-संकेत दिखाए गए हैं, जिन्हें संयोजित और संग्रथित करके उर्दू का 'इन्द्र' शब्द लिखा गया है।

नागरी के साथ तुलना करने पर ज्ञात होता है कि इस लिपि में नागरी से भी अधिक जटिल संयोजन पद्धति अपनाई गई है।

संकेत ५ : अरा

यह बाएँ से दाहिने को रोमन की तरह पढ़ी जाती है। इसमें 'इ', 'न्' द्—तीनों संकेत अपने मूल रूप में विद्यमान हैं। 'र्' और 'अ' का संयोजन हुआ है किन्तु संग्रथन नहीं हुआ। दंडच्छेदन द्वारा उसके दोनों अक्षर अपने मूल रूप में पृथक् हो सकते हैं।

इस तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि नागरी के संकेतों को उनकी आकृति के आधार पर उन छोटे से छोटे संभव आकारों में विभाजित करके सूचीबद्ध करने की आवश्यकता है, जिनके संयोजन तथा/अथवा संग्रथन द्वारा नागरी के अक्षर बनाये जाते हैं। आगे इसी आधार पर नागरी के न्यूनतम आधार-संकेतों को संकलित किया गया है।

१४:२:२:१ : **न्यूनतम आधार-संकेत** : नागरी के न्यूनतम आधार-संकेतों के दो वर्ग बनाए जा सकते हैं—

(१) मूल आधार-संकेत, यही प्रायः 'वर्णमाला' नाम से प्रसिद्ध हैं।

(२) अन्य आधार-संकेत, इनमें मूल-आधार-संकेतों के विकृत रूप अथवा विकार उत्पादक न्यूनतम आधार-संकेत सम्मिलित हैं।

नागरी के इन सभी न्यूनतम आधार-संकेतों की सूची इस प्रकार है—

मूल आधार-संकेत

अ इ उ ऋ ए   क ख ग घ च
छ ज झ ञ ट   ठ ड ढ ण त
थ द ध न प   फ ब भ म य
र ल व श ष   स ह ळ ं ः

—कुल ४०

अन्य आधार-संकेत

(१) विकृत :

क्ष त्र ज्ञ श्र (तथा 'द्य' इत्यादि—जैसे कई अन्य)

...कुल संख्या अज्ञात

(२) विकारोत्पादक :

	१	२	३	४	५	...	६	७	८	९	१०
१...	ा	ॅ	ि	ु	ी	...	े	ो	ृ	ै	।
२...	ौ	.	़	॰	—	...	ँ	.	्र	^	'
३...	ॅ	-	्	ॢ	ॣ	...	f	+			

—कुल २७

विकारोत्पादक संकेतों के नाम और उपयोग क्रमश: निम्नलिखित हैं—

१.१. 'आ' की मात्रा, मध्य तल, 'आ', 'का' इत्यादि में संयोजित
१.२. 'छत्र' या 'रेफ' ऊपरी तल, 'ई', 'र्फ' इत्यादि में संग्रथित
१.३. 'इ' की मात्रा, ऊपरी और मध्य तल, 'कि', 'पि' इत्यादि में संग्रथित
१.४. 'ऋ' की मात्रा, निचला तल, 'पृ', 'पृ' इत्यादि में संग्रथित
१.५. 'ई' की मात्रा, ऊपरी और मध्य तल, 'की', 'ली' इत्यादि में संग्रथित
१.६. 'ए' की मात्रा, ऊपरी तल, ऐ, वे इत्यादि में संग्रथित
१.७. 'ओ' की मात्रा, ऊपरी तथा मध्य तल, 'ओ', 'को' इत्यादि में संग्रथित
१.८. 'ऊ' की पूँछ, मध्य तल, 'ऊ', 'रु' इत्यादि में संग्रथित
१ ९ 'ऐ' की मात्रा, ऊपरी तल, 'पै', 'सै' इत्यादि में संग्रथित
१.१०. ऊपरी खड़ी पाई, ऊपरी तल, परिवर्धित नागरी में काश्मीरी स्वरों के मूल रूप और उनके मात्रा रूप बनाने के लिए संग्रथित : देखिए चित्र १३:५ की पंक्ति ४

२.१. 'औ' की मात्रा, ऊपरी और मध्य तल, 'औ', 'पौ' इत्यादि में संग्रथित
२.२. नीचे बिंदु; निचला तल, 'ड़', 'ऩ' इत्यादि में संग्रथित
२.३. हलंत-संकेत, निचला तल, 'त्', 'म्' इत्यादि में संग्रथित
२.४. नीचे शून्य, निचला तल, काश्मीरी के उ १।२ तथा इ १।२ के मूल रूप तथा मात्रा रूप बनाने के लिए संग्रथित, देखिए चित्र १३:५
२.५. नीचे रेखा (रेखांकन), निचला तल, 'ग', 'ज' इत्यादि विशेष ध्वनियों के संकेतन के लिए ग, ज के नीचे संग्रथित, देखिए चित्र १३:५
२.६. अनुनासिकत्व (चंद्र-बिंदु), ऊपरी तल, 'माँ', 'हुँ' इत्यादि में संग्रथित
२.७. दाहिने बिंदु, मध्य तल, 'ङ' में दाहिने संयोजित
२.८. पैर में 'र', मध्य तल, 'प्र', 'व्र' इत्यादि में संग्रथित
२.९. पैर में 'द्विपद र', निचला तल, 'ट्र', 'ड्र' इत्यादि में संग्रथित
२.१०. एपास्ट्राफ़ी (ऊपरी कामा), ऊपरी तल, परिवर्धित देवनागरी में ह्रस्व ए की मात्रा के लिए संग्रथित, देखिए चित्र १३:५

३.१. बिंदुहीन चंद्र, ऊपरी तल, डॉ, ऍ इत्यादि में संग्रथित
३.२. योजक, मध्य तल, क, -य (र्‌य) इत्यादि में संग्रथित
३.३ 'उ' की मात्रा, निचला तल, 'सु', 'दु' इत्यादि में संग्रथित
३.४. 'ऊ' की मात्रा, निचला तल, 'कू', 'हू' इत्यादि में संग्रथित
३.५. मध्य तलीय 'ऊ' की मात्रा, मध्य तल, रूप, रूठना इत्यादि में 'र' में संग्रथित
३.६. ह्रस्व 'ओ' की मात्रा, ऊपरी और मध्य तल, मात्रा रूप में संयोजित देखिए चित्र १३:५ वहाँ शुद्ध है।

३.७. काश्मीरी 'आ' की मात्रा, ऊपरी और मध्य तल, मात्रा रूप में संयोजित
देखिए चित्र १३:५, पंक्ति ४, संकेत ८

ऊपर दी गई तालिका-बद्ध सूचनाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि इन २६ विकारोत्पादक आधार-संकेतों में से १.१ ('आ' की मात्रा), २.७ (दाहिने बिंदु), ३.६ (ह्रस्व 'औ' की मात्रा) तथा ३.७ (काश्मीरी 'आ' की मात्रा) ही चार ऐसे संकेत हैं जो संयोजित होते समय संग्रथित नहीं होते, शेष सभी संयोजित होते समय संग्रथित हो जाते हैं अर्थात् वे मूल संकेत में इस प्रकार मिश्रित हो जाते हैं कि दंडच्छेदन द्वारा उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता। इस संग्रथन के कारण नागरी में अनेक प्रकार के अक्षर बनते हैं। नीचे नागरी के संयोजित अक्षरों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१४:२:२:२ : **संयोजित अक्षर** : नागरी के संयोजित अक्षर[११] कई प्रकार से बनते हैं। कुछ मूल संकेत आधार-संकेत बनते हैं। इनका क्रमिक विवेचन एक-एक नियम के आधार पर किया जा रहा है।

१४:२:२:२:१ : **स्वर का मूल-रूप** : अ इ उ ऋ और ए पाँच स्वर मूल संकेतों से लिखे जाते हैं। ये पूर्ण अक्षर का कार्य करते हैं।

१४:२:२:२:२ : **संयोजित-आकृति-वाले स्वर का मूल-रूप** : इनके कई वर्ग हैं—

(क) उक्त पाँचों से आ, ई, ऊ, ॠ, ऐ, ओ, औ ये सात संयोजित आकृति वाले स्वर बनाए जाते हैं। इनमें उक्त-१ के स्वरों के मूलरूपों में विकारोत्पादक आधार-संकेत संयोजित किए गए हैं। केवल 'आ' की मात्रा संयोजित करते समय पृथक् रहती है, शेष सभी संयोजित विकारोत्पादक संग्रथित हो जाते हैं। ये सात नए स्वर भी स्वरों के मूलरूप हो जाते हैं और इनके भी विकृत रूप बनते हैं। ये सातों परम्परागत स्वर हैं।

(ख) 'ल' में 'ऋ' की मात्रा क्रमशः एक बार और दो बार (ऊपर-नीचे) संयोजित और संग्रथित करके परम्परागत 'ऌ' के ह्रस्व और दीर्घ रूप बनाए जाते हैं। आकृति में वे भी संयोजित आकृति वाले और प्रयोग में स्वर के मूलरूप माने जाते हैं किन्तु वे उक्त-१ तथा २ (क) वर्ग में सूचीबद्ध १२ स्वरों से इस दृष्टि से भिन्न हैं कि उन बारह में से प्रत्येक का मात्रा रूप भी होता है जो अन्य व्यंजनादि मूलरूपों से संयोजित होता है। इसके विपरीत 'ऌ' के ये दोनों ह्रस्व और दीर्घ मूलरूप केवल अविकृत रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। उनकी मात्रा नहीं होती।

(ग) अखिल भारतीय भाषाओं की आवश्यकतानुसार परिवर्धित नागरी ने अ १, आ १, उ १ तथा ऊ १ के लिए अ, आ, उ तथा उ पर 'ऊपर खड़ी पाई' (विकारोत्पादक १.१०) संग्रथित करके तथा 'इ १।२' और 'उ १।२' के लिए इ, उ के नीचे शून्य (विकारोत्पादक २.४) लगाकर चित्र १३:५, पंक्ति ४ के प्रथम छः संकेत बनाए। इसी प्रकार ह्रस्व ए (ए १) के लिए 'ए' पर 'बिन्दुहीन चन्द्र' (विकारोत्पा-

दक ३.१) संग्रथित करके तथा 'आ' पर 'एपास्ट्राफ़ी' (विकारोत्पादक २.१०) संग्रथित करके ह्रस्व ओ (ओ १) के लिए निर्मित आकृति वाला स्वर का मूल रूप बनाया। इस वर्ग के ये आठ स्वर भी स्वरों के मूल रूप हैं और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उक्त-१ तथा उक्त-२ (क) के १२ संकेतों की तरह ही समर्थ एवं महत्वपूर्ण हैं।

(घ) भारतीय भाषाओं के ध्वनिग्राम सूचीबद्ध करते समय हमने दो अंग्रेजी से प्राप्त स्वर-ध्वनिग्राम सूचीबद्ध किए थे। उनमें से 'पी-ई-एन' की 'ई' की ध्वनि को नागरी में प्राय: 'ए' से लिखा जाता है। जैसे 'ESSO' कम्पनी को 'एस्सो' कम्पनी। कहीं-कहीं आक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुकरण में 'ऍ' ('ए' पर बिंदुहीन चन्द्र) का प्रयोग होता है। क्योंकि 'ए' पर बिंदुहीन चन्द्र ह्रस्व ए का भी संकेत है, अतः यह संकेत नया नहीं है। अभी यही मानना चाहिए कि इस ध्वनि को विशिष्टता से लिखने की नागरी में व्यवस्था नहीं है।

'आ' पर बिंदुहीन चन्द्र संग्रथित करके अंग्रेजी के 'जी-ओ-डी' में से 'ओ' की विशिष्ट ध्वनि का संकेतन नागरी में पर्याप्त प्रचलित है। अत: यह स्वर इस मूलरूप में इ, ई इत्यादि परम्परागत स्वरों जितना ही समर्थ हो चला है। इस कड़ी में यह इक्कीसवाँ स्वर है।

१४:२:२:२:३ : **स्वरों के मात्रा रूप** : नागरी के प्रत्येक स्वर के सिद्धान्ततः दो रूप होते हैं—मूलरूप और मात्रा रूप। मूल रूप में वह स्वतंत्र अक्षर होता है और उसके पश्चात् केवल तीन संकेत संयोजित होते हैं—अनुनासिकत्व, अनुस्वार और विसर्ग।

मात्रा-रूप में वह विकृत-रूप धारण करता है। सिद्धान्ततः यह स्वर के मूल-रूप का नितान्त नया रूप होता है किन्तु आकृति-विश्लेषण से उनमें से कई स्वर के मूलरूप का कोई अंश भी सिद्ध होते हैं।

प्रत्येक स्वर का मात्रा-रूप निश्चित है। वह व्यंजन के मूल रूप के साथ या 'संयुक्त-व्यंजन' के आधार-संकेत के साथ संयोजित होता है। इसके संयोजन की विधि निश्चित है, वह विधि मात्र-संयोजन (जैसे च+ा=चा) या संग्रथित (जैसे व+ृ =वृ) हो सकती है। प्रत्येक मात्रा-रूप निश्चित स्थान पर ही संयोजित होता है। वह स्थान ऊपरी, मध्य और निचले तल में से एक या दो तल तक विस्तृत हो सकता है और बाएँ (पहले), दाहिने (बाद में), ऊपर या नीचे या इनमें से एक साथ एका-धिक दिशाओं में हो सकता है।

अत: स्वरों के मात्रा-रूप के विषय में उनके शुद्ध प्रयोग द्वारा अक्षर बनाने के लिए निम्नलिखित तथ्य जानना भी आवश्यक है—

(१) स्वर का मात्रा रूप (उनकी आकृति)
(२) संयोजन विधि (संयोजित या संग्रथित)
(३) तल
(४) दिशा

पूर्वोक्त २४ स्वरों के मात्रा रूपों की स्थिति निम्नलिखित है—

(१) अ

पृथक् मात्रा नहीं होती। व्यंजन के मूल रूप में 'अन्तर्भूत' माना जाता है।

(२) आ

१. आकृति—विकारोत्पादक १.१ (दे० अनुच्छेद—१४:२:२:१)
२. संयोजन विधि—मात्र संयोजन, संग्रथन नहीं होता।
३. तल—मध्य तल।
४. दिशा—दाहिने; जैसे 'का' में 'ा'।

(इस एक उदाहरण के अनुरूप शेष स्वरों के मात्रा-रूप के विषय में आकृति, संयोजन विधि, तल एवं दिशा को इसी क्रम में १, २, ३ एवं ४ संख्याओं के साथ सूचीबद्ध किया जा रहा है। बार-बार यही शीर्षक लिखना अनावश्यक है।)

(३) इ

१. (१.३) २. संग्रथन ३. ऊपरी और मध्य तल ४. ऊपर और बाएँ

(४) ई

१. (१.५) २. संग्रथन ३. ऊपरी और मध्य तल ४. ऊपर और दाहिने

(५) उ

१. (३.३) २. संग्रथन ३. निचला तल ४. नीचे

(६) ऊ

१. (३.४) २. संग्रथन ३. निचला तल ४. नीचे

(७) ऋ

१. (१.४) २. संग्रथन ३. निचला तल ४. नीचे

(८) ॠ

१. (१.४ दो बार) २. संग्रथन ३. निचला तल ४. नीचे

(९) (१०) ऌ, ॡ

इनके मात्रा रूप नहीं होते।

(११) ए

१. (१.६) २. संग्रथन ३. ऊपरी तल ४. ऊपर

(१२) ऐ

१. (१.९) २. संग्रथन ३. ऊपरी तल ४. ऊपर

(१३) ओ

१. (१.७) २. संग्रथन ३. ऊपरी और मध्य तल
४. ऊपर और दाहिने

(१४) औ

१. (२.१) २. संग्रथन ३. ऊपरी और मध्य तल
३. ऊपर और दाहिने

(१५) अ १

१. (१.१०) २. संग्रथन ३. ऊपरी तल ४. ऊपर

(१६) आ १

१ (३.७) २. संयोजन ३. ऊपरी और मध्य तल ४. दाहिने

(१७) उ १

१. (१.१० तथा ३.३ एक साथ) २. संग्रथन ३. ऊपरी और निचला तल
४. ऊपर और नीचे; दो भागों में

(१८) ऊ १

(१. १.१० तथा ३.४ एक साथ) २. संग्रथन ३. ऊपरी और निचला तल
४. ऊपर और नीचे; दो मात्रा में

(१९) इ १।२

१. (१.३ तथा २.४ एक हाथ) २. संग्रथन ३. ऊपरी, मध्य और निचला तल
४. ऊपर, बाएँ और नीचे

(२०) उ १।२

१. (२.४ तथा ३.३ एक साथ) २. संग्रथन ३. निचला तल
४. दोनों नीचे संग्रथित होते हैं, व्यंजन के नीचे २.४ और उसके नीचे ३.३ विकारोत्पोदक संग्रथित किया जाता है।

(२१) ए १

१. (२.१०) २. संग्रथन ३. ऊपरी तल ४. ऊपर

(२२) ओ १

१. (३.६) २. संयोजन ३. ऊपरी और मध्य तल ४. दाहिने

(२३) ऐ १

नागरी में इसके लिए पृथक् संकेत की व्यवस्था नहीं है, अतः ऊपर (११) वें क्रम पर गिनाया गया 'ए' सब प्रकार इसका प्रतिनिधित्व करता है। उसी का मात्रा रूप इसके मात्रा-रूप के लिए भी समझना चाहिए। यहाँ विशिष्ट संकेतन के लिए उसे ऊपर (१२) क्रम पर दिखाए गए ऐ की मात्रा के साथ '१' विशेषक लगाकर दिखाया जाएगा; जेसे Get को 'गे१ट्' या Pen को 'पै१न्' लिखकर। यह 'संकेतन' तो है, किन्तु स्थायी एवं व्यावहारिक न होने के कारण 'लेख-लिपि का संकेतन' नहीं है।

(२४) औ १

१. (१.१ के ऊपर ३.१) २. संयोजन ३. ऊपरी और मध्य तल ४. दाहिने

ये मात्रा रूप २२ होने चाहिएँ, किन्तु (२३)वें स्वर के मात्रा-रूप के अभाव में केवल २१ स्वरों के मात्रा-रूप नागरी में विद्यमान हैं।

ये मात्रा-रूप स्वयं में पूर्ण नहीं कहे जा सकते क्योंकि अन्य किसी संकेत के अभाव में इनका प्रयोग नहीं हो सकता।

ये मात्रा-रूप व्यंजन के साथ संयोजिन करने के लिए आधार-संकेत हैं और इस संयोजन के लिए आधार-संकेत व्यंजन में व्यंजनों के वे गुच्छ भी सम्मिलित हैं जो व्यंजन-वत् संयोजित हो सकते हैं।

आगे की सूचियों में जितने व्यंजन (या व्यंजन-वत् प्रयुक्त होने वाले व्यंजन-गुच्छ) गिनाए गए हैं, उनमें से प्रत्येक के साथ उपरिनिर्दिष्ट विधि से इन स्वर-मात्रा-रूपों को संयोजित करके **'संयोजित अक्षर'** बनाए जा सकते हैं। उनाहरणार्थ, 'क' व्यंजन का मूलरूप होने के कारण आधार-संकेत है और 'इ' का मात्रा रूप ऐसा संयुज्य आधार-संकेत है जिनकी मात्रा की आकृति 'ि' है जो ऊपरी और मध्य तल में फैली है, ('क' केवल मध्य तल में फैला है) और जो व्यंजन के ऊपर और बाएँ संग्रथित (जितनी दूर तक आवश्यक हो व्यंजन के क्षेत्र में प्रविष्ट होकर भी संयोजित) होता है। परिणामतः इन दोनों का संग्रथित संयोजन करने पर 'कि' संयोजित अक्षर उपलब्ध होता है। इस प्रकार 'क' के साथ उपरिनिर्दिष्ट सभी मात्रा-रूपों को संयोजित करने पर 'का, कि इत्यादि' २० (बीस) संयोजित अक्षर बनाए जा सकते हैं। इक्कीसवाँ 'क' स्वयं है। बाईसवाँ 'क्+ऐ १' अर्थात् 'कै १' के लिए प्रयुक्त संयोजित व्यंजन होना चाहिए था, किन्तु नागरी में इसकी व्यवस्था नहीं है।

ऐसे बाईस-बाईस संयोजित अक्षर 'क्र,' 'क्ष' इत्यादि व्यंजन-वत् व्यवहार करने वाले प्रत्येक व्यंजन-गुच्छ से भी बनेंगे।

१४:२:२:२:४ : **प्रवर्धित स्वर** : ऊपर सूचीबद्ध स्वरों के मूल रूप (कुल २४) और उनके मात्रा-रूप (कुल २१) मिलकर ४५ ऐसे आधार-संकेत हैं, जो (मूल रूप होने पर) स्वतन्त्र रूप से अथवा (मात्रा-रूप होने पर) व्यंजन या व्यंजन-वत् कार्य करने वाले आधार-संकेतों के साथ संयोजित होकर नागरी के अक्षरों का कार्य करते हैं। भारतीय लिपि वर्ग की मूल प्रकृति के अनुसार स्वर अक्षर का समापक अंश होता है। सरल ब्राह्मी में यही स्थिति थी। तमिल में आज भी यही स्थिति है। नागरी के स्वरूप तक पहुँचते-पहुँचते इस आधारभूत नियम में कुछ विकार आ गया है। अब नागरी के उक्त ४५ स्वर रूपों के साथ दो संकेत उनके बाद संग्रथित होते हैं। वे दो संकेत हैं—

(१) अनुनासिकत्व (चंद्रबिंदु — ँ)
(२) अनुस्वार (बिंदु — ं)

ये दोनों संकेत ऊपरी तल के हैं और स्वर के मूल रूप के ऊपर और मात्रा रूप के ऊपरी तल में स्थान रिक्त होने पर ऊपर, ऊपरी तल में मात्रा का अंश आ जाने पर उस मात्रा-अंश से थोड़ा दाहिने हटकर किंतु उसी व्यंजन आधार-संकेत के क्षेत्र में, जिस पर स्वर का मात्रा-रूप संग्रथित किया जा रहा हो, लिखे जाते हैं। इस

प्रकार स्वर के मूल-रूप या मात्रा-रूप के साथ अनुनासिकत्व या अनुस्वार के संग्रथित होने से **प्रवर्धित स्वरों** की जो आकृतियाँ बनती हैं, उनकी संख्या ९० है और इनमें से अँ और अं-जैसे **मूल प्रवर्धित स्वर** (संख्या में २४×३=७२) स्वयमेव पूर्ण अक्षर होते हैं और ाँ, ां जैसे **मात्रा रूप प्रवर्धित स्वर** (संख्या में २१×३=६३) ऐसे आधार-संकेत हैं जो प्रत्येक व्यंजन या व्यंजन-वत् कार्य करने वाले व्यंजन-गुच्छ के साथ संयोजित होकर व्यंजन के मूल रूप सहित ६३ संयोजित अक्षर बना सकते हैं।

१४:२:२:२:५ : **व्यंजन का मूल रूप** : क से ह तक ३३ व्यंजन मूल आकृति वाले मूल रूप हैं। इनके साथ ३४वाँ व्यंजन मराठी-ल ('ळ') परिवर्धित नागरी ने ले लिया है। इनके निम्नलिखित गुण विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं—

१. व्यंजन का मूल रूप 'अ'-सहित होता है। क, प, द इत्यादि में 'अ' विद्यमान है। इसमें 'अ' संयोजित करने की आवश्यकता नहीं होती।

२. जब व्यजन के मूल रूप के साथ 'अ' से भिन्न किसी स्वर का मात्रा रूप या प्रवर्धित मात्रा रूप संयोजित किया किया जाता है, तब भी उसमें अन्तर्भूत 'अ' लिखा रहता है, किन्तु उसे पढ़ा नहीं जाता। उदाहरणार्थ, 'के' अक्षर में लिखित संकेत 'क्+अ+ए' का प्रतिनिधित्व करते हैं किंतु पढ़ते समय उसे 'क्+ए' ही माना जाता है। यह **'अतिरिक्त-अकार का दोष'** व्यंजन से बनने वाले सभी व्यंजन-स्वर-संयोजित अक्षरों में रहता है।

३. व्यंजन को 'अ'-रहित करने के लिए कई विधियाँ अपनाई जाती हैं। मध्य में ऐसी स्थिति आने पर व्यंजन को पाई हटाकर या पूँछ का लटकता भाग काट कर विकृत कर लिया जाता। व्यंजन का यह विकृत रूप उसका **'संक्षिप्त'** रूप कहलाता है। अंत में, केवल एक व्यंजन या व्यंजन-वत् अक्षर की व्याकरणिक स्थिति को स्पष्ट करते समय अथवा संक्षिप्तकरण सम्भव न होने पर मध्य में भी व्यंजन के मूल रूप के नीचे हलन्त-संकेत लगाकर उसे 'अ'-रहित अथवा **'हलंत व्यंजन'** के विकृत रूप में रखा जा सकता है।

ये ३४ मूल आकृति वाले व्यंजन आधार-संकेत हैं। इनमें से प्रत्येक के साथ स्वरों या प्रवर्धित स्वरों के ६३-६३ (मूल व्यंजन-सहित) आधार-संकेत संयोजित हो सकते हैं और क, कॅ, कं, का, काँ, कां इत्यादि अक्षर बना सकते हैं।

१४:२:२:२:६ : **संयोजित आकृति वाले मूल व्यंजन** : जैसा कि परिवर्धित देवनागरी के प्रसंग में बताया जा चुका है, व्यंजनों की मूल आकृतियों के साथ निम्नलिखित न्यूनतम आधार-संकेत संयोजित करके नए मूल व्यंजन बनाए जाते हैं—

(१) नीचे बिंदु क, ख, ग, ज, फ इत्यादि के नीचे

(२) दाहिने बिंदु—केवल 'ङ' में, उसके परम्परागत होने के कारण उसकी गणना ऊपर व्यंजन के मूल रूपों में की गई है।

(३) नीचे शून्य - केवल भाषा-विज्ञान की पुस्तकों में संध्वनियों का सूक्ष्म विवेचन करने के लिए प्रयुक्त; अतः इस प्रबन्ध की सीमा से बाहर।

(४) नीचे पड़ी रेखा—ग, च, छ, ज, ड, ब इत्यादि में ।

एक उर्दू का व्यंजन 'अ' (स्वर) के नीचे बिंदु लगाकर भी बनाया जाता है।

व्यंजन की मूल आकृति में **विशेष संकेत** (डायाक्रिटिकल मार्क) की भांति प्रायः संग्रथित विकारोत्पादक न्यूनतम आधार-संकेत संयोजित (प्रायः संग्रथित) करके नागरी में १९ संयोजित आकृति वाले व्यंजन बनाए जाते है । इनकी आकृतियाँ इस प्रबन्ध के चित्र १३:५ की पंक्ति २ और ३ में दिखाई गई हैं । इनमें आकृति-निर्माण की विधि में अन्तर होते हुए भी मूल-व्यंजन की पूर्ण अर्हता होती है । परिणामतः व्यंजन के मूल-रूप के जो तीन विशेष गुण ऊपर अनुच्छेद १४:२:२:२:५ में गिनाए गए हैं वे इन पर भी लागू होते हैं ।

ये १९ संयोजित आकृति वाले मूल व्यंजन भी मूल आकृति वाले व्यंजनों की तरह ६३-६३ संयोजित अक्षर बनाने में सक्षम आधार-संकेत हैं ।

इन्हें मिलाकर मूल व्यंजन ३४+१९=५३ हो जाते हैं ।

१४:२:२:२:७ : व्यंजन-गुच्छ का व्यंजनवत् व्यवहार : नागरी अब परम्परा-पक्व क्लिष्ट संयोजन-पद्धति से असंयोजन की ओर बढ़ रही है, अतः कई प्राचीन क्लिष्ट संयोजन अब दिखाई नहीं देते । हाथों से लिखते समय अब भी कुछ विद्वान् लोग प्राचीन क्लिष्ट संयोजित व्यंजन-गुच्छों का प्रयोग करते हैं । व्यंजन-गुच्छों के कुछ उदाहरण यहाँ चित्र १४:२ में दिखाए गए हैं। इन्हें संयोजित करते समय नागरी लिपिक के मन में निम्नलिखित नियम स्पष्टतः कार्य करते हैं—

चित्र १४:२

(१) उच्चारण के क्रम में संयोजित व्यंजनों को रखने के लिए पहले उच्चरित व्यंजन ऊपर या बाएँ रखा जाता है और पश्चात् उच्चरित नीचे या दाहिने । (देखिए चित्र १४:२ के संकेत २ में ऊपर-नीचे संयोजित व्यंजनों में से ऊपर लिखा व्यंजन (प्) पहले उच्चरित होगा और नीचे लिखा (त) बाद में । इसी प्रकार संकेत १८ में दाहिने-बाएँ संयोजित व्यंजनों में से बाएँ-लिखा व्यंजन (क्) पहले उच्चरित होगा और दाहिने-लिखा (य) बाद में ।

(२) दो या दो से अधिक व्यंजनों का गुच्छ मिलकर एक व्यंजन-आधार-संकेत बनता है और क, प, द इत्यादि मूल व्यंजनों की भाँति व्यवहार करता है ।

इन व्यंजन-गुच्छों के विषय में दो महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं—

(१) आकृति-निर्माण

(२) संकेत का व्यवहार

आकृति-निर्माण

पाई वाले व्यंजनों की पाई हटाकर या पूँछ वाले व्यंजन की पूँछ छोटी करके उन्हें संक्षिप्त व्यंजन का आकार दिया जा सकता है। सुप्त, भक्त इत्यादि में 'प्', 'क्' की यही स्थिति है। वे दंडच्छेदन से प्राय: पृथक् अक्षर सिद्ध होते हैं किंतु सिद्धांतत: अभी तक 'सुप्त' में 'प्त' को एक ही अक्षर माना जा रहा है और इसमें 'इ' की मात्रा संयोजित करते समय 'सुप्ति' लिखा जाता है ('सुप्ति' नहीं); परिणामत: 'प्ति' और 'त' अक्षर (लैपिक) बन जाते हैं।

दो पाई वाले व्यंजन प्राय: एक ही पाई के साथ संग्रथित हो जाते हैं (दे० चित्र १४:२ के संकेत १, २, ४, ५ में 'प्ट', ६ में 'ग्र', ९ तथा १९)।

गोल व्यंजन ऊपर-नीचे लिखे जाते हैं (दे० संकेत १५, २०)।

अन्तिम पाई वाला व्यंजन अपनी पाई पूर्ण करने का प्रयत्न करता है। (दे० संकेत ११, १२, १३, १८)

पूर्ण या अर्धपाई वाले व्यंजन दूसरे संकेत के पाई-जैसे अंश को पाई के रूप में प्रयुक्त करते हैं। (दे० संकेत १०, १४, १६, १७)

संयोजन में एक या एकाधिक व्यंजनों की आकृतियों के वे अंश काट दिए जाते हैं, जिनके बिना भी उन्हें पहचाना जा सके। (दे० संकेत—३ में प्रथम 'त', ४ में 'क', १३ में 'य', १५ में प्रथम 'द' और २० में द्वितीय 'ल' का संक्षेपण)

संयोजित करते समय सरल ब्राह्मी की यह प्रकृति आज भी नागरी-लिपिक के मन में रहती है कि यथासम्भव संयोजित व्यंजनों की आकृति मध्य तल में ही सिमिट जाए। इसके लिए आकृतियों को छोटा किया जाता है। इस **संकोचन** का प्रभाव प्राय: नीचे संयोजित आकृति पर ही अधिक होता है। (दे० संकेत ६ में 'घ', १० में 'ट', १४ में 'घ', १६ में 'न', और १७ में 'ल' का संकोचन)

अधिकांश व्यंजन-गुच्छों की आकृतियों का विश्लेषण आकृति के उपलब्ध अंशों के आधार पर किया जा सकता है, किंतु कुछ ऐसे **विषम संयोजित व्यंजन-गुच्छ** भी हैं, जिनमें संयोजित व्यंजनों की आकृति के अंश दिखाई नहीं देते। उदाहरण के लिए चित्र १४:२ के संकेत ७ (क् ष), ८ (ज् ञ) और ९ (श् र) लिए जा सकते हैं। सरल ब्राह्मी के 'क्ष' में से क्, ष की आकृतियाँ स्पष्ट दिखाई देती थीं। 'क' और 'ष' के पृथक् संकेतों का विकास होते रहने से उनकी आकृतियों के रूप बदल गए किन्तु 'क्ष' का संयोजित आक्षरी रूप अपने रूढ़ रूप से भिन्न धारा में विकसित होता रहा। आज स्थिति यह है कि नागरी के 'क्' और 'ष' के रूप 'क्ष' में दिखाई नहीं देते। यही इतिहास ज्ञ (ज्ञ) और श्र (श्र) का है। 'श्र' के श को संकेत १९ के 'श्व' में भी देखा

जा सकता है और 'र' को 'प्र', 'द्र' इत्यादि संयोजित अक्षरों में। आज भी नागरी में ऊपर 'र्' से 'र्क', 'र्ख' इत्यादि और नीचे 'र' से 'क्र', 'ख्र' इत्यादि संयोजित व्यंजन-गुच्छ अनिवार्यतः बनते हैं। इनके लिए १९५३ के लखनऊ सम्मेलन द्वारा सुझाए गए 'र्क', 'रख' तथा 'क्र', 'ख्र' इत्यादि **वियोजित** रूप सन् १९५७ के लखनऊ सम्मेलन में वापिस ले लिए गए थे और सन् १९६७ की केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय की सिफारिशों ने उन्हें सदा के लिए दफना दिया। यद्यपि 'प्रेम' को 'प्‍रेम' और धर्म को 'धर्‍म' लिखना वैज्ञानिक भी है और सुविधाजनक भी, किन्तु अभिनिवेश के कारण इसे प्रचलित करना कठिन है। इन पंक्तियों के लेखक ने यदा-कदा इसके लिए साहसिक प्रयत्न किए हैं[१२] किन्तु वे 'नक्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़' के सदृश उपेक्षित हो गए।

इस प्रकार निर्मित व्यंजन-गुच्छ संकेतों की संख्या बहुत अधिक हो सकती है। ऊपर हम ५३ व्यंजन संकेतों के मूल रूप स्थिर कर चुके हैं। इनमें से प्रत्येक व्यंजन प्रत्येक के पहले या बाद में संयोजित हो सकता है। फिर दो व्यंजन ही क्यों तीन-चार व्यंजन भी संयोजित होकर व्यंजन-गुच्छ बना सकते हैं। आज की नागरी की वियोजन की ओर बढ़ती प्रकृति को देखते हुए उन सब व्यंजन-गुच्छों को अनिवार्य न माना जाए तो भी (जैसा ऊपर 'र्क' और 'क्र' के उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है) 'र' के साथ प्रत्येक व्यंजन से बनने वाले दो-दो व्यंजन-गुच्छ आज भी नागरी में अनिवार्यतः आवश्यक हैं; जैसे 'क' से 'र्क' और 'क्र'; 'प' से 'र्प' और 'प्र' इत्यादि। इस प्रकार उक्त ५३ मूल व्यंजनों से ५३ × २ = १०६ (एक सौ छः) व्यंजन-गुच्छ-संकेत बनते हैं। यह कम से कम संख्या है।

व्यवहार

ये संकेत स्वरों एवं प्रवर्धित स्वरों के मात्रा-रूपों के साथ संयोजित किए जा सकते हैं, अतः ये मूल व्यंजनों की भांति ही आधार-संकेत का कार्य करते है। इनके हलन्त रूप एवं संक्षिप्त रूप भी बन सकते हैं। इस आधार पर कहना चाहिए कि संयोजित व्यंजन-गुच्छ व्यंजनवत् व्यवहार करते हैं। इन कम से कम १०६ व्यंजन-गुच्छ-संकेतों में से प्रत्येक से मात्रा-सहित ६३ संयोजित अक्षर, प्रत्येक का एक-एक हलन्त रूप और 'ठ' इत्यादि गोल व्यंजनों पर आधारित व्यंजन-गुच्छों को छोड़कर शेष दाहिने पाई वाले तथा मध्य पाई वाले व्यंजनों पर आधारित व्यंजन-गुच्छों में से प्रत्येक का एक-एक संक्षिप्त रूप अक्षर के रूप में प्रयुक्त हो सकता है।

१४:२:२:२:८ : समात्रिक अक्षर : उपरिविवेचित स्वर एवं व्यंजन-रूपों में से कुछ स्वतन्त्र अक्षर होते हैं, जैसे मूल स्वर ('अ' इत्यादि), प्रवर्धित स्वर (अं-आदि) तथा व्यंजन ('क' आदि मूल या 'क्ष' इत्यादि व्यंजनवत् व्यवहार करने वाले गुच्छ)। इनमें से व्यंजन या व्यंजनवत् व्यवहार करने वाले आधार संकेतों पर मूल या प्रवर्धित स्वरों के मात्रा रूप संयोजित करने पर जो 'अक्षर' बनते हैं, उन्हें **'समात्रिक अक्षर'** कहते हैं। इस प्रकार वर्गों को पृथक् पहचानने के लिए निम्नलिखित शब्दावली प्रयुक्त की जा सकती है—

१. अ —मूल स्वर, मूल आकृति, असंयोजित अक्षर
२. अं—प्रवर्धित मूल स्वर, संयोजित आकृति, असंयोजित अक्षर
३. आ - मूल स्वर, संयोजित आकृति, असंयोजित अक्षर
४ आं - प्रवर्धित मूल स्वर, संयोजित आकृति, असंयोजित अक्षर
५. क—मूल व्यंजन, मूल आकृति, असंयोजित अक्षर
६. कं—प्रवर्धित मूल व्यंजन, सयोजित आकृति, असंयोजित अक्षर
७. क्र—व्यंजन गुच्छ, मूल आकृति, संयोजित अक्षर
८. क्रं– प्रवर्धित व्यंजन गुच्छ, संयोजित आकृति, संयोजित अक्षर
९. का—समात्रिक मूल व्यंजन अक्षर
१०. कां - समात्रिक प्रवर्धित मूल व्यंजन अक्षर
११. क्रा —समात्रिक व्यंजन गुच्छ अक्षर
१२. क्रां—समात्रिक प्रवर्धित व्यंजन गुच्छ अक्षर
१३. ा – स्वर-मात्रा
१४. ां – प्रवर्धित-स्वर मात्रा

इनमें से विभिन्न-स्तरों में संयोजन करते समय विभिन्न अंश आधार-संकेत एवं विकारोत्पादक हो जाता है।

उक्त सूची में ९ से १२ तक के वर्गों में आने वाले सभी अक्षर 'समात्रिक' हैं। इनकी पूरी संख्या गिनना असम्भव है। छन्द शास्त्र की 'संख्या' की गणना में इस प्रकार संख्या गिनी जाती है—

वर्ण संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
छन्द संख्या	२	४	८	१६	३२	६४	१२८	२५६

यह गणना १५ वर्णों के ३२,७६८ छन्द सिद्ध करती है। इसी प्रकार हर वार दुगुना किया जाए तो नागरी के ५३+१०६ (मूल व्यंजन+व्यंजन गुच्छ) अर्थात् १५९ वर्णों की छन्द-संख्या कितनी बैठेगी ? इसके अनुमान से व्यक्ति काँप जाता है। केवल उनकी सूची बनाने में कितना समय लगेगा, कितना काग़ज़ खर्च होगा।

छन्द-संख्या केवल लघु गुरु (दो संकेतों) के विविध स्थितियों में आने के कारणों से इतनी बढ़ जाती है। नागरी के व्यंजनों में से तो प्रत्येक व्यंजन ६३ समात्रिक रूप बनाता है। अतः अक्षर-संख्या गिनते समय प्रत्येक व्यंजन के लिए ६३ से गुणा करना चाहिए, केवल दुगुना नहीं।

उक्त विवेचन के आधार पर यही कहा जा सकता है, नागरी के अक्षरों की पूर्ण सूची में इतने अधिक अक्षर आ जाएँगे कि उनकी गणना असम्भव नहीं तो पूरे जीवन काल के लिए पर्याप्त कार्य है, सम्भव है एक जीवन भी कम पड़े।

१४:३ : **अच्छी लिपि के गुण** : जब से लिपि द्वारा भाषित को अंकित में परिवर्तित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ है, तब से आज तक अनेक लिपिकों ने लिपि को

संशोधित कर पूर्व प्रचलित स्थिति की अपेक्षा अच्छा बनाने का प्रयत्न किया है । स्थान समय, समाज, आधार-भाषा एवं लिपि-संकेतों की प्रकृति ने लिपि के विकास अथवा ह्रास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । लेखन, पठन, मुद्रण इत्यादि विभिन्न उपयोगिताओं के सन्दर्भ में लिपि को परखने और उसे संशोधित करने के अनेक प्रयत्न हुए । जिसके परिणामस्वरूप 'अच्छी लिपि के गुण' के रूप में विभिन्न निकष प्रस्तुत किये गये । ये निकष लेख-लिपियों के लिए निम्नलिखित हैं—

(१) **सम्पूर्णता :** आधार-भाषा (या समान लिपि के सन्दर्भ में भाषाओं) के आधार-अवयव (ध्वनिग्राम, आघात इत्यादि जो भी अवयव संकेत बनाने के लिए आधार रूप में चुना गया हो) की सम्पूर्ण-सूची के लिए निश्चित तथा अन्य दृष्टियों से योग्य संकेत-सूची की सम्भाव्यता लिपि की 'सम्पूर्णता' कहलाती है ।

(२) **अनपविस्तृतता :** केवल सम्पूर्णता तक सीमित संकेत-सूची लिपि के आवश्यक विस्तार के लिए अपेक्षित है, किन्तु इससे अधिक अनावश्यक संकेत लिपि में अप-विस्तृतता उत्पन्न करते हैं । लिपि में अनावश्यक संकेत का अभाव उसकी 'अनपविस्तृतता' कहलाता है ।

(३) **एकरूपता :** प्रत्येक संकेत का लिपि के समस्त प्रयोग में एक ही रूप में स्थिर रहना लिपि की 'एकरूपता' कहलाता है ।

(४) **निश्चितता :** प्रत्येक संकेत का सदा एक ही निश्चित अभिव्यक्ति के लिए प्रयोग होना लिपि की 'निश्चितता' कहलाता है । यह गुण आकृति के अभिव्यक्ति से सम्बन्ध के विषय में है ।

(५) **नियतता :** प्रत्येक संकेतकृति का लिपि के नियमों के अनुकूल प्रयुक्त होना 'नियतता' कहलाता है । यह गुण आकृति के लेखन के सन्दर्भ में है ।

(६) **क्रमानुसारिता :** उच्चारण के क्रम में संकेतों का प्रयोग लिपि की 'क्रमानुसारिता' कहलाता है ।

(७) **स्पष्टता :** किसी एक संकेत की आकृति का किसी अन्य संकेत की आकृति का भ्रम उत्पन्न न करना लिपि की 'स्पष्टता' कहलाता है ।

(८) **एकगतिकता :** लेखन में हाथ का एक ही दिशा को बढ़ना लिपि की 'एकगतिकता' कहलाता है ।

(९) **यंत्रयोग्यता :** लिपि का प्राप्त यंत्रों पर सफलता से प्रयुक्त हो सकना उसकी 'यन्त्रयोग्यता' का गुण है ।

(१०) **गठन :** संकेतों का पढ़ने में कठिनता उत्पन्न करने वाली दूरी तक फैलाव न होना अस्पष्टता उत्पन्न किए बिना उनका यथासम्भव थोड़े स्थान में निकट-निकट सिमटे होना लिपि का गठन कहलाता है ।

(११) **अल्प-रेखीयता :** एक संकेत का, (संयुज्य प्रकृति की लिपि में अक्षर या शब्द का) एक ही रेखा से लिखा जाना एक-रेखीयता, दो रेखाओं से लिखा जाना द्वि-

रेखीयता इत्यादि कहलाता है। संख्या एवं लम्बाई में कम-से-कम रेखाओं द्वारा लिखा जाना लिपि की 'अल्परेखीयता' का गुण कहलाता है।

(१२) **शीघ्र-लेख्यता** : किसी लिपि का कम परिश्रम से कम समय में लिखा जा सकना, उसकी 'शीघ्र-लेख्यता' का गुण कहलाता है।

(१३) **अल्प-व्ययीयता** : किसी लिपि का पठन-पाठन; मुद्रण इत्यादि में आर्थिक दृष्टि से कम खर्चीला होना उसकी 'अल्प-व्ययीयता' का गुण कहलाता है।

(४१) **सुसाध्यता** : जिस लिपि का पढ़ना, पढ़ाना, लिखना, छापना इत्यादि सरल होता है, वह लिपि सुसाध्य होती है। लिपि की सुसाध्यता ऊपर गिनाए गये कई गुणों के अतिरिक्त सामाजिक तथ्यों पर भी निर्भर होती है।

(१५) **सुन्दरता** : किसी लिपि की सुन्दरता का मापदंड केवल नेत्रों को भाना ही नहीं होता, वरन् मन को रुचना भी सुन्दरता के लिए आवश्यक है।

संसार की ऐसी शायद ही कोई लिपि हो, जिसमें इन पन्द्रह गुणों में से कोई गुण न हो और संसार की शायद ही ऐसी कोई लिपि हो, जिसमें सभी के विचार से उक्त सभी गुण विद्यमान हों। इन पन्द्रह गुणों में से सभी गुण प्रत्येक लिपि में होना अनिवार्य भी नहीं है। लिपि के दो आधार भूत गुण कहे जा सकते हैं—

(१) वैज्ञानिकता

(२) उपयोगिता

इन दोनों आधारभूत गुणों की अनिवार्यता प्राय: सभी लिपिविशेषज्ञ स्वीकार करते हैं। आज के युग की आवश्यकताओं को देखते हुए ऊपर सूचीबद्ध किए गए पन्द्रह गुणों में से प्रथम नौ (सम्पूर्णता से यन्त्रयोग्यता तक) गुण वैज्ञानिकता और उपयोगिता के अनिवार्य निकष कहे जा सकते हैं। इनमें कमी होने पर लिपि 'दोषपूर्ण' मानी जाती है। ऐसी स्थिति में वह 'अयोग्य' सिद्ध हो जाती है।

शेष छ: गुण गौण निकष कहे जा सकते हैं। इनके न्यून होने पर भी लिपि में योग्यता और औचित्य सम्भव है। ये गुण भी जितनी अधिक मात्रा में किसी लिपि में विद्यमान होते हैं, लिपि का स्तर उतना ही अच्छा माना जाता है और वह लिपि जनता में अधिक स्थायी आकर्षण उत्पन्न कर सकती है।

१४:४ : **निष्पक्ष परीक्षण** : सामाजिक रूढ़ियों के कारण लोग प्राय: अपने निकट की लिपि को श्रद्धास्पद मानते हैं। उसके साथ उनका रागात्मक सम्बन्ध होने के कारण ही उसे परीक्षण के बिना ही **'अच्छी लिपि'** मानते रहते हैं। लैपिविज्ञानिक परीक्षण के समय इस रागात्मक भावना से हटकर नितान्त निष्पक्ष भाव से परीक्षण करने की आवश्यकता होती है।

ऐसे परीक्षण की उत्तम विधि यह है कि प्रत्येक (ऊपर सचीबद्ध किए गये अच्छी लिपि के) गुण की उपयोगिता स्थिर करते हुए लिपि-विशेष में उस गुण की छान-बीन की जाए और उसके अस्तित्व अथवा अभाव की स्थिति का आकलन यथा-सम्भव प्रामाणिक आँकड़ों के आधार पर किया जाए।

आगे के पृष्ठों पर इसी विधि से नागरी का मूल्यांकन किया जा रहा है।

१४:५ : **नागरी का मूल्यांकन** : उपरिविवेचित पद्धति के अनुसार सूचीबद्ध १५ गुणों को निकष मानते हुए प्रत्येक निकष की उपयोगिता और नागरी में उसकी स्थिति का परीक्षण नीचे क्रमशः प्रस्तुत किया जा रहा है।

१४:५:१ : **सम्पूर्णता** : सम्पूर्णता के बिना लिपि अवैज्ञानिक होती है। अतः सम्पूर्णता लिपि का अनिवार्य गुण है। उदाहरण के लिए महाजनी, गुरुमुखी, रोमन (अंग्रेजी भाषा की लिपि) और नागरी को लें। रोमन और महाजनी में स्वरों के संकेत पूरे नहीं हैं। दोनों में 'प् इ ट्' के तीन पृथक्-पृथक् संकेत हैं, जिन्हें 'पिट्' या 'पीट्' पढ़ा जा सकता है। अतः उनमें असम्पूर्णता का दोष है। इसीलिए महाजनी साहित्यिक लेखन के लिए [illegible] हो सकी और इसीलिए रोमन में किसी अन्य भाषा का क्या स्वयं अंग्रेजी भाषा का उच्चारण दिखाने के लिये भी विशेषक-संकेतों को संयोजित करने की आवश्यकता पड़ती है। गुरुमुखी उनकी तुलना में सम्पूर्ण है किन्तु सभी व्यंजनों को स्वर-रहित (हलन्त) रूप में लिखना सम्भव नहीं है अतः 'पुल्स' (पंजाबी भाषा का ही 'पुलिस' के लिए शब्द) को 'पुलस' ही लिखना पड़ता है। इनकी तुलना में नागरी में सम्पूर्णता बहुत अधिक मात्रा में है।

नागरी को सभी भारतीय भाषाओं की समान लिपि के रूप में परखा जाए तो उसमें उन सभी ध्वनिग्रामों के लिए संकेत होने चाहिएँ, जिन्हें इन भाषाओं में ध्वनिग्राम माना जाता है। पीछे विवेचित किया जा चुका है कि केन्द्रीय भारत सरकार द्वारा स्वीकृत परिवर्धित देवनागरी में भारतीय भाषाओं की सभी ध्वनियों के लिए संकेत बनाए गये हैं। इस आधार पर उसे समान लिपि के रूप में 'सम्पूर्ण' कहा जा सकता है, किन्तु उसकी वह सम्पूर्णता नोटिस-मात्र होने के कारण भ्रामक है। उसमें कई ऐसे संकेत हैं जो छापे नहीं जा सकते। उदाहरण के लिए 'ड' को योग्य संकेत माना जाए तो 'ड' से बनने वाले सभी समात्रिक संयोजित अक्षर बनाना, उन्हें लिखना, पढ़ना, छापना इत्यादि सम्भव होना चाहिए। अब इसी मूल आकृति में 'नीचे पड़ी रेखा' (विकारोत्पादक) लगाकर सिंधी भाषा के लिए अन्तःस्फुट 'ड' का संकेत बनाया गया। इस पर मात्राएँ लगाकर समात्रिक संयोजित अक्षर बनाना सम्भव होना चाहिए अन्यथा यह संकेत व्यवहार में **अयोग्य** सिद्ध हो जाएगा। सिंधी में इसके साथ 'ऊ' की मात्रा लगाकर विशेष 'डू' ध्वनि उच्चरित की जाती है। परिवर्धित नागरी की विधि से लिखते समय प्रश्न उठता है कि एक ही स्थान पर दो संकेत कैसे लगाये जाएँ। इस ध्वनि के संकेतन की स्थिति इस प्रकार है—

कुल संकेत	...	तीन		
आकृतियाँ	...	ड	—	ू
तल	...	मध्य	निचला	निचला

स्पष्ट है कि इसे लिखते समय ऊपरी तल रिक्त रहेगा, मध्य तल में 'ड' रहेगा और निचले तल में दो संकेत आएँगे-- निचली रेखा और 'ऊ' की मात्रा। वे दोनों

एक ही तल में संयोजित नहीं हो सकते। कर्न-टाइप का प्रयोग करने पर मूल व्यंजन के ऊपर या नीचे कोई एक अन्य संकेत लगाया जा सकता है। निष्कर्षतः केवल 'वर्ण-माला' में गिनाने के लिए नीचे बिंदी वाले, नीचे पड़ी रेखा वाले तथा नीचे शून्य वाले संयोजित आकृतियों के संकेत भले ही नागरी की पूर्णता का भ्रम खड़ा कर सकें, उनमें से अधिकांश संकेत अव्यावहारिक हैं। ऐसे नए संकेत भी योग्य सिद्ध हो सकते हैं जब वे दाहिने-बाएँ इस प्रकार रखे गये हों कि उन्हें दंडच्छेदन द्वारा भिन्न-भिन्न अक्षरों में विभाजित किया जा सके। उदाहणार्थ यदि 'ड', 'ड़', ':ड' और ':ड़' —इन चारों को भिन्न-भिन्न ध्वनियों के संकेत के लिए प्रयुक्त किया जाए तो वे व्यवहार में सफल सिद्ध होंगे, क्योंकि इनमें प्रयुक्त तीन संकेतों को दंडच्छेदन द्वारा पृथक् करके (' । : । ड । ़ ।') दिखाया जा सकता है और प्रेस के पृथक्-पृथक् मुद्रों को **जोड़कर** (कम्पोज करके) सरलता से छापा जा सकता है। यही गुण टाइप, टैलिप्रिंटर इत्यादि में भी इन्हें 'योग्य' संकेत सिद्ध करता है।

इस विवेचन के फल-स्वरूप कहा जा सकता है कि नागरी में संसार की अन्य लिपियों की अपेक्षा अधिक सम्पूर्णता है। हिन्दी भाषा के लिए वह पर्याप्त सम्पूर्ण लिपि है, हिन्दी में जब उर्दू की ध्वनियों का समावेश किया जाए (और नीचे बिन्दी लगाकर नए संकेत बनाना स्वीकार किया जाए) तब उसके उपयोग में असम्पूर्णता दिखाई देती है। सभी भारतीय भाषाओं की समान लिपि के रूप में नागरी बहुत असम्पूर्ण लिपि है। इस सन्दर्भ में उसे सम्पूर्ण कहना भ्रामक है, क्योंकि वह क्रियात्मक सिद्ध नहीं होती।

१४:५:२ : अनपविस्तृतता : लिपि में ऐसा कोई संकेत नहीं होना चाहिए, जिसकी आवश्यकता उस लिपि को न हो, अन्यथा अप-विस्तार के कारण वह लिपि दुरूह, दुःसाध्य, अधिक खर्चीली एवं विकर्षण पूर्ण होगी। उनमें जितना अधिक अप-विस्तार होगा, उसका स्तर उतना ही नीचा गिना जाएगा। उदाहरण के लिए अंग्रेजी की रोमन लिपि के प्रत्येक संकेत के चार रूप होना उसका व्यर्थ का विस्तार है। चार प्रकार की 'जी' (छापे की बड़ी, छापे की छोटी, लिखने की बड़ी और लिखने की छोटी) सीखने में जो समय एवं परिश्रम लगता है, उसे किसी और कार्य में लगाया जा सकता है। उर्दू में प्रत्येक मूल संकेत के सिद्धान्ततः तीन रूप हो जाते हैं आदि रूप, मध्य रूप, समापक रूप। इसे रोमन के संकेतों के चार रूपों की तरह अपविस्तार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उर्दू के संकेतों के इन्हीं तीन रूपों के कारण संयुज्यता उत्पन्न होती है, जिससे उस लिपि में शीघ्र-लेख्यता तथा अल्परेखीयता आ जाती है।

मृत या अतिरिक्त संकेत का अस्तित्व अपविस्तार का एक अन्य प्रकार कहा जा सकता है। अंग्रेजी में 'के' के होते हुए 'सी' का भी कहीं-कहीं 'क' ध्वनि के लिए प्रयुक्त होना, 'वाक' में 'एल' या 'नाईट' में 'जी-एच' का अनुच्चरित-लिखित अस्तित्व, 'के' और 'एस' के होते हुए 'एक्स' का 'बाक्स' में प्रयोग और 'वर्णमाला' में अस्तित्व इत्यादि रोमन-अंग्रेजी लिपि के अपविस्तार के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

उर्दू में 'आला' ('अ अ २ ला' शुद्ध उच्चारण) लिखने के लिए 'अ अ २ ले' या 'अ अ २ ली' लिखकर 'ले' या 'ली' अक्षरांश के ऊपर पृथक् 'अ' संयोजित किया जाता है। यह पूरा नियम ही अपविस्तार का उदाहरण है। इसी प्रकार मसलन, ख़ाब, इस्माईल, जलालुद्दीन इत्यादि शब्दों में कई नियम एवं संकेत ऐसे हैं, जिनके बिना भी उन्हें शुद्ध उच्चरित रूप में वैज्ञानिक रूप में लिखा जा सकता था। 'ज़' की एक उच्चरित ध्वनि के ऐतिहासिक रूढ़ि के रूप में ज़ाल, ज़े, ज़ोय, .ज्वाद—चार संकेतों का अस्तित्व अपविस्तार है।

तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो अंग्रेजी का अपविस्तार प्रायः इसलिए उत्पन्न हुआ क्योंकि उनकी लिपि में असम्पूर्णता थी। इस असम्पूर्णता की पूर्ति संकेतों के विभिन्न वर्तनियों के प्रयोग द्वारा करने के प्रयत्न में कई प्रकार के अपविस्तार उत्पन्न हुए। यह कृत्रिम अपविस्तार है।

उर्दू का अपविस्तार संकलन की अतिशयता से उत्पन्न हुआ है। उसमें अरबी, तुर्की, फारसी के अतिरिक्त भारतीय स्रोतों से प्राप्त संकेत, प्रयोग विधियाँ और परंपराएँ संकलित एवं रूढ़ हो गई हैं। अतः यह वास्तविक अपविस्तार है।

चीनी वर्ग की लिपियों का नागरी से सम्बन्ध नहीं है, अतः उसकी अतिशय अपविस्तृतता से नागरी की तुलना का लाभ नहीं है।

नागरी में ऐसे अनेक संकेत हैं, जिनकी कोई आवश्यकता नहीं है। 'ई' ध्वनि 'ईख' में भी वही है और 'खीर' में भी वही है। फिर दोनों स्थानों पर 'ई' के भिन्न-भिन्न रूप क्यों हैं? स्वर का मात्रा-रूप उसके मूल रूप से भिन्न होता है, यह पूरा नियम नागरी में ब्राह्मी-काल से चला आया अपविस्तार है। 'द' से 'द्' बनाना तो ऐसा है, जैसे कह दिया जाए कि मान लो आप जिस कुरसी पर बैठे हैं, वह नहीं है। पहले 'द' में 'अ' माना ही क्यों गया? वस्तुतः व्यंजन या व्यंजन-वत् व्यवहार करने वाले व्यंजन-गुच्छ की मूल आकृति में 'अ' का अस्तित्व मानने का नियम दोषपूर्ण एवं अपविस्तार है। वह अन्यत्र अनेक अक्षरों में 'अ' के अपविस्तार (अनावश्यक अस्तित्व) का कारण है। उदाहरणार्थ, 'से' में से 'ए' निकालने पर 'स' बचा। इसमें 'अ' भी है। तो वस्तुतः 'से' में 'स् अ ए' लिखा गया है। मध्यस्थ 'अ' उच्चरित नहीं है, अतः वह अपविस्तार है और इसका मूल कारण "अतिरिक्त 'अ' के दोष" का नियम है। वस्तुतः मूल-संकेतों के अतिरिक्त नागरी में जितने विकृत रूप हैं, वे सभी अपविस्तार हैं।

नागरी में ष, लृ, ऋ इत्यादि के अस्तित्व को भी कुछ विद्वान् अपविस्तार मानते हैं। नागरी 'वर्णमाला' से ऐसे संकेतों को निकाल देने की बात भी करते हैं। किन्तु वास्तव में नागरी की अपविस्तार की विशाल समस्या के सामने ये कुछ संकेत बहुत छोटी सी अपविस्तृतता प्रस्तुत कर रहे हैं। पूरी भारतीय भाषाओं को इन सभी रूढ़ संकेतों को मानते हुए भी केवल ८० (अस्सी) मूल संकेतों की आवश्यकता है, किन्तु जिस प्रकार के संग्रथित संयोजन का प्रचलन है, उससे भी नागरी को हज़ारों प्रकार के टाइप चाहिएँ और परिवर्धित देवनागरी की संग्रथन प्रणाली मान ली जाए तो अक्षरों

की सूची इतनी बड़ी होगी कि शायद पूरे जीवन भर लिखते रहने पर भी वह सूची नहीं बनाई जा सकेगी। नागरी का वास्तविक अपविस्तार तो वे नियम हैं, जो प्रत्येक व्यंजन-मूल-संकेत से सैंकड़ों संग्रथित संयोजित अक्षर बनाते हैं। उन नियमों को समेटा जाए तो केवल ८० संकेतों से सभी भारतीय भाषाएँ पूर्ण शुद्धता एवं वैज्ञानिकता से संयोजित अक्षरों के रूप में लिखी जा सकती हैं।[13]

इस विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है, नागरी में सैद्धान्तिक स्तर पर बहुत अधिक अपविस्तार होने के कारण अनपविस्तृतता की बहुत कमी है। समान लिपि के रूप में परिवर्धित देवनागरी अपनाने पर वह और अधिक अपविस्तृत हो जाएगी। उसे अनपविस्तृत रूप में लाने के लिए ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है, जिसमें स्वर का एक ही रूप हो जो मूल रूप में स्वतन्त्र प्रयोग किया जाए और व्यंजन के साथ संयोजित किया जाए तो अपने मूल रूप को न बदले। व्यंजनों के ऐसे मूल रूप की आवश्यकता है, जिसमें अतिरिक्त अकार का दोष न हो, भले ही वर्तमान नागरी के 'क-ख' को स्वर-रहित व्यंजन मान लिया जाए।

१४:५:३: **एकरूपता :** लिपि को वैज्ञानिक, सुगम, सुसाध्य एवं अल्प-व्ययी बनाने के लिए यह गुण महत्त्वपूर्ण साधन का कार्य करता है। स्पष्टता के लिए रोमन-लिपि का उदाहरण लिया जाए तो सरलता रहेगी। मान लीजिए रोमन लिपि में केवल छब्बीस 'लैटर्स' (संकेत) हैं। उनकी आकृति वैसी है, जैसी कैपिटल छपे रोमन अक्षरों की प्रायः होती है। इन्हें ताश के पत्तों पर लिख लीजिए। केवल छब्बीस प्रकार के पत्ते बनाने होंगे। एक-एक संकेत के आवश्यकतानुसार कई-कई पत्ते बनाए जा सकते हैं। इन छब्बीस प्रकार के पत्तों को दो समानान्तर रेखाओं के मध्य क्रमानुसार जोड़-कर अंग्रेजी के किसी शब्द या वाक्य को लिखा जा सकता है। यदि केवल यही रोमन लिपि हो तो उसमें पूर्णतः 'एकरूपता' होगी। यदि इन अक्षरों की कोई अन्य आकृति (जैसे 'स्माल'-छपे अक्षर या 'कैपिटल'-लिखे अक्षर) भी प्रयोग करना चाहें तो नए प्रकार के कार्ड बनाने होंगे, तब एक ही अक्षर के कई रूप हो जाएँगे और एकरूपता नहीं रहेगी।

एकरूपता के परीक्षण के लिए आवश्यक है कि इन कार्डों को लिपि की **लेखन-**दिशा में ही तथा दो समानान्तर रेखाओं के मध्य में ही जोड़ा जाए। अंग्रेज़ी-रोमन लिपि या नागरी लिपि के सन्दर्भ में समानान्तर रेखाएँ क्षैतिज होनी चाहिएँ और पत्ते बाएँ से दाहिने को जोड़े जाने चाहिएँ। उर्दू लिपि के सन्दर्भ में समानान्तर रेखाएँ क्षैतिज होंगी और पत्ते दाहिने से बाएँ को जोड़े जाएँगे, प्राचीन चीनी के सन्दर्भ में समानान्तर रेखाएँ खड़ी होंगी और पत्ते ऊपर से नीचे को जोड़े जाएँगे।

इस विधि से नागरी का थोड़ा-सा परीक्षण प्रस्तुत है—

परीक्षण

वाक्य—इस फ़र्श पर क्रम से गिलास रखो।

उक्त वाक्य को पत्तों से लिखने के लिए निम्नलिखित प्रकार के पत्ते चाहिएँ—

१· इ २· स ३· फ़ ४· र्श ५· प ६· र
७· क्र ८· म ९· से १०· गि ११· ल १२· ा
(स—पहले क्रम २· पर है) (र—पहले क्रम ६· पर है)
१३· खो

(पूर्ण विरामादि संकेत ध्वनीतर संकेत हैं, जो इस प्रबन्ध की सीमा में नहीं हैं)

इसे ही **दंडच्छेदन** द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है—

इ । स । फ़ । र्श । प । र । क्र । म ।
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
से । गि । ल । ा । स । र । खो ।
९ १० ११ १२ -२ -६ १३

ऊपर संकेत १२ के पश्चात् '-२' का अर्थ है, 'इसका प्रयोग पहले क्रम २ पर हो चुका है'। इसी प्रकार '-६' में पूर्व प्रयोग का क्रमांक है।

ध्वनिग्रामों के आधार पर नागरी की एकरूपता का परीक्षण पत्तों द्वारा या दंडच्छेदन द्वारा किया जाए तो अखिल भारतीय समान लिपि के रूप में नागरी में वांछित कुल ८० ध्वनिग्रामों (दे० अनुच्छेद - १४:२:१) के लिए हज़ारों संयोजित अक्षरों का प्रयोग सिद्ध करता है, नागरी में प्रत्येक स्वर मात्रा रूप में, प्रत्येक व्यंजन संयोजित होने पर अपनी स्थिति से या संक्षिप्त, हलन्त इत्यादि विकृत रूप धारण कर नागरी के संकेतों की एकरूपता को निरन्तर भंग करता है। संग्रथन प्रणाली ने अक्षर-निर्माण की ऐसी जटिल प्रक्रिया प्रस्तुत की है कि नागरी के संकेतों में आमूल परिवर्तन लाए बिना उनका एकरूप रहना असम्भव है।

इस विवेचन से स्पष्ट है नागरी में रोमन या उर्दू की अनेक रूपता की तुलना में अत्यधिक एवं जटिल अनेकरूपता है। संभवतः इसी कारण नागरी-सुधार के आंदोलन बराबर होते रहे हैं।

१४:५:४ : निश्चितता : जब कोई नागरी का पक्षधर कहता है कि नागरी में वैसा ही लिखा जाता है, जैसा हम बोलते हैं और जैसा लिखा जाता है, वैसा ही पढ़ा जाता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि नागरी के संकेतों की अभिव्यक्ति निश्चित है, वह शब्द-शब्द में बदलती नहीं है। जैसे रोमन-अंग्रेजी लिपि की 'जी' कभी 'ज' पढ़ी जाती है, कभी 'ग' ऐसी अनिश्चितता नागरी में नहीं है। यह बहुत सीमा तक ठीक भी है। अन्यथा मुख से बोलने और हाथों से लिखने को 'एक-जैसा' कैसे बताया जा सकता है। हमारे उच्चारण सूक्ष्म भेद के साथ अनंत होते हैं। उन्हें नितांत शुद्धता से अंकित करना केवल रासायनिक अंकन द्वारा ही सम्भव है (शायद उसमें भी सूक्ष्म अन्तर रह जाए), किसी लेख-लिपि द्वारा सम्भव नहीं। फिर भी नागरी में प्रत्येक संकेत की अभिव्यक्ति निश्चित होने से संसार की निश्चितता-सम्पन्न लिपियों में

नागरी का स्थान बहुत ऊँचा है। शुद्धता से प्रयोग किया जाए तो अरबी और सिंधी भी भारतीय वर्ग की लिपियों के स्तर तक ही 'निश्चित' लिपियाँ हैं।

नागरी में 'ऋ', 'ष', क्ष, ज्ञ, अन्तिम अकार, कहीं-कहीं य, व और श की अभिव्यक्ति में (स्थान-भेद से) अन्तर दिखाई देता है। 'ऋ' और 'ष' तो अब 'मृत' ध्वनियाँ हैं, शेष में स्थान-भेद ही है, अनिश्चितता नहीं। निश्चित स्थान के लिए वह निश्चित ही है।

निष्कर्षतः नागरी में अपेक्षित निश्चितता है और किसी सुधार-आंदोलन को चलाते समय यह प्रयत्न होना चाहिए कि नागरी का यह गुण बना रहे।

१४:५:५ : नियतता : प्रत्येक संकेत को अपने वर्ग के नियमों के अनुसार कार्य करना चाहिए। रोमन जैसी सरल लिपियों में अधिक नियम नहीं होते, अतः नियम-भंग होने के अवसर भी कम होते हैं। नागरी की जटिल संयोजन प्रणाली को देखते हुए उसमें पर्याप्त नियतता है, फिर भी कई स्थानों पर नियतता की कमी बहुत खटकती है। स्वरों का उदाहरण लिया जाए। संयोजन का नियम बनाया गया कि प्रत्येक स्वर के दो रूप होंगे मूल रूप और विकृत रूप (संयुज्य रूप, मात्रा रूप) तब 'अ' का 'मात्रा रूप' क्यों नहीं बनाया गया ? जब लेखन का क्रम बाएँ से दाएँ को निर्धारित किया गया है, तब सभी मात्राएँ दाहिने को क्यों नहीं संयोजित होतीं ? व्यंजन भी अनेक प्रकार से अनियत हो जाते हैं। 'प क द' तीनों व्यंजनों से 'प क द्' तीन भिन्न प्रकार से अ-रहित रूप बनते हैं। 'र' का 'प्र' और 'दर्प' में नए रूप धारण करना अन्य व्यंजनों से भिन्न है। 'गुप्त' की तरह 'प्रभु' और 'श्री' क्यों नहीं लिखा जाता ? 'पद्य' की तरह 'पर्व' (पर्व) क्यों नहीं लिखा जाता ?

निष्कर्षतः नागरी की जटिल नियमावली को देखते हुए भले ही कहा जाए कि उसमें पर्याप्त नियतता है किन्तु उसमें नियतता अनेक प्रकार से भंग होती है।

१४:५:६ : क्रमानुसारिता : क्रमानुसारिता का परीक्षण लिपि की लेखन-दिशा के अनुसार किया जाता है। जिस क्रम में ध्वनि के आधार-अवयवों का उच्चारण किया जाता हो, लिपि की लेखन-दिशा में संकेतों का भी वही क्रम होना चाहिए। नागरी के संकेत ध्वनिग्राम आधार-अवयवों की निश्चित अभिव्यक्ति के लिए निश्चित हैं और नागरी की लेखन दिशा बाएँ से दाहिने को है। अतः नागरी को तभी क्रमानुसारिणी लिपि कहा जा सकता है, यदि उच्चारण क्रम में प्रत्येक ध्वनिग्राम का संकेत पूर्व संकेत के दाहिने संयोजित या असंयोजित रूप में लिखा जाए।

परीक्षण

परीक्षणार्थ नीचे कुछ शब्दों के नागरी-रूप और उनकी वर्तनी उच्चारण-क्रम से दी जा रही है –

क्रम	शब्द	वर्तनी	विकल्पित वर्तनी
१.	पिता	— प् इ त् आ	(प इ त आ)

२.	सर्विस	— स् अ र् व् इ स् अ	(स अ र् व इ स अ)
३.	श्री	— श् र् ई	(श र् ई)
४.	त्रिक	— त् र् इ क् अ	(त र् इ क अ)
५.	फूल	— फ् ऊ ल् अ	(फ ऊ ल अ)
६.	वर्षों	— व् अ र् ष् ओं	(व अ र् ष ओ ँ)

इन उदाहरणों में वर्तनी के संकेतों में क्रमानुसारिता है। विकल्पित वर्तनी में भी ध्वनि-संकेत क्रमानुसार हैं। इसके विपरीत नागरी के पूरे शब्दों में कई संकेत अपने स्थान के अनुकूल नहीं प्रयुक्त हुए। 'पिता' का 'इ', 'प' के दाहिने आना चाहिए। सर्विस का 'र्' और 'इ' क्रमानुसार नहीं है। नागरी की लेखन दिशा बाएँ से दाहिने को है। अतः ऊपर-नीचे संयोजन क्रमानुसार नहीं माना जा सकता। 'श्री' का 'र', 'त्रिक' का 'इ' और 'र', 'फूल' का 'ऊ' और 'वर्षों' का 'र' अपने क्रम में नहीं हैं।

निष्कर्षतः नागरी में क्रमानुसारिता में बहुत कमी है। यह कमी तभी दूर हो सकती है, जब प्रत्येक व्यंजन-संकेत स्वर-रहित अभिव्यक्ति दे, सभी स्वरों का मूल रूप और मात्रा-रूप एक ही हो और सभी स्वर व्यंजन के दाहिने जुड़ते जाएँ। न किसी व्यंजन का रूप बदले, न किसी स्वर का रूप बदले।

१४:५:७ : **स्पष्टता** : अति-सरलता एवं अति-जटिलता दोनों ही स्पष्टता में बाधक होती हैं। अति फैलाव से भी पठन में बाधा आती है और अति गठन से भी। रेखाओं की संख्या, स्थान एवं आनुपातिक स्थिति मिलकर किसी संकेत या लिपि को स्पष्ट अथवा अस्पष्ट बनाते हैं। नागरी के 'ह' और 'छ' में रेखाएँ अधिक होने के कारण; 'वर्षों' के ऊपरी तल में 'ए' की मात्रा, रेफ और अनुनासिकत्व-संकेत (जिसके बदले प्रायः अनुस्वार लिख दिया जाता है) के स्थान विशेष के कारण और उड़िया के अधिकांश संकेतों में आकृति के अंशों के अनुचित अनुपात[१४] के कारण अस्पष्टता होती है।

ध्वन्यात्मक मूल्य की निश्चितता के आधार पर यूरोपीय वर्ग में संकेतों के अभाव के कारण अस्पष्टता है और अरबी वर्ग की लिपियों में संकेतों के अप्रयोग के कारण अस्पष्टता है। इस आधार पर भारतीय वर्ग की सभी लिपियाँ बहुत स्पष्ट हैं। नागरी में भारतीय वर्ग की लिपियों की ध्वन्यात्मक निश्चितता पर आधारित स्पष्टता अधिकतम मात्रा में विद्यमान है।

दूसरी ओर नागरी में विशेष प्रकार की अस्पष्टता है। नागरी के संकेतों में इतनी अधिक रेखाओं का प्रयोग होता है कि बारह प्वाइंट से छोटे छपने पर उनमें स्याही भर जाती है। यही कारण है कि रोमन लिपि की अपेक्षा नागरी की छपाई मोटी होती है।

नागरी के संकेतों में अनुपात की विषमता भी है। एक ओर तो ऊपर-नीचे की मात्राओं के कारण पंक्तियों के मध्य रिक्त स्थान बहुत छूट जाता है, दूसरी ओर मध्य तल में 'छ', 'ह', 'इ' जैसे मूल संकेत तथा अनेक व्यंजन-गुच्छ-संकेत इतने अधिक

गठित तथा बहुरेखीय होते हैं कि उन्हें बारीक छापना कठिन हो जाता है। ऊपरी और निचले तल में रेखाओं का वैरल्य और मध्य तल में बाहुल्य आनुपातिक विषमता उत्पन्न करता है।

संयोजन की जटिल प्रणाली, उसके नियमों की अपूर्णता, संयोजन द्वारा निर्मित अक्षरों की आकृतियों में संयोजित आधार-संकेतों की मूल आकृतियों का कुछ अंश न रहना इत्यादि सैद्धांतिक जटिलता, विषमता एवं अपूर्णता भी नागरी में अस्पष्टता उत्पन्न करते हैं।

नागरी क्रमशः स्पष्टता की ओर बढ़ रही है। संयोजित व्यंजन-गुच्छों के बदले प्रथम व्यंजन का हलंत-रूप या संक्षिप्त रूप लिखकर 'विद्‍या' और 'प्रसन्‍न'-जैसे शब्दों का प्रचलन हो चला है। 'पैर में र' और 'रेफ' से लिखे जाने वाले शब्दों को भी देर-सवेर अवश्य अस्वीकार किया जाएगा और' प्रभु' को 'परभु' एवं 'धर्म' को 'धर्‌म' लिखा जाने लगेगा। टाइपराइटर की कृपा से 'रुपया' अब 'रुपया' हो गया है और 'रूप' के स्थान पर 'रूप' लिखा-पढ़ा जाने लगा है। ऐसा महसूस होता है कि 'रु' और 'रू' के पैर उखड़ चुके हैं। कुल मिलाकर नागरी सैद्धांतिक अस्पष्टता से छुटकारा पाने का प्रयास कर रही है। अभी नागरी को स्पष्टता बढ़ाने के लिए कई प्रयास करने होंगे। चित्र १४:३ में दिखाए संकेत १ में 'छ' का पुराना रूप और संकेत २ में 'छ' का नया रूप है। दोनों की तुलना से स्पष्ट है कि संकेत २ का छ आनुपातिक संतुलन एवं अल्परेखीयता के कारण अधिक स्पष्ट हो गया है। संकेत ३ में 'इ' और संकेत ४ में 'ह' के नए रूप कल्पित किए गए हैं। यदि इन्हें अपना लिया जाए, तो वे नागरी के अन्य संकेतों में खप सकते हैं (प्रायः शीघ्रता से लिखते समय लिपिक ऐसा लिखते ही हैं, बल्कि वे ऊपर शिरोरेखा भी नहीं लगाते) और ये परम्परा के अनुकूल भी हैं। (दे० चित्र १२:१ के संकेत ६ में पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी का 'इ' और चित्र १०:१७ में ११वीं शताब्दी का 'ह' तथा चित्र ५:३५ में जगय्यपेट का तीसरी शताब्दी का 'ह')।

चित्र १४:३

नागरी के अ, प, त, स, न जैसे संकेत आकृति की दृष्टि से पर्याप्त स्पष्ट हैं, किंतु गुजराती-संकेत इनकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि गुजराती-संकेतों पर शिरोरेखा नहीं है। नागरी की शिरोरेखा जहाँ सुन्दरता-जैसा गौण गुण बढ़ाती है, वहाँ स्पष्टता-जैसे अनिवार्य गुण में कमी भी लाती है। अतः नागरी में शिरोरेखा न लगाने से उसमें स्पष्टता बढ़ सकती है।

१४:५:८ : एक-गतिकता : अंग्रेजी में 'स्मॉल' अक्षरों में 'एस' (ace) और 'आयल' (oil) लिखा जाए, तो स्पष्ट देखा जा सकता है कि 'ace' के सभी संकेत दो

समानांतर रेखाओं के मध्य सिमटे होने से केवल एक-तलीय लेखन प्रस्तुत करते हैं, जबकि 'oil' में कुछ अंश ऊपरी तल में लिखा गया है। 'ply' लिखते समय तीन-तलीय लेखन हुआ है।

अक्षरशः एक-गति तो तभी सम्भव है, जब संकेत एक सरल रेखा के रूप में एक ही दिशा में बढ़ते जाएँ। नीचे पूर्ण-एक-गतिक लेखन के उदाहरण प्रस्तुत हैं—

१— ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···
२—··· — ··· -- ··· ··· — -
३—··· ··· ··· — ··· --- ···

स्पष्ट है कि इस अक्षरशः एक-गतिकता का निर्वाह केवल 'मोर्स' में ही सम्भव है। वह लेख-लिपि नहीं बन सकता। अति-सरलता के कारण वह अस्पष्टता की उस सीमा तक पहुँच जाता है कि लोक-व्यवहार के लिए 'अयोग्य' सिद्ध हो जाता है। लेख-लिपि के लिए संकेतों की आकृतियाँ इतनी स्थूल होनी चाहिएँ कि साधारण व्यक्ति न्यूनतम परिश्रम से उन्हें सीख-पहचान सके।

इतनी स्थूलता के साथ एक-गतिकता तभी सम्भव है, जब सभी संकेत एक ही तल में लिखे जाएँ। 'कमल' लिखने में हाथ को ऊपर-नीचे ले जाना उस स्थूलता के लिए आवश्यक है, किंतु वह निश्चित ऊँचाई से ऊपर या नीचे नहीं जाता। इस दृष्टि से सरल-ब्राह्मी का एक-तलीय लेखन आदर्श कहा जा सकता है।

नागरी में तीन-तलीय लेखन होता है, अतः एक-गतिकता भंग होती है। इसी लिए वह यन्त्र-योग्यता में पिछड़ी हुई है। नागरी की एक-गतिकता तभी सम्भव है, जब कोई संकेत या संकेतांश ऊपर या नीचे संयोजित न हो, सभी संकेत क्रम से दो समानांतर रेखाओं में दाहिने को जुड़ते जाएँ। (अनुच्छेद १४:५:३ में दिया गया परीक्षण, 'एकरूपता' के परीक्षण में भी सहायक है। कोई कार्ड ऊपर या नीचे लगाने की इच्छा होना, नागरी की एक-गतिकता की कमी का द्योतक होगा।)

१४:५:६ : यन्त्र-योग्यता : अब लिपि केवल हाथों से लिखने के लिए नहीं होती। उसे यन्त्रों द्वारा छापा भी जाता है। जो लिपि टाइपराइटर, प्रेस, टैलिप्रिंटर, कम्प्यूटर इत्यादि पर सफलता से प्रयुक्त न हो सके अथवा संक्षेप में कहें तो—जो लिपि यन्त्र-योग्य न हो वह आज के यन्त्र-युग में सम्मानित नहीं रह सकती। नागरी में रोमन लिपि की अपेक्षा कई अच्छे गुण होने पर भी उसमें यन्त्र-योग्यता की कमी इतनी अधिक है कि उसके अच्छे गुणों की कई बार उपेक्षा हो जाती है। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं—

(१) नागरी रोमन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक लिपि है। ऊपर जिन आठ निकषों के आधार पर परीक्षण किया गया है, वे किसी लिपि के लिए अनिवार्य गुण कहे जा सकते हैं। नागरी में उन गुणों में कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं, किंतु इसी प्रकार रोमन-लिपि का परीक्षण किया जाए, तो उसमें नागरी से अधिक दोष मिलेंगे। सम्पूर्ण

विचार से निर्णय किया जाए, तो नागरी अपने दोषों के होते हुए भी रोमन की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक लिपि सिद्ध होती है।

(२) उपयोगिता में यन्त्र-योग्यता का महत्त्व इस ऐतिहासिक सत्य से ज्ञात होता है कि तुर्की ने अपनी भाषा के लिए प्राचीन लिपि को छोड़कर रोमन लिपि को अपना लिया। वैज्ञानिकता के निकषों पर तुर्की की प्राचीन लिपि रोमन लिपि से अच्छी ठहरती थी, फिर भी तुर्की ने रोमन लिपि को अपनी भाषा की लिपि इसलिए घोषित किया, क्योंकि उसमें यन्त्र-योग्यता अधिक थी।

(३) काका साहब कालेलकर के विचार[१५] उन्ही के शब्दों में इस प्रकार हैं—

"बिन सुधरी हुई नागरी लिपि की मन्दता और कठिनाई देखकर ही नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, श्री किशोरलाल मश्रूवाला, पण्डित जवाहरलालजी आदि अनेक देश-भक्त भी हिन्दी के लिए अंग्रेजी की रोमन-लिपि लेने के पक्ष में हो गये थे। बंगाल के भाषा-शास्त्री सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय भी हमारी वर्णमाला कायम रखकर पश्चिम की रोमन लिपि लेने का पक्ष करते हैं। ये सब लोग देश के और देश की भाषाओं के शत्रु नहीं हैं। किन्तु देश की संस्कृति और देश की जनता के सेवक और हित-चिन्तक हैं। नागरी की कठिनाई और रोमन-लिपि की सहूलियत की बातें जब ये लोग करते हैं, तब उनका कथन हमें आदर से सुनना चाहिये।"

उक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि **यन्त्र-योग्यता आज के युग में लिपि का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण गुण है। किसी लिपि को जीवित रहने के लिए अनिवार्यतः यन्त्र-योग्यता अर्जित करनी होगी।**

नागरी की यन्त्र-योग्यता की परीक्षा पत्तों या दण्डच्छेदन द्वारा की जा सकती है। ऊपर अनुच्छेद १४:५:३ में इस प्रकार का परीक्षण प्रस्तुत किया जा चुका है। उससे स्पष्ट है कि जटिल संयोजन प्रणाली के कारण नागरी संकेत अपने मूल-रूप तक सीमित नहीं रहते वरन् मात्राएँ, विकारोत्पादक तथा दूसरे मूल-संकेत एक-दूसरे में तीनों तलों में एवं चारों दिशाओं में इस प्रकार संग्रथित होते हैं कि कई बार नियमों के अनुकूल संयोजन सम्भव ही नहीं होता।

नागरी में यन्त्र-योग्यता लाने के लिए अभिनिवेश तोड़ने, क्रमशः एक-एक सुधार को लागू करने की आवश्यकता है। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सुधार न तो लिपि के वैज्ञानिकता के गुण को नष्ट करे, न परिवर्धित देवनागरी की तरह और अधिक जटिल संयोजन प्रस्तुत करे। प्रत्येक नया संकेत केवल मध्य तल तक सीमित

(वह पुरुष वर्षों से मंत्र जप रहा है।)

129/16: 'आरजा' द्वारा कल्पित संशोधित नागरी का रूप

चित्र १४:४

हो और पूर्व-संकेत के दाहिने जोड़ा जाए, इसी प्रकार पूर्व-प्रचलित संकेतों में से ऊपरी और निचले तल के संकेतों को मध्य तल में लाने का प्रयत्न होना चाहिए। उदाहरणार्थ 'वह पुरुष वर्षों से मन्त्र जप रहा है।' को यदि इस प्रकार लिखा जाए, जैसे चित्र १४:४ की ऊपर की पंक्ति में दिखाया गया है तो उसमें यन्त्र-योग्यता में अपार वृद्धि हो जाएगी। सभी मात्राएँ अपने क्षेत्र तक सीमित होने के कारण दण्डच्छेदन से पृथक् अक्षर सिद्ध होती हैं। प्रत्येक स्वर के मात्र दो रूप रह जाते हैं — मूल-रूप और मात्रा-रूप। प्रत्येक व्यंजन के केवल दो रूप रह जाते हैं—मूल-रूप और अ-रहित रूप। अनुस्वार, अनुनासिकत्व और विसर्ग भी पृथक् अक्षर बन जाते हैं। इस प्रकार समान भारतीय लिपि के लिए केवल निम्नलिखित मुद्र अपेक्षित रह जाते हैं—

मूल स्वर	...	...	२४
मात्राएँ	...	...	२१
मध्यक	...	...	३
व्यंजन मूल-रूप	...	...	५३
हलंत या संक्षिप्त व्यंजन	...	...	५३
		कुल योग	१५४

(अंक, विरामादि संकेत ध्वन्यात्मक-संकेतों से बाहर हैं, अतः उन पर इस प्रबन्ध में विचार नहीं किया जा रहा। वैसे यन्त्र-योग्यता में उनका विशेष प्रभाव नहीं है।)

इस स्थिति को और भी अच्छा बनाना चाहें तो नागरी में आधारभूत परिवर्तन करना होगा। वह यह कि क, ख, छ इत्यादि व्यंजनों को 'अ-रहित' माना जाए और उनमें 'अ' की मात्रा (आवश्यकता होने पर) लगाई जा सके। तब 'अ' की नई मात्रा की कल्पना करनी होगी। ऐसा एक प्रस्ताव इस लेखक द्वारा बहुत पहले रखा गया था[१६], जिसमें सुधार के प्रथम चरण के रूप में केवल निम्नलिखित तीन संकेत अपनाने का प्रस्ताव था—

(१) अनुनासिकत्व के लिए दाहिने बिंदु (सरल ब्राह्मी की तरह)

(२) अनुस्वार के लिए दाहिने गुणा का संकेत

(३) सब व्यंजनों के मूल-रूप को स्वर-रहित मानते हुए 'अ' के मूल-रूप और मात्रा-रूप के लिए एक ही नया संकेत—उलटकर छापा हुआ 'कैपिटल वी' (रोमन लिपि से लिया हुआ) (Λ)

यदि उक्त तीनों के साथ पृथक् अक्षर के रूप में दाहिने बैठ सकने योग्य स्वर मात्राओं की कल्पना की जाए तो व्यंजनों का केवल एक-एक रूप ही शेष रह जाता है। उस स्थिति में नागरी को निम्नलिखित मुद्रों की आवश्यकता होगी —

स्वर	: मूल रूप	···	२४	
स्वर	: मात्रा रूप	···	२१	(ऌ, ॡ की मात्रा नहीं है और 'अ' का मूल रूप ही मात्रा रूप भी है)
मध्यक		···	३	
व्यंजन		···	५३	
	कुल योग		१०१	

यदि यह स्थिति उत्पन्न की जा सके तो नागरी अपने अन्य श्रेष्ठ गुणों के साथ-साथ यंत्र-योग्यता भी अर्जित कर लेगी और वह वैज्ञानिकता के साथ-साथ व्यावहारिक उपयोगिता में भी अच्छे स्तर की लिपि होगी।

१४:५:१० : **गठन** : यह गौण गुण होते हुए भी स्पष्टता एवं सुसाध्यता पर प्रभाव डालता है। गठन का अर्थ है संकेतों में बिखराव न हो। नागरी में यह गुण आवश्यकता से अधिक है। केवल ऊपरी तल और निचले तल में संकेतों का फैलना कुछ बिखराव कहा जा सकता है। वह भी संतुलित ही है। मध्य तल में रेखाओं का अतिशय बाहुल्य है। वहाँ रेखाएँ कम करने की आवश्यकता है।

१४:५:११ : **अल्प-रेखीयता** : रेखाओं का अतिशय अल्प या न्यून होना भी अस्पष्टता ला सकता है, अत: स्पष्टता के योग्य लम्बाई और संख्या में रेखाएँ आवश्यक हैं; किंतु वे इतनी लम्बी न हों कि 'गठन' भंग हो, इतनी अधिक न हों कि जटिलता एवं अस्पष्टता उत्पन्न करें। ऊपर स्पष्टता पर विचार करते समय हम यह देख चुके हैं कि नागरी में रेखाएँ कम की जा सकती हैं।

१४:५:१२ : **शीघ्र लेख्यता** : यह गौण गुण लिपि के आकर्षण का कारण बन सकता है। इसे अर्जित करने के लिए वैज्ञानिकता नष्ट करना उचित नहीं है। नागरी उर्दू की अपेक्षा कम शीघ्र-लेख्य है तो चीनी की अपेक्षा अधिक शीघ्र लेख्य भी है। नागरी की शिरोरेखा शीघ्र-लेख्यता में बाधक है। केवल शिरोरेखा हटा देने से नागरी में लेखन की गति दुगुनी हो जाती है। इसीलिए अधिकांश लिपिक नागरी को शीघ्र लिखते समय उस पर शिरोरेखा नहीं लगाते।

१४:५:१३ : **अल्प व्ययीयता** : नागरी के मुद्रण आदि पर अंग्रेजी की अपेक्षा बहुत अधिक व्यय आता है। इसका मुख्य कारण नागरी की यंत्र-योग्यता की कमी है। यदि नागरी में यंत्र-योग्यता रोमन के स्तर की हो सके तो वह नि:सन्देह अल्पव्ययी हो जाएगी।

१४:५:१४ : **सुसाध्यता** : जहाँ तक पठन-पाठन की सामाजिक सुविधाओं का सम्बन्ध है, शासकीय और सामाजिक संस्थाओं ने नागरी को सुसाध्य बनाने में कोई कसर उठा नहीं रखी। न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी नागरी के पठन-पाठन की पर्याप्त व्यवस्था है।

फिर भी नागरी रोमन की भांति सुसाध्य नहीं कही जा सकती। लिपि की यंत्र-योग्यता, उसकी संकेत-सूची में संकेतों की संख्या और उनकी प्रयोग विधि की जटिलता या सरलता, लिपि के ऐसे आंतरिक गुण हैं जो उसे सुसाध्य या दुःसाध्य बनाते हैं। पिछले कुछ वर्षों से इस लेखक ने उर्दू, नागरी और रोमन लिपियाँ सिखाने के कई प्रयोग किए, जिनके परिणामस्वरूप यह देखा गया कि नागरी में उर्दू की अपेक्षा अधिक सुसाध्यता है किन्तु रोमन की अपेक्षा नागरी दुःसाध्य है। नागरी की इस दुःसाध्यता का कारण उसकी जटिल संयोजन प्रणाली है। ऊपर बार-बार संकेतित पत्तों या दंड-च्छेदन के परीक्षण द्वारा सिद्ध की जा सकने योग्य एकरूपता के बिना रोमन-जैसी सुसाध्यता अर्जित नहीं की जा सकती। यन्त्र-योग्यता के अतिरिक्त क्रमानुसारिता और स्पष्टता के प्रसंग में दिए गए सुझाव भी नागरी को सुसाध्य बनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

१४:५१:५ : **सुन्दरता** : जहाँ तक सुन्दरता का कलात्मक पक्ष है, वह नितांत वैयक्तिक रुचि का विषय है। उपयोगिता के आधार पर सिद्ध होने वाली सुन्दरता में स्पष्टता, सुसाध्यता, अल्प-रेखीयता इत्यादि गुण सहायक हो सकते हैं। सुन्दरता का एक मापदण्ड यह भी हो सकता है कि केवल एक-तलीय लेखन अपनाया जाए। सौंदर्य का नितांत स्थिर मापदण्ड नहीं दिया जा सकता, वह उपयोगी हो और अरुचिकर न हो, इतना-भर ही माना जा सकता है।

नागरी में अपने प्रकार का सौंदर्य है। उसे रेखांकित किया जाए तो उसका समानांतर रेखाओं में लिखे जाना उसके सौंदर्य का बहुत बड़ा आधार है, अतः यदि ऊपरी तल और निचले तल के संकेत भी मध्य तल में आ जाएँ तो नागरी के सौंदर्य में वृद्धि होगी।

१४:६ : **नागरी की स्थिति** : ऊपर किए गए लैपिविज्ञानिक परीक्षण के आधार पर नागरी की स्थिति को संक्षेप में निम्नलिखित रूप से रखा जा सकता है—

अनिवार्य गुण

१. **सम्पूर्णता**—भ्रामक है, सुधार अपेक्षित है।

२. **अनिपविस्तृतता**—सैद्धांतिक स्तर पर अपविस्तार है, सुधार अपेक्षित है।

३. **एकरूपता** संयोजन प्रणाली के कारण अनेकरूपता है, सुधार अपेक्षित है।

४. **निश्चितता** नागरी का यह गुण सराहनीय एवं संरक्षणीय है।

५. **नियतता** – नागरी प्रायः नियत होते हुए भी जटिल नियमावली के कारण कई स्थानों पर अनियत है, अतः सुधार अपेक्षित है।

६. **क्रमानुसारिता** ऊपर-नीचे के संयोजन एवं मात्राओं की विभिन्न दिशाओं के कारण क्रमानुसारिता भंग हो रही है, अतः सुधार अपेक्षित है।

७. **स्पष्टता**—संयोजन के कारण अस्पष्टता है, कुछ संकेतों की आकृतियाँ भी जटिल हैं, सुधार अपेक्षित है।

८. **एक-गतिकता**—तीन तले लेखन के कारण कमी है, सुधार अपेक्षित है।

९. **यंत्रयोग्यता**—बहुत कमी है। विशेष सुधार अपेक्षित है।

गौण गुण

गठन पर्याप्त है। शिरोरेखा तथा कुछ संकेतों की आकृतियाँ सरल बनाकर **अल्प-रेखीयता** लाई जा सकती है। शिरोरेखा हटाकर नागरी में **शीघ्र-लेख्यता** लाई जा सकती है। यन्त्र-योग्यता लाकर उसमें **अल्पव्ययीयता** लाई जा सकती है। जटिल संयोजन-प्रणाली को सरल बनाने से नागरी की **सुसाध्यता** बढ़ेगी। एकतला लेखन अपनाने से **सुन्दरता** बढ़ेगी। अतः गौण गुणों के लिए भी सुधार अपेक्षित है।

१४:७ : **प्रबन्ध की उपलब्धियाँ** : इस प्रबन्ध में हमने जो कुछ सन्धान किया, उसे मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सन्धान-विधि
(२) नागरी लिपि का इतिहास
(३) नागरी का मूल्यांकन

तीनों भागों की उपलब्धियाँ संक्षेप से नीचे दी जा रही हैं।

१४:७:१ : **संधान-विधि** : लिपि विज्ञान विकासमान विषय है। अतः इस विज्ञान की किसी शाखा में कार्य करने के लिए चिंतन की वैज्ञानिक पद्धति निर्धारित कर लेना आवश्यक था। प्रस्तुत प्रबन्ध ने लिपि-विज्ञान के नितांत नए पक्षों का सूक्ष्म अध्ययन करके कई ऐसे आधार-भूत नियम स्थिर किए एवं उनके सन्दर्भ के लिए ऐसे पारिभाषिक शब्द निश्चित किए हैं, जिनके कारण इस प्रबन्ध का सन्धान-कार्य तो वैज्ञानिक पद्धति से चल ही सका, भावी शोधकर्ताओं के लिए सुविधाजनक स्थिति भी उत्पन्न हो गई।

अब तक लिपि-विज्ञान के चिंतन में भाषा-विज्ञान का इतना अधिक अनावश्क प्रभाव रहता था कि 'लिपि' और 'भाषा' की इकाइयों को पृथक्-पृथक् विश्लेषित कर पाना कठिन था। भाषित के अनेक नियम तथा शब्द, अंकित पर लागू करने से लिपि-विज्ञान के चिंतन में अस्पष्टता आ जाती थी। इस प्रबन्ध में 'भाषित' और 'अंकित' की दो पृथक्-पृथक् इकाइयों को यथासम्भव पृथक् रखकर ही अंकित पर सन्धान किया गया है। भाषित का सन्दर्भ अंकित के स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक होने पर ही दिया गया है।

निष्कर्षतः यह प्रबन्ध लिपिविज्ञान के लिए ऐसी आधार-भूत सामग्री प्रस्तुत कर पाया है, जिससे इस विज्ञान के क्षेत्र में अनुसन्धान करने की ठोस भूमि तैयार हो गई है।

१४:७:२ : **नागरी का इतिहास** : अब तक नागरी का इतिहास नागरी की 'वर्णमाला' के संकेतों की आकृति के विकास तक ही सीमित रहा है। यहाँ तक कि 'इन्डियन पेलियोग्राफ़ी' (भारतीय पुरालिपि शास्त्र) के लेखकों ने भी केवल आकृति-

विकास को ही अपना लक्ष्य रखा है। इस प्रबन्ध में पहली बार सिंधु-लिपि से नागरी तक न केवल आकृति-विकास अपितु सैद्धान्तिक विकास भी दिखाया गया है।

अब तक के पुरा-लिपि-शास्त्र ब्राह्मी-लिपि से प्रारम्भ होते थे—ईसापूर्व ५०० से। यह प्रबन्ध इतिहास की छानबीन ३५०० ईसापूर्व से प्रारम्भ करता है। इस प्रकार इस प्रबन्ध में पहले से लिखे इतिहासों से ३००० वर्ष पूर्व का इतिहास भी सम्मिलित है।

पुरा-लिपि-शास्त्रज्ञों ने अपनी शोध-सीमा सन् १००० के आस-पास मानी है। उसके पश्चात् के काल पर बहुत कम लिखा गया है। सम्भवतः हिन्दी-भाषा में ही नहीं, किसी भाषा में यह पहला प्रबन्ध है, जो ईसापूर्व ३५०० से प्रारम्भ करके ईस्वी सन् के दो सहस्राब्द बाद तक का—अर्थात् लगभग ५५०० वर्षों का किसी लिपि का इतिहास आकृति और सिद्धान्त दोनों के आधार पर प्रस्तुत करता है।

यों यह प्रबन्ध नागरी का इतिहास प्रस्तुत करने के लक्ष्य से लिखा गया है, किन्तु इसकी बहुत सी सामग्री विश्व के लिपि-विज्ञान के लिए, प्रारम्भिक चार सहस्राब्दों का इतिहास पूरे भारतीय पुरा-लिपि शास्त्र के लिए और सन् १००० ई० तक का इतिहास उत्तर भारत की अन्य अनेक लिपियों के विकास को जानने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा।

निष्कर्षतः यह प्रबन्ध अपने कलेवर, विषय के विस्तार एवं सूक्ष्म विवेचन के कारण लिपि-विज्ञान में अभूतपूर्व चिन्तन प्रस्तुत कर रहा है।

१४:७:३ : नागरी का मूल्यांकन : नागरी लिपि के वर्तमान स्वरूप का मूल्यांकन करने के लिए लैपि-विज्ञानिक मूल्यांकन की विशेष पद्धति प्रस्तुत की गई है, जो ठोस निकषों के आधार पर नागरी का वैज्ञानिक मूल्यांकन प्रस्तुत कर सकती है। इस पद्धति में निर्णय लेने की यादृच्छिकता नहीं है, अतः जो निर्णय प्राप्त होते हैं, वे निष्पक्ष एवं वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं।

यह पद्धति न केवल नागरी के लिए वरन् किसी भी लिपि के लैपि-विज्ञानिक मूल्यांकन का आधार हो सकती है, अतः इस प्रबन्ध में प्रस्तुत किया गया नागरी का मूल्यांकन अन्य लिपियों के मूल्यांकन के लिए आदर्श प्रस्तुत कर सकता है।

नागरी के इस मूल्यांकन में वे उपयोगी संकेत सम्मिलित हैं, जो सुधार की वैज्ञानिक एवं लाभप्रद पद्धति अपनाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

१४:८ : भावी नागरी : लिपि-विज्ञान का स्वरूप स्पष्ट करते हुए, अनुच्छेद १:९ में यह स्पष्ट किया गया था कि जहाँ भाषा-विज्ञान का क्षेत्र भूत और वर्तमान कालों तक है, वहाँ लिपि-विज्ञान का क्षेत्र भविष्य तक है। अतः नागरी लिपि के भावी रूप की कल्पना भी लिपि-विज्ञान के क्षेत्र में सम्मिलित है, किंतु इस प्रबन्ध की सीमा में वह विषय सम्मिलित नहीं है। फिर भी नागरी के लैपि-विज्ञानिक मूल्यांकन के समय यत्र-तत्र ऐसे उपयोगी संकेत आ गए हैं, जिनके आधार पर भावी नागरी की कल्पना की जा सकती है, कम से-कम सुधार की योजनाएँ बनाई जा सकती हैं। इस मूल्यांकन

के निकषों के आधार पर बनाई गई योजनाएँ नागरी को और अधिक वैज्ञानिक एवं उपयोगी बनाने में ही सहायक होंगी।

आज जो नागरी हमें उपलब्ध है, वह पिछले ५५०० वर्षों से भी अधिक काल के अनेक चिंतकों के चिंतन एवं लिपिकों के संपरीक्षण इत्यादि का फल है। हम उसे निःसन्देह और अच्छी स्थिति में ही पहुँचाएँगे।

---

१. भा० प्रा० लि०, पृ० ७०
२. वही
३. ऐं० भं० रि० इं०; जि० १९; लेख—ए डिटेल्ड एक्सपोजीशन आफ दी नागरी, गुजराती एण्ड मोडी
४. दे० लि० (व०), पृ० २५८
५. वही, पृ० २५८
६. वही, पृ० २५९
७. भा० स० लि० अध्याय ४, ५, ६ में 'भारतीय संदर्भ में आवश्यक भाषा-ध्वनियाँ' शीर्षक से पृ० २९ से १०३ तक विस्तृत विवेचन उपलब्ध है।
प० दे० की विविध सूचियाँ उक्त अध्ययन का समर्थन करती हैं। यद्यपि प० दे० में तर्क नहीं दिए गए, किन्तु मूर्धन्य भाषाविदों के निर्णय अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं।
८. दे० लि०, पृ० १५
९. प० दे०; तालिका उर्दू-देवनागरी, पृ० २१
१०. ऊपर अनुच्छेद १४:२ में सोदाहरण व्याख्या की जा चुकी है।
११. लिपि में 'अक्षर' वह नहीं होता जिसे भाषाविज्ञान में 'आघात' के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाता है। विस्तृत विवेचन के लिए देखिए इस प्रबन्ध का अनुच्छेद २:५:३
१२. लेखक का प्राचीन लेखकीय नाम 'अचल' राजपुतर कई वर्षों तक इसी वर्तनी से छपता रहा। सन् १९६३ में प्रकाशित लेखक का गीत-संग्रह 'हँसते रोते आँसू' और १९६४-६६ में कानपुर से प्रकाशित मासिक पत्रिका 'युगप्रेरणा' में इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। जून, १९७३ में प्रकाशित अधुना-८ विशेष रूप से नागरी के सशोधन के संपरीक्षणात्मक प्रयोग पर आधारित अंक था जिसमें विशेष रूप से 'कर्म' को 'कर्‌म', 'व्रत' को 'वरत', 'अंश' को 'ा ⨯ श' और 'आँख' को 'ाँख' के रूप में लिखने की आधार माना गया और सोलह पृष्ठ की पत्रिका में परिचर्चा, कविताएँ, समीक्षा इत्यादि सामग्री इसी रूप में छापी गई। विशेष व्याख्या के लिए द्रष्टव्य—बी-२-बी-३४, जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५८ से प्रकाशित अधुना-८, जून, १९७३
१३. प्रमाणस्वरूप इसी लेखक की सन् १९७१ में प्रकाशित पुस्तक 'भारतीय समान लिपि अरा' के विस्तृत उदाहरण देखे जा सकते हैं।
१४. उड़िया के अधिकांश संकेतों का मूल्य निर्धारक अंश प्रायः निरर्थक छल के अनुपात में बहुत छोटा होता है।
१५. रा० का०, पृ० २८८
१६. युगप्रभात (१६-८-१९७३) में प्रकाशित 'नागरी लिपि की समस्याएँ' (पृष्ठ २३-२४) नामक रिपोर्ट।

परिशिष्ट : एक

सहायक-ग्रंथ-सूची

१ : पुस्तकें

अक्षर तत्व (गौरीशंकर भट्ट); सं० १९८३ वि०; कानपुर

अक्षर विज्ञान (रघुनन्दन शर्मा); शक सं० १८३५; बम्बई

अक्षरों का आरंभ और भाषाविज्ञान (आगा हैदर हुसैन); १९५७; दिल्ली

अक्षरों की उत्पत्ति (आर० एन० साहा); १९२५; बनारस

अलबरूनीज़ इंडिया; (अंग्रेजी अनुवादक—ई० सी० सचौ); १९१०; लंदन

अष्टाध्यायी (पाणिनि); संवत् २०२०; गोरखपुर

इंट्रोडक्शन टु दी डिसिफ़रमेंट आफ दी ऐन्शयेंट पिक्टोग्राफ़िक स्क्रिप्ट्स आफ़ इंडिया

अर्थात्

दी रिग्वैदिक कल्चर आफ दी प्रि-हिस्टारिक इंडस; जिल्द — ३, भाग — १; (स्वामी शंकरानंद); १९६७; कलकत्ता

इंट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ़ दी चाइनीज कैरैक्टर; (ऐडकिन्स); १८७६; लंदन

इंडियन पेलियोग्राफ़ी; अंग्रेजी (अहमद हसन दानी); १९६३; आक्सफोर्ड

इंडियन पेलियोग्राफ़ी; अंग्रेजी; (जी० बूलर); संभवत: १९५९ (ग्रंथ पर प्रकाशन तिथि नहीं है); कलकत्ता और नई दिल्ली। (मूल रूप से जे० एफ़० फ्लीट द्वारा संपादित करके इंडियन ऐंटिक्वेरी, १९०४ के परिशिष्ट रूप में प्रकाशित)

इंडियन पेलियोग्राफ़ी; अंग्रेजी; (राजबली पांडे); १९५७ (द्वितीय संस्करण); बनारस

इंडियाज़ नेशनल राइटिंग (सरस्वती सदन); १९६९; दिल्ली

इंडीख स्किज़्ज़ाँ (वेबर)

उर्दू अक्षरों से हानि (गौरीदत्त शर्मा); १८७१ ई०; मेरठ

उर्दू लिपि पर विचार (महावीर सिंह गहलौत); १९४५ ई०; जोधपुर
ए गार्लैंड आफ़ लैटर्स (जान वुडराफ़); १९२२; लंदन और मद्रास
ए हिस्ट्री आफ़ दी आर्ट आफ़ राइटिंग (डब्ल्यू० ए० मैसन); १९२०; न्यूयार्क
ऐंटिक्विटीज़ आफ़ इंडिया (एल० डी० बार्नेट); १९१३; लंदन
ऐलिमेंट्स आफ़ साउथ इंडियन पेलियोग्राफी (ए० सी० बर्नेल); १८७९; बंगलौर
ऐल्फ़ाबेट एण्ड राइटिंग (ई० सी० रिचर्डसन); १९३० ई०; चिकागो
ऐस्सेज़ आन इंडियन ऐंटिक्विटीज़ (मूल लेखक जेम्स प्रिंसेप; सम्पादक—टामस); १९७१; दिल्ली
काइन्स आफ एन्श्येंट इंडिया (कन्निंघम);
कूग् द लांग् ऐ द सिविलिज़ात्यों फ्ग़ांमै; फ्रेंच; (जे० लामाइसों तथा एम० ए० हेमू); प्रकाशन वर्ष संभवतः १९७०, (पुस्तक पर छपा नहीं है); पैरिस
गुप्ता इंस्क्रिप्शन्स; (जे० एफ० फ्लीट); १८८८; कलकत्ता
जामअ़ फ़ीरूज़ुल्लुग़ात्; उर्दू (फ़ीरूज़ुद्दीन); प्रकाशन वर्ष अज्ञात (पुस्तक पर लिखा नहीं है; सम्भवतः छठा संस्करण है जो पूर्णतः संशोधित है); दिल्ली
तमिळ् स्वयं शिक्षक (एस० महालिंगम); १९६०; मद्रास
तुलनात्मक भाषाविज्ञान (मूल लेखक - पी० डी० गुणे; अनुवादक भोलानाथ तिवारी); १९६३; दिल्ली, पटना, वाराणसी
दिस हिंदी ऐण्ड देवनागरी स्क्रिप्ट (मदनगोपाल); १९५३; दिल्ली
दी आक्सफोर्ड स्टुडेंट्स हिस्ट्री आफ इंडिया; अंग्रेजी (मूल लेखक—विन्सेंट ए० स्मिथ; पुनरीक्षक—एच० जी० रालिन्सन); १९६२; लंदन
दी आरिजिन आफ़ दी बेंगाली स्क्रिप्ट (आर० डी० बेनर्जी); १९१९; कलकत्ता
दी आरिजिन ऐंड डिवेल्पमेंट आफ बेंगाली लैंग्विज; अंग्रेजी (सुनीतिकुमार चैटर्जी); १९२६; कलकत्ता
दी आर्ट आफ़ राइटिंग; १९६५; यूनाइटिड नेशन्स का प्रकाशन
दी आर्यन आरिजिन आफ़ दी ऐल्फ़ाबेट (एल० ए० वेडेल); १९२७; लंदन
दी इन्डोसुमेरियन सील्स डिसफर्ड (एल० ए० वेडेल); १९२५; लंदन
दी ऐल्फ़ाबिट (डैविड डिरिंजर); १९४७; लंदन
दी ऐल्फ़ाबेट, ऐन ऐकाउंट आफ़ दी ओरिजिन एण्ड डिवेलपमेंट आफ़ लेटर (इस्सैक टेलर); १८८३ ई०; लंदन
दी कन्साईज़ आक्सफ़ोर्ड फ्रेंच डिक्शनरी; अंग्रेजी; (ऐबल शेवली तथा मारग्रीट शेवली); १९५८; आक्सफोर्ड
दी डिक्शनरी आफ़ इण्डियन हाइरोग्लिफ्स (शंकरानन्द); १९६३; कलकत्ता
दी प्राब्लम आफ़ ए नेशनल स्क्रिप्ट फ़ार इण्डिया; (डी० जोन्स); १९४२; लखनऊ

दी फ़ारमेशन आफ़ दी ऐल्फ़ाबेट (पेट्रिक और डब्ल्यू० एच० फ्लिंडर्स); १९१२; लंदन
दी स्क्रिप्ट आफ़ हरप्पा एण्ड मोहनजोदरो एण्ड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स; (जी० आर० हंटर); १९३४; लंदन
दी स्टोरी आफ़ दी अल्फ़ाबेट (ई० क्लाड); १९००; लंदन
देवनागरी लिपि (शिवशंकर प्रसाद शर्मा); १९७२; भागलपुर
देवनागरी लिपि का विधान-निर्माण-पत्र (गौरीशंकर भट्ट); १९३६ ई०; कानपुर
देवनागरी लिपि : स्परूप, विकास और समस्याएँ (संपादक—न० चि० जागलेकर तथा भगवानदास तिवारी); १९६२; लखनऊ
ध्वनि और ध्वनिग्रामशास्त्र (जयकुमार जलज); १९६२; इलाहाबाद
ध्वनिविज्ञान (गोलोक बिहारी धल); १९५८ ई०; आगरा
नागरी अंक और अक्षर (गौ० ही० ओझा); १९२६ ई०; इलाहाबाद
नागरी का अभिशाप (चन्द्रबली पांडेय); सं० २००२ वि०; ग्वालियर
न्यूलाइट आन दी इंडस सिविलिज़ेशन; अंग्रेजी; जिल्द—१; (क० न० शास्त्री); १९५७; दिल्ली
परिवर्धित देवनागरी (केंद्रीय हिंदी निदेशालय); १९६७; नई दिल्ली
पालि व्याकरण (धर्मरक्षित); संवत् २०२०; बनारस
पिट्मैन की शार्टहैंड अर्थात् हिंदी त्वरा लेखन; हिंदी; (आईज़ेक पिट्मैन); १९५२; लंडन
प्रतिसंस्कृत देवनागरी लिपि (श्रीनिवास); सं० २००७ वि०; काशी
ब्रजभाषा (धीरेंद्र वर्मा); १९५४; इलाहाबाद
भारत की भाषाएँ और भाषा-सम्बन्धी समस्याएँ (सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय); १९५१, इलाहाबाद
भारतीय पुरा लिपि शास्त्र (मूल लेखक –जार्ज बूलर; हिन्दी में अनुवादक-मंगल-नाथ सिंह), १९६६, दिल्ली
भारतीय प्रतीक-विद्या (जनार्दन मिश्र), १९५९ ई०, पटना
भारतीय प्राचीन लिपि माला (गौरीशंकर हीराचंद ओझा), १९७१ ई० (तृतीय संस्करण), दिल्ली
भारतीय लिपि-तत्त्व (नरेन्द्रनाथ वसु), १९२४ ई०, जयपुर
भारतीय समान-लिपि अरा (ओम्प्रकाश भाटिया 'अराज'), १९७१, दिल्ली
भाषा-चिंतन (भोलानाथ तिवारी), १९७१, इलाहाबाद
भाषा-विज्ञान (भोलानाथ तिवारी), १९७१, इलाहाबाद
भाषाविज्ञान की भूमिका (देवेन्द्रनाथ शर्मा), १९६८ पटना
मलयाळम् स्वयं शिक्षक (श्री भारती विद्यार्थी), १९६६ (२), मद्रास
मुद्रण-कला (छविनाथ पांडेय), १९५८ ई० पटना

मोहन जो दरो एण्ड दी इंडस सिविलजेशन (संपादक—जे० मार्शल), १९३१, लंदन
राष्ट्रभारती—हिन्दी का मिशन, (काका साहब कालेलकार), १९६७, अजमेर
लास्ट लैंग्विजिज़, अंग्रेजी (पी० ई० क्लीटर), १९५९, लंदन
लिंग्विस्टक सर्वे आफ़ इंडिया, अंग्रेजी, (जी० ए० ग्रियर्सन), १९६७, कलकत्ता
लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इंडिया (११ जिल्दें), (जी० ए० ग्रियर्सन), १९०४ से १९२८, कलकत्ता
लिपिकला (गौरीशंकर भट्ट), १९३६ ई०, कानपुर
लिपिकला का परिशिष्ट (गौरीशंकर भट्ट) १९३६ ई०, कानपुर
लिपि-विकास (राममूर्त्ति महरोत्रा), १९३८ ई०, आगरा
वाइसिज़ इन स्टोन (मूल लेखन – ऐर्स्ट डव्लहाफर, अंग्रेजी में अनुवाद-मोर्विन सैविल), १९६१, लंदन
संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभम् (स्व० चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा तथा पंडित तारिणीश झा), १९५७ (द्वितीय संस्करण), इलाहाबाद
सामान्य भाषाविज्ञान (बाबूराम सक्सेना), १९६५, इलाहाबाद
सिंधुलिपि रहस्योद्घाटनम् (डा० फतहसिंह), १९७०, सागर
सीलेक्टिड इन्स्क्रिप्शन्स, जिल्द-१, अंग्रजी, (डी० सी० सरकार), १९४२, कलकत्ता
सेमेटिक राइटिंग फ्राम पिक्टोग्राफ टु अल्फ़ाबेट, (जी० आर० ड्राईवर), १९४८, लंदन
स्टेंडर्ड कंजी (आरेस्ट वेक्करी), १९६०, टोकियो
हिन्दी भाषा (भोलानाथ तिवारी), १९७२, इलाहाबाद
हिन्दी भाषा और नागरी लिपि (संपादक—लक्ष्मीकांत वर्मा), १९७१, इलाहाबाद
हिन्दी भाषा और लिपि (धीरेन्द्र वर्मा), १९३८ ई० इलाहाबाद
हिन्दी वालो, सावधान (रविशंकर शुक्ल), सं० २००४ वि०, काशी
हिन्दी विश्वकोष (नगेन्द्र वसु और विश्वनाथ वसु), १९१९, कलकत्ता
हिन्दी व्याकरण (किशोरीदास वाजपेयी), संवत् २०२७, बनारस
हिन्दी शब्दानुशासन (किशोरीदास वाजपेयी), संवत् २०२३, बनारस
हिस्टोरिकल ऐंड लिटरेरी इन्स्क्रिप्शन्स (राजबली पांडे),
हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर (मैक्समूलर),

२ : पत्र-पत्रिकाएँ

अधुना (अनियत कालीन)
कल्पना (मासिक)
जाह्नवी (मासिक)
नवभारत टाइम्स (दैनिक)

नागरी प्रचारिणी पत्रिका (मासिक)
भाषा (त्रैमासिक)
मदरलैंड (दैनिक)
युग प्रभात (मासिक)
युग प्रेरणा (मासिक)
राष्ट्रवाणी (मासिक)
विशाल भारत (मासिक)
वीणा (मासिक)
सम्मेलन पत्रिका (मासिक)
सरस्वती (मासिक)
साहित्य (मासिक)
हिन्दुस्तान (दैनिक)
हिन्दुस्तान टाइम्स (दैनिक)

३ : विवरण

इंडियन ऐटिक्वेरी
इंडियन कल्चर
एशियाटिक रिसर्चिज़
ऐनल्स आफ़ दी भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट
ऐनल्स आफ़ राजस्थान (मद्रास संस्करण)
ऐपिग्राफ़िका इडिका
काशी नागरी प्रचारिणी सभा के कार्य-विवरण
कल्कटा यूनिवर्सिटी जर्नल आफ़ डिपार्टमेंट आफ लैटर्स
जर्नल आफ दी ब्राम्बे ब्रांच आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी
जर्नल आफ दी बिहार ऐन्ड ओरिस्सा रिसर्च सोसाइटी
जर्नल आफ रायल ऐशियाटिक सोसाइटी
जर्नल एशियाटिक
ट्रांजेक्शन्स आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी
न्यूमिस्मैटिक क्रानिकल
हिन्दी साहित्य सम्मेलन के कार्य विवरण

परिशिष्ट –२

पारिभाषिक संदर्भ

इस परिशिष्ट में वे सब पारिभाषिक शब्द, विशेष उल्लेखनीय पुरा-लेख एवं ऐतिहासिक महत्त्व के व्यक्तियों एवं ग्रंथों के नाम कोषीय क्रम में दिये गये हैं जिसका संदर्भ प्रबंध में है। प्रत्येक प्रयोग के सामने उन पृष्ठों की संख्या दी है, जिन पर सन्दर्भित प्रयोग उपलब्ध है।